उत्तराखण्ड मुक्त विश्वविद्यालय

स्नातक (हिंदी) तृतीय वर्ष; षष्ठ सत्र

भारतीय एवं पाश्चात्य काव्यशास्त्र

BAHL(N)-321

मानविकी विद्याशाखा

उत्तराखण्ड मुक्त विश्वविद्यालय

विशेषज्ञ समिति

प्रो. रेनू प्रकाश मानविकी विद्याशाखा, उत्तराखण्ड मुक्त विश्वविद्यालय	प्रो.शिरीष कुमार मौर्य कुमाऊँ विश्वविद्यालय नैनीताल
प्रो.प्रभा पंत हिन्दी विभाग एमबीपीजी कॉलेज, हल्द्वानी	डॉ. जगत सिंह बिष्ट हिन्दी विभाग सो. सिं. जी. विश्वविद्यालय, अल्मोडा
डॉ. शशांक शुक्ला एसोसिएट प्रोफेसर, हिन्दी विभाग उत्तराखण्ड मुक्त विश्वविद्यालय, हल्द्वानी, नैनीताल	डॉ. राजेन्द्र कैड़ा असिस्टेंट प्रोफेसर, हिन्दी विभाग उत्तराखण्ड मुक्त विश्वविद्यालय हल्द्वानी, नैनीताल
डॉ. मंगलम कुमार रस्तोगी असिस्टेंट प्रोफेसर,हिन्दी विभाग उत्तराखण्ड मुक्त विश्वविद्यालय, हल्द्वानी	डॉ. अनिल कुमार कार्की असिस्टेंट प्रोफेसर,हिन्दी विभाग उत्तराखण्ड मुक्त विश्वविद्यालय, हल्द्वानी
डॉ. पुष्पा बुढ़लाकोटी असिस्टेंट प्रोफेसर,हिन्दी विभाग उत्तराखण्ड मुक्त विश्वविद्यालय, हल्द्वानी	

पाठ्यक्रम समन्वयक, संयोजन एवं संपादन

डॉ. शशांक शुक्ला एसोसिएट प्रोफेसर, हिन्दी विभाग उत्तराखण्ड मुक्त विश्वविद्यालय हल्द्वानी, नैनीताल	डॉ. राजेन्द्र कैड़ा असिस्टेंट प्रोफेसर, हिन्दी विभाग उत्तराखण्ड मुक्त विश्वविद्यालय हल्द्वानी, नैनीताल
डॉ. मंगलम कुमार रस्तोगी असिस्टेंट प्रोफेसर, हिन्दी विभाग उत्तराखण्ड मुक्त विश्वविद्यालय हल्द्वानी, नैनीताल	डॉ. अनिल कुमार कार्की असिस्टेंट प्रोफेसर, हिन्दी विभाग उत्तराखण्ड मुक्त विश्वविद्यालय हल्द्वानी, नैनीताल
डॉ. पुष्पा बुढ़लाकोटी असिस्टेंट प्रोफेसर, हिन्दी विभाग उत्तराखण्ड मुक्त विश्वविद्यालय हल्द्वानी, नैनीताल	

कापीराइट@उत्तराखण्ड मुक्त विश्वविद्यालय

नोटः - इस पुस्तक के समस्त इकाईयों के लेखन तथा कॉपीराइट संबंधी किसी भी मामले के लिये संबंधित इकाई लेखक जिम्मेदार होगा। किसी भी विवाद का निस्तारण नैनीताल स्थित उच्च न्यायालय अथवा हल्द्वानी स्थित सत्रीय न्यायालय में किया जायेगा।

संस्करण: 2025

प्रकाशकः उत्तराखण्ड मुक्त विश्वविद्यालय, हल्द्वानी ,नैनीताल -263139

मुद्रक :

ISBN -

BAHL(N)-321-1(004490)

इकाई लेखक	इकाई संख्या
डॉ शशांक शुक्ल सह-आचार्य हिंदी एवं आधुनिक भारतीय भाषा विभाग उत्तराखंड मुक्त विश्वविद्यालय, हल्द्वानी, नैनीताल	1,2,4
डॉ विक्रम राठौर सहायक प्राध्यापक हिंदी विभाग, एम बी पी जी कॉलेज, हल्द्वानी	3
डॉ किरण टंडन डी एस बी परिसर, कुमाऊँ विश्वविद्यालय नैनीताल	5
डॉ मंगलम कुमार रस्तोगी सहायक प्राध्यापक हिंदी एवं आधुनिक भारतीय भाषा विभाग उत्तराखंड मुक्त विश्वविद्यालय, हल्द्वानी नैनीताल	6
डॉ सत्यप्रकाश शर्मा सहायक प्राध्यापक हिंदी विभाग, राजकीय स्नातकोत्तर महाविद्यालय, लोहाघाट	7
डॉ अनिल कार्की सहायक प्राध्यापक हिंदी एवं आधुनिक भारतीय भाषा विभाग उत्तराखंड मुक्त विश्वविद्यालय, हल्द्वानी नैनीताल	8,15
प्रो दिवा भट्ट आचार्य सोबन सिंह जीना विश्वविद्यालय, अल्मोड़ा	9,10
डॉ मृदुल जोशी गुरुकुल कांगड़ी, हरिद्वार	11,12,13,14

भारतीय एवं पाश्चात्य काव्यशास्त्र **पृष्ठ संख्या**

खंड 1 : भारतीय काव्यशास्त्र

इकाई 1 – हिंदी काव्यशास्त्र का परिचय 4-19
इकाई 2 – रस सम्प्रदाय 20-40
इकाई 3 – अलंकार सम्प्रदाय 41-57
इकाई 4 – ध्वनि सम्प्रदाय 58-66
इकाई 5 – रीति संप्रदाय 67-84
इकाई 6 – औचित्य संप्रदाय 85-97
इकाई 7 – वक्रोक्ति सम्प्रदाय 98-113

खंड 2 : पाश्चात्य काव्यशास्त्र

इकाई 8 – पाश्चात्य काव्यशास्त्र का परिचय 114-143
इकाई 9 – प्लेटो : परिचय एवं सिद्धांत 144-155
इकाई 10 – अरस्तु : परिचय एवं सिद्धांत 156-171
इकाई 11 – मैथ्यू आर्नल्ड : परिचय एवं सिद्धांत 172-183
इकाई 12 – आई ए रिचर्ड्स : परिचय एवं सिद्धांत 184-195
इकाई 13 – बेनेदेतो क्रोचे : परिचय एवं सिद्धांत 196-213
इकाई 14 – टी एस इलियट : परिचय एवं सिद्धांत 214-225
इकाई 15 – उत्तर-आधुनिक आलोचना 226-234

इकाई 1- भारतीय काव्यशास्त्रस्त्र की भूमिका एवं परिचय

इकाई की रूपरेखा

1.1 प्रस्तावना
1.2 उद्देश्य
1.3 हिंदी काव्यशास्त्र का परिचय
1.3.1 कविता और काव्य शास्त्र
1.3.2 हिंदी काव्यशास्त्र का परिचय
1.4 हिंदी काव्यशास्त्र का इतिहास
1.4.1 भरत मुनि से अभिनवगुप्त तक
1.4.2 कुंतक से पंडितराज जगन्नाथ तक
1.4.3 रीतिकालीन काव्यशास्त्री
1.5 आधुनिक हिंदी काव्यशास्त्र का परिचय
1.6 हिंदी काव्यशास्त्र की प्रकृति
1.7 सारांश
1.8 शब्दावली
1.09 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर
1.10 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची
1.11 सहायक उपयोगी पाठ्य सामग्री
1.12 निबंधात्मक प्रश्न

1.1 प्रस्तावना

प्रिय विद्यार्थियों! भारतीय एवं पाश्चात्य काव्यशास्त्र की यह प्रथम इकाई है| यह इकाई हिंदी काव्यशास्त्र की भूमिका एवं परिचय पर केंद्रित है| इस इकाई में हम काव्यशास्त्र के बारे में परिचयात्मक ढंग से पढ़ेंगे|

काव्यशास्त्र कविता का अनुशासन है| इसका मूल संस्कृत काव्यशास्त्र रहा है| हिंदी का काव्यशास्त्र रीतिकाल से प्रारम्भ होता है| भारतीय काव्यशास्त्र अपनी प्रकृति में पश्चिम के सौंदर्यशास्त्र से भिन्न रहा है| इस इकाई में हम इसका अध्ययन करेंगे|

भारतीय काव्यशास्त्र मूलत: आस्वाद या पाठक केंद्रित रहा है| यह कविता को संपूर्णतः में देखने का प्रयास करता है| काव्य की आत्मा, काव्य हेतु, काव्य प्रयोजन, शब्द शक्ति आदि के माध्यम से कविता के रचाव की प्रक्रिया को भारतीय काव्यशास्त्र में पकड़ने का प्रयास किया गया है|

1.2 उद्देश्य

काव्यांग विवेचन शीर्षक इस पुस्तक की यह पहली इकाई है| इस इकाई के अध्ययन के उपरांत आप—

* संस्कृत काव्यशास्त्र का परिचय प्राप्त कर सकेंगे|
* संस्कृत काव्यशास्त्र के प्रमुख काव्यशास्त्रियों से परिचित हो सकेंगे|
* संस्कृत काव्यशास्त्र के प्रमुख ग्रंथों को जान सकेंगे|
* हिंदी काव्यशास्त्र के प्रमुख ग्रन्थ और ग्रन्थकार का परिचय प्राप्त कर सकेंगे|
* हिंदी काव्यशास्त्र की प्रकृति को समझ सकेंगे|
* काव्यशास्त्र की शब्दावली से परिचित हो सकेंगे|

1.3 हिंदी काव्यशास्त्र का परिचय

1.3.1 कविता और काव्य शास्त्र

कविता और काव्यशास्त्र

कविता का ही 'तार्किक अनुशासन' काव्यशास्त्र है। भाव अपनी निष्पत्ति में बहुविध मार्गों की खोज करते हैं । यदि इन मार्गों को सूचीबद्ध न किया जाए तो पाठक के स्तर पर रसास्वादन की प्रक्रिया अनसुलझी रह जाएगी। पाठक का बौद्धिक रूप ही आलोचक होता है, ठीक उसी प्रकार जैसे कविता का शास्त्रीय रूप काव्यशास्त्र।

कविता मनुष्य की मुक्ति का शाब्दिक-भाविक रूप विधान है। मनुष्य की संरचना सभ्यता के जटिल होते जा रहे रूपों में और जटिल होती जा रही है। मनुष्य के जटिल रूप को कविता अपने सूक्ष्म विधान में पकड़ती है। कविता पारदर्शी विधा है। किन्तु इसकी रचना-प्रक्रिया अत्यंत जटिल है। इस जटिल विधान को शास्त्र ही अनुशासित करते हैं। यहीं पर कविता का शास्त्र प्रकट होता है।

कविता भावों की चित्रात्मक अभिव्यक्ति है। कविता के मूल में जीवन है। जीवन के विविध चित्र ही कविता में अनुभूति के विविध रूपों में ढल कर प्रकट होते हैं। ये अनुभूति चित्र इतने विस्तृत और गूढ़ हैं कि इन्हें केवल आस्वाद या पाठ से नहीं समझा जा सकता। तब कविता का शास्त्र हमारी मदद करता

है। कविता को तब काव्यशास्त्र के सहारे समझना पड़ता है। कविता और शास्त्र का रिश्ता तब जुड़ता है।

कविता एक बंधे-बंधाए जीवन चक्र को तोड़ती है। कविता के बिम्ब टटके होते हैं, नवीन होते हैं। यह नवीनता उसे स्थिर सौंदर्य दृष्टि से बगावत करके ही प्राप्त होती है। यदि स्थिर जीवन पर कविता प्रश्न न खड़े करे या उसे तोड़े न तो कविता की नूतनता कैसी? इसलिए कविता नये चित्र खड़ा करती है। कविता का प्रस्थान पुराने जीवन चक्रों को, बद्ध सौंदर्य दृष्टि को गतिशील करके ही हो सकता है। इसलिए हर सार्थक कविता एक मौलिक हस्तक्षेप होती है।

कविता आदिम बिम्ब होती है। सौंदर्य का सम्बन्ध आदिम बिम्बों से होता है। सौंदर्य तभी प्रकट होता है जब कोई चीज़, विचार या वस्तु हमारे सामने इस ढंग से आये कि वह पुराने दृष्यों को झूठा सिद्ध कर दे। सौंदर्य नये में भी है और सार्थक रूप में भी। सुन्दर-से-सुन्दर वस्तु या विचार यदि हमारे भीतर बद्ध धारणाओं को तोड़ कर गतिशील नहीं कर पा रहे तो वे हमारे किस काम के? कविता, प्राथमिक रूप में प्रगतिशील शिल्प है, क्योंकि यह हमारी दृष्टि को नये की ओर मोड़ती है।

काव्यशास्त्र कविता को समझने का तार्किक अनुशासन है। लेकिन यह अनुशासन केवल कविता की वर्तमान उपस्थिति पर आधारित नहीं है। काव्यशास्त्र, कविता की संभाव्य स्थितियों का अनुशासन भी है। साहित्यशास्त्र केवल लिखी जा चुकी कविता की ही छानबीन नहीं करता, अपितु भविष्य की कविता का पाठ भी है। काव्यशास्त्र कविता के अतीत, वर्तमान और भविष्य का अनुशासन और कोश है।

काव्यशास्त्र कविता के पार्श्व और प्रभाव को भी समेट लेता है। प्रश्न यह है कि यदि यह कविता के पार्श्व को भी समेट लेता है तो यह कविता का शास्त्र कैसे? दरअसल यह शास्त्र सार्वभौमिक जीवन स्थितियों को अपने केंद्र में रखता है, इसलिए यह कविता के पार्श्व को भी समेट लेता है।

काव्यशास्त्र, कविता के हेतु, प्रयोजन से लेकर मूल आत्मा या कर्म तक अपनी निष्पत्ति खोजता है। काव्यशास्त्र, सौंदर्य दृष्टि भी है। यह केवल कविता रचने का सूत्र ही नहीं बताता, अपितु सौंदर्य दृष्टि का विकास भी करता है। पश्चिम में काव्यशास्त्र को इसीलिए सौंदर्यशास्त्र कहा जाता है। सौंदर्यशास्त्र कविता की परिधि को ललित कलाओं तक विस्तार दे देती है।

कविता की रचना केवल कवि व्यापार नहीं है। कविता की रचना सामाजिक व्यवहार है। इसलिए कविता कैसी होनी चाहिए? के प्रश्न के साथ ही यह प्रश्न भी महत्वपूर्ण होता है कि कविता की सामाजिक अर्थवत्ता क्या है? काव्यशास्त्र कविता की आंतरिक संरचना के साथ ही कविता के वृत्त का भी अनुशासन है।

1.3.2 भारतीय काव्यशास्त्र का परिचय

हिंदी काव्यशास्त्र का परिचय

हिंदी काव्यशास्त्र अपनी मौलिकता, गहनता और दार्शनिक ऊंचाई में वैश्विक साहित्यशास्त्र में ऊँचा स्थान रखता है। पश्चिम का साहित्य शास्त्र जिस प्रकार अरस्तु से प्रारम्भ होता है, उसी प्रकार भारतीय काव्य शास्त्र आचार्य भरत मुनि से। दिलचस्प तथ्य यह है कि दोनों जगह का काव्य शास्त्र नाटक केंद्रित रहा है। बावजूद भारतीय काव्य शास्त्र अपनी प्रकृति में विशिष्ट रहा है।

भारतीय काव्यशास्त्र आचार्य भरत मुनि के नाट्यशास्त्र से प्रारम्भ होता है। हालांकि भरत मुनि से पूर्व ही कुछ काव्य शास्त्री हो चुके थे। आचार्य भरत मुनि द्वारा रस सिद्धांत की प्रतिष्ठा हुई। इसी के साथ ही काव्य की आत्मा क्या है? का प्रश्न उठ खड़ा हुआ। इसी क्रम में आचार्य भामह द्वारा अलंकार संप्रदाय प्रतिष्ठित हुआ। आचार्य भरत ने अलंकार को काव्य की आत्मा माना। दंडी, रुद्रट, उदभट जैसे आचार्य अलंकार संप्रदाय को मानने वाले थे। इसी क्रम में आचार्य वामन ने रीति संप्रदाय की प्रतिष्ठा की। आचार्य आनंदवर्द्धन ने ध्वनि को काव्य की आत्मा माना तो आचार्य कुंतक ने काव्य की आत्मा के रूप में वक्रोक्ति को प्रतिष्ठित किया। आचार्य क्षेमेन्द्र ने ओचित्य को काव्य की आत्मा माना। छः संप्रदाय की अवधारणा भारतीय काव्य सिद्धांत की विशिष्ट पहचान रही है। काव्य का मूल क्या है? इस प्रश्न को भारतीय काव्यशास्त्र गंभीरतापूर्वक उठाता है।

भारतीय काव्यशास्त्र कविता के हेतु को भी हमारे सामने रखता है। प्रतिभा, व्यूत्पत्ति और अभ्यास को काव्य हेतु कहा गया है। कुछ और भी काव्य हेतु हो सकते हैं। लेकिन भारतीय काव्यशास्त्र ने स्पष्ट रूप से माना कि कविता रचित होने के आवश्यक उपकरण या हेतु होते हैं। इसी प्रकार काव्य प्रयोजन का प्रश्न है। काव्य लिखने के निश्चित रूप से कोई न कोई उद्देश्य होने चाहिए। निरुद्देश्य ढंग से मनुष्य कोई कार्य नहीं करता। काव्य प्रयोजन का सिद्धांत हमें कविता लिखने के उद्देश्य के बारे में बताता है।

भारतीय काव्यशास्त्र की एक उपलब्धि सहृदय की अवधारणा और साधरणीकारण का सिद्धांत है। कोई रचना हमें क्यों प्रीतिकर लगती है? यह हम इन सिद्धांतों से जान सकते हैं। किसी रचना का भोक्ता कौन है? यह भी हम सहृदय की अवधारणा से समझ सकते हैं। भारतीय काव्यशास्त्र पाठक केंद्रित रहा है, जबकि पश्चिमी साहित्य शास्त्र रचना प्रक्रिया पर ज्यादा बल देता है।

भारतीय काव्यशास्त्र रस और ध्वनि संप्रदाय के माध्यम से कविता को सूक्ष्म स्तर पर विवेचित करता है। ध्वनि और रस का यह भेद इतना सूक्ष्म रहा कि ध्वनि के हज़ार से ज्यादा भेद स्थापित हो गए। रस की व्याख्या अपनी अमूर्तता में आध्यात्मिक बन जाता है। किन्तु फिर भी कविता का आनंद सामान्य आनंद और आध्यात्मिक आनंद से भिन्न है। अभिनवगुप्त और पंडितराज जगन्नाथ ने विषयानन्द,

ब्रह्मानंद के साथ ही काव्यानंद की बात की। काव्य का आनंद विशिष्ट है । आनंद की यह अवधारणा भारतीय काव्यशास्त्र की विशिष्ट उपलब्धि है।

भारतीय काव्यशास्त्र का स्थायी भाव और संचारी भाव का विभाजन भी अपने आप में विशिष्ट है। हमारे व्यक्तित्व में कुछ भाव हमेशा वर्तमान होते हैं तथा कुछ क्षणिक रूप में आते हैं। क्षणिक भावों को व्यभिचारी या संचारी भाव कहते हैं। भारतीय काव्यशास्त्र की स्थापित पुस्तकों में स्थायी भाव की संख्या 9/10/11 मानी गयी है। अभिनवगुप्त ने 9 स्थायी भाव माने थे, विश्वनाथ ने वात्सल्य को जोड़कर इनकी संख्या 10 कर दी तथा रूप गोस्वामी ने भक्ति को जोड़कर इनकी संख्या 11 कर दी। एक नये अध्ययन में स्थायी भावों की संख्या 22 कर दी गयी है (देखें- एक आलोचक की डायरी)। इसी प्रकार आचार्य भरत मुनि ने 33 संचारी भाव माने थे। इधर एक नये अध्ययन में संचारी भावों की संख्या भी 175 से ज्यादा स्थिर की गयी है। (देखें - एक आलोचक की डायरी) अर्थ यह कि मनुष्य का जीवन जटिल होता जा रहा है । सभ्यता की जटिलता के बीच नये- नये भावों का आना स्वाभाविक ही है। भारतीय काव्यशास्त्र अनुभूति को जिस प्रकार विभेदित करता है, वह अपने आप में उपलब्धि है।

भारतीय काव्यशास्त्र काव्य गुण और काव्य दोष के बहाने अच्छी कविता और ख़राब कविता के बीच हमें विभेद करना भी सिखाता है। कविता को लेकर इतनी स्पष्ट दृष्टि और कहीं नहीं मिलती।

1.4 हिंदी काव्य शास्त्र का इतिहास

1.4.1 भरतमुनि से अभिनवगुप्त तक

आचार्य भरत मुनि को भारतीय काव्यशास्त्र के आदि आचार्य के रूप में प्रतिष्ठा प्राप्त है। किन्तु स्वयं भरत ने अपने पूर्व के आचार्य परंपरा का स्मरण किया है। आचार्य भरत मुनि से पूर्व ऐतरेय महीदास का नाम मिलता है। ऐतरेय ब्राह्मण की रचना के कारण महीदास को यह विशेषण प्राप्त हुआ था। ऐतरेय ब्राह्मण का रचना काल ईसा पूर्व 1000 साल है। आचार्य महीदास ने अपने कला चिंतन में शिल्प और आत्मसंस्कृति को अभिन्न बताया है। उनके अनुसार कला या शिल्प की रचना ही आत्म संस्कार है। कुछ आचार्यो ने महीदास को कला का प्रथम चिंतक माना है।

आचार्य भरत मुनि भारतीय काव्यशास्त्र के पहले नाट्य समीक्षक व कला चिंतक है। रस सूत्र के प्रणेता तो आप हैं ही, साथ ही रंगमंच, नाट्य, कला आदि के संकलनकर्ता व्यक्तित्व के रूप में भी आप समादृत हैं।

आत्रेय आदि मुनियों के पांच प्रश्न के उत्तर के प्रसंग में नाट्यशास्त्र की रचना हुई है। नाट्यशास्त्र सूत्र, संग्रह, कारिका, भाष्य और परिकर श्लोक के शिल्प में रचित है। नाट्यशास्त्र में भावों, रंगमंच के बारे में

विस्तार से वर्णित है। 8 स्थायी भाव और 33 संचारी भावों की सूची भी नाट्यशास्त्र में ही सर्वप्रथम मिलती है। भरत मुनि ने ही सर्वप्रथम 36 काव्य लक्षण पर चर्चा की। इसके साथ ही उन्होंने वृत्ति और प्रवृत्ति पर भी चर्चा की। भरत मुनि रस के आदि व्याख्याता हैं| विभाव, अनुभव और व्यभिचारी के संयोग से रस निष्पत्ति होती है| भरत मुनि के इस सूत्र की व्याख्या क्रम में ही रस संप्रदाय का पूरा भवन खड़ा हो गया| भरत मुनि ने नाट्य के सन्दर्भ में अपनी स्थापना दी किन्तु उसका महत्त्व साहित्य के लिए स्थायी है|

भामह

आचार्य भामह को अलंकार संप्रदाय का प्रतिष्ठापक आचार्य माना जाता है| भामह की रचना के रूप में काव्यालंकार ग्रन्थ प्रसिद्ध है| काव्यालंकार में भामह ने छः परिच्छेदों में तथा लगभग 400 कारिकाओं में काव्य का लक्षण, प्रयोजन, अलंकार, दोष, न्यायनिर्णय तथा शब्दशुद्धि पर विचार किया है| भामह द्वारा दी गयी काव्य की परिभाषा संस्कृत काव्यशास्त्र की प्राथमिक परिभाषा मानी जाती है| शब्दार्थो सहितौ काव्यम:| अर्थात शब्द और अर्थ का सहित भाव ही काव्य है| इस परिभाषा के माध्यम से भामह कविता क्या है? तथा काव्य की आत्मा क्या है? जैसे प्रश्न के आदि प्रस्तावक बन जाते हैं| आचार्य भामह का मुख्य प्रदेय अलंकार संप्रदाय की प्रतिष्ठा को लेकर है| आचार्य भामह पहले आचार्य हैं जिन्होंने कविता या काव्य को विवेचना के केंद्र में खड़ा किया| भामह ने लिखा है कि गुरु के उपदेश से शास्त्र का अध्ययन तो जड़मति वाले भी कर सकते हैं, पर काव्य तो किसी-किसी प्रतिभा वाले से ही जन्म लेता है|

आचार्य भरत ने चार ही अलंकार बताये थे| भामह ने भरत मुनि के 36 काव्य लक्षण को उलट कर उन्हें अलंकार बना दिया| भामह के अनुसार काव्य का सौंदर्य अलंकार से आता है| भामह ने काव्यालंकार में 38 अलंकारों की चर्चा की है| इस प्रकार आचार्य भामह अलंकार संप्रदाय की प्रतिष्ठा के आदि आचार्य के रूप में स्मरण किये जाते हैं|

दंडी

दंडी अलंकार संप्रदाय के प्रतिष्ठित आचार्य हैं| दंडी द्वारा लिखित काव्यादर्श संस्कृत काव्यशास्त्र में अपनी अलग पहचान रखता है| दंडी आचार्य भामह के समकालीन थे या थोड़े परवर्ती थे| भामह की तरह ही अलंकार को काव्य का मूल तत्व दंडी भी स्वीकार करते हैं। उन्होंने लिखा है - शरीरम् ताविष्टिर्थव्यवछिन्ना पदावली, अर्थात इष्ट अर्थ से व्यवछिन्न पदावली काव्य का शरीर है| आचार्य दंडी अलंकार को काव्य का मूल तो मानते हैं, पर अलंकार के विश्लेषण में उनका बल रीति और गुण

पर है| आचार्य दंडी के अनुसार अलंकार काव्य में सौंदर्य को प्रतिष्ठित करने वाले धर्म हैं -' काव्यशोभाकरान धर्मनंलंकारान प्रचक्षते |

आचार्य दंडी ने रीति के स्थान पर काव्य मार्ग शब्द का प्रयोग किया है| दंडी ने लिखा है - मार्ग तो अनंत हैं, पर कवि का अपना मार्ग होता है| तदभेदास्तु न शक्यन्ते वक्तुम प्रतिकवि स्थिता:| पश्चिम के शैली विज्ञान का प्रारंभिक रूप भी हमें दंडी में मिलता है| दंडी ने लिखा है हर कवि की रचना का अपना माधुर्य होता है| जिस तरह गन्ने, गुड़ और खीर में मिठास होती है पर अलग-अलग| फिर भी आचार्य दंडी स्पष्ट करते हैं कि प्रत्येक कवि की अपनी रीति हो सकती है | फिर भी दंडी ने वैदरभी और गौड़ी रीतियों को स्वीकार करते हैं|

आचार्य दंडी ने भी 38 अलंकारों को मान्यता दी है| आचार्य दंडी की अलंकार सम्बन्धी मान्यता आचार्य भामह का विस्तार हैं| दंडी ने भी पूरे प्रबंध में व्याप्त रहने वाले अलंकारों के अंतर्गत भाविक अलंकार का निरुपण किया है| इस तरह के अन्य साम्य भी देखे जा सकते हैं |

आचार्य वामन

आचार्य वामन रीति सिद्धांत के प्रतिष्ठापक आचार्य हैं| वामन का ग्रन्थ काव्यालंकारसूत्रवृत्ति एक प्रसिद्ध ग्रन्थ रहा है| यह भारतीय काव्यशास्त्र का ऐसा दुर्लभ ग्रन्थ रहा है जो अलंकारशेखर ग्रन्थ के समान ही सूत्र और वृत्ति दोनों में लिखा गया है|

आचार्य वामन रीति के प्रतिष्ठापक हैं, किन्तु उन्होंने अलंकारों को पर्याप्त महत्त्व दिया है| उन्होंने लिखा है- 'काव्य अलंकार के कारण ग्राहय होता है...सौंदर्य ही अलंकार है '| अलंकार की इतनी व्यापक परिभाषा स्वयं अलंकारवादी आचार्यों ने भी नहीं दी है| बावजूद वामन रीति को काव्य की आत्मा मानते हैं| लेकिन वे रीति को गुण पर आधारित मानते हैं| आचार्य वामन ने दस शब्द गुण और दस अर्थ गुण के आधार पर तीन काव्य रीतियों की चर्चा की| वामन के अनुसार रीतियों में काव्य इसी तरह प्रतिष्ठित है, जिस तरह रेखाओं में चित्र| रेखाओं से चित्र बंधा होता है, उसी तरह रीति में काव्य बंधा होता है| रीति, कविता के चित्र में रेखाओं का खाका है, गुण और अलंकारों से इसमें रंग और छायायें रची जाती हैं| पर इन रंगों और छायाओं को बांधती रीति ही है| यही कारण है कि रीति को बंध कहा गया| आचार्य वामन ने बंध को कविता में प्रयुक्त शब्दों की जमावट के अर्थ में लिया|

आचार्य वामन ने कहा है कि जैसे सुन्दर युवती की काया में यौवन रहता है, ऐसे ही काव्य में गुण| गुणों के अतिरिक्त वामन ने काव्यपाक की अवधारणा भी जोड़ी है| उन्होंने लिखा है - काव्य में जब प्रत्येक अंग पूरी तरह सधा हो, तो उसमें जो चमक इसमें आ जाती है, वही काव्यपाक है| काव्यपाक वास्तव में परिष्कार की पराकाष्ठा है| इसमें सर्वाधिक उचित और सर्वोत्तम शब्द सर्वोत्तम और सर्वाधिक उचित

अर्थ को व्यक्त करते हैं| आचार्य वामन ने लिखा है कि समग्र रूप में जब गुण स्फुट हो उठें तो यह समग्रता ही काव्यपाक है|

" गुणास्फुटत्वसाकल्यम् काव्यपाकं प्रचक्षते" |

आचार्य वामन की दृष्टि में कविता एक संरचना है| वामन इस संरचना को काव्य गुण व अर्थ गुण में विभक्त करते हैँ| वामन के अर्थ गुण में ध्वनि का पूर्व रूप भी है और रस को कांति नामक अर्थ गुण में समाहित करने की कोशिश भी| इस प्रकार वामन अपने रीति सिद्धांत में रीति की विशिष्ट पद रचना को हमारे सामने रखते हैँ|

आनंदवर्धन

आनंदवर्धन एक कश्मीरी आचार्य थे| इनका समय आचार्य वामन के समकालीन अर्थात 9 वीं शताब्दी में था| आनंद वर्धन ने ध्वनि सिद्धांत की स्थापना की| आनंद वर्धन द्वारा लिखित ध्वन्यालोक लोचन भारतीय काव्यशास्त्र का एक विशिष्ट ग्रंथ है| ध्वन्यालोकलोचन ध्वनि सिद्धांत की स्थापना की दृष्टि से विशिष्ट ग्रंथ है | आनंदवर्धन का ध्वनि सिद्धांत व्याकरण के स्फोटवाद से प्रेरित था| आनंदवर्धन के अनुसार कविता के शब्द और अर्थ कुछ कहने के लिए इशारे बन जाते हैँ| और इस प्रक्रिया में वह गूँज पैदा करते हैँ| आनंदवर्धन ने काव्य को प्रतीयमान कहा| कविता में केवल इशारा होता है, मूल बात तो व्यंजना से ही उदघाटित हो सकता है| इसलिए अभिधा, लक्षणा के आगे व्यंजना शब्द शक्ति के माध्यम से व्यंग्य अर्थ ही कवि का अभिप्रेत होता है| आनंदवर्धन का ध्वनि सिद्धांत भारतीय काव्य शास्त्र का एक मौलिक सिद्धांत है|

राजशेखर

राजशेखर 10 वीं शताब्दी के प्रसिद्ध आचार्य रहे हैँ| राजशेखर मध्यप्रदेश की काव्य शास्त्रीय परम्परा का प्रतिनिधित्व करते हैँ| राजशेखर का प्रसिद्ध ग्रन्थ काव्यमीमांसा है| इसके अतिरिक्त नाटककार व कवि रूप में भी आपकी ख्याति रही है|

राजशेखर संस्कृत काव्यशास्त्र के प्रथम आचार्य हैँ, जिन्होंने साहित्य और कविता के महत्व तथा उसकी सामाजिक भूमिका पर विचार किया| राजशेखर ने प्रतिभा प्रसंग में भी नयी उदभावना की| काव्य रचना प्रक्रिया के उन्होंने दो सोपान बताये - शक्ति और प्रतिभा | शक्ति से ही प्रतिभा जन्म लेती है| प्रतिभा स्वयं दो प्रकार की होती है - कारयित्री प्रतिभा व भावयित्री प्रतिभा| कवि की प्रतिभा को राजशेखर ने कारयित्री प्रतिभा तथा भावक की प्रतिभा को भावयित्री प्रतिभा कहा है| यह विवेचन काव्यशास्त्र की परम्परा में नया है तथा स्वयं राजशेखर की आलोचना दृष्टि का परिचायक है|

अभिनवगुप्त

अभिनवगुप्त भारतीय काव्यशास्त्र के शिखर काव्यशास्त्री के रूप में समादृत हैं| अभिनवगुप्त ध्वनिवादी आचार्य हैं| इस ढंग से अभिनवगुप्त स्वयं किसी साहित्यिक सिद्धात के प्रणेता नहीं हैं, किन्तु बावजूद उनकी प्रतिष्ठा किसी साहित्य सिद्धांत प्रणेता से कम नहीं है| अभिनवगुप्त शैव दर्शन को मानने वाले थे तथा कश्मीर की काव्य शास्त्र की परम्परा के उज्ज्वल नक्षत्र हैं|

अभिनवगुप्त ने 45 ग्रन्थ लिखे हैं| इन ग्रंथों को मुख्यतः तीन भागों में बाँटा गया है| काव्य शास्त्र एवं कला चिंतन से सम्बद्ध ग्रन्थ, शैव दर्शन तथा तंत्र से सम्बंधित ग्रन्थ तथा स्त्रोत ग्रन्थ| अभिनव के काव्यशास्त्रीय ग्रंथों में ध्वन्यालोक लोचन (ध्वन्यालोक लोचन की टीका) तथा अभिनव भारती (भरत मुनि के नाट्यशास्त्र की टीका)| ये दोनों ग्रन्थ टीकायें हैं किन्तु मौलिक चिंतन की दृष्टि से इनकी महत्ता है|

अभिनवगुप्त की महत्ता यह है कि उन्होंने भरत मुनि से अपने समय तक के कला, सौंदर्य और काव्य के आस्वाद को आत्मसात कर अपने शैव दर्शन की परिधि में निरुपित कर सौंदर्यशास्त्र की उच्च भूमि प्रतिष्ठित की, जो अब तक साहित्यशास्त्रियों का पाथेय बनी हुई है| रस निष्पत्ति की प्रक्रिया में अभिनव ने अभिव्यक्तिवाद का सिद्धांत प्रतिपादित किया तो ध्वनि को रस से युक्त करते हुए रसादिध्वनि को दर्शानिक ऊंचाई प्रदान की|

अभ्यास प्रश्न / 1

सही/गलत में उत्तर दीजिये।

1. नाट्यशास्त्र के रचयिता आचार्य भामह हैं।
2. काव्यालंकार ग्रन्थ आचार्य दंडी का है।
3. अभिनवगुप्त ध्वनिवादी आचार्य हैं।
4. रस सूत्र के रचयिता भरत मुनि हैं।
5. रीति सिद्धांत के प्रतिस्ठापक आचार्य वामन हैं।

1.4.2 कुंतक से पंडितराज जगन्नाथ तक

कुंतक

आचार्य कुंतक 10 वीं शताब्दी में हुए कश्मीरी आचार्य हैं| आचार्य कुंतक का वक्रोक्ति जीवितम अपने ढंग का महत्वपूर्ण ग्रन्थ है| आचार्य कुंतक ने वक्रोक्ति को काव्य की आत्मा माना| कुंतक वक्रोक्ति को कविता का मूल मानते हैं| आचार्य भामह ने सर्वप्रथम वक्रोक्ति शब्द का विवेचन किया था तथा वक्रोक्ति को अलंकारों का मूल अलंकार माना था| आचार्य भामह से संकेत लेकर कुंतक ने कविता का मूल वक्रोक्ति को माना तथा अपना नया सिद्धात खड़ा किया|

वक्रोक्ति के लिए कुंतक भंगी भणिति शब्द का प्रयोग करते हैं| विदग्धता कवि व्यापार है, इससे कविता में भंगिमा आती है| लेकिन कविता की संरचना को समझने के लिए उसे एक संघटना में देखना अनिवार्य है| इसे कुंतक निरस्तावयव समुदाय कहते हैं|

आचार्य कुंतक ने वक्रोक्ति में ध्वनि, रस, अलंकार आदि सभी को समाहित कर लिया है| उन्होंने वक्रोक्ति के भेद करते हुए उसे - वर्णविन्यासवक्रता, पद पूर्वाद्ध वक्रता, प्रत्ययवैचित्रय वक्रता, वाक्य वैचित्रय वक्रता, प्रकरणवक्रता तथा प्रबंध वक्रता में विभाजित किया| इस प्रकार आचार्य कुंतक ने वक्रोक्ति सिद्धांत के माध्यम से कविता को नयी भंगिमा प्रदान की|

भोज

आचार्य भोज 11वीं शताब्दी के पूर्वाद्ध में हुए थे| आचार्य भोज धारा, मध्य प्रदेश के यशस्वी राजा थे, किन्तु काव्यशास्त्र में आपका कृत्रित्व स्थायी महत्त्व रखता है | सरस्वती कंठाभरण और श्रृंगारप्रकाश आपकी प्रसिद्ध काव्यशास्त्रीय पुस्तकें हैं| इसके अतिरिक्त व्याकरण, आयुर्वेद, शैव दर्शन, वास्तु विद्या आदि विषयों पर भी अनेक रचनाएं प्राप्त होती हैं|

आचार्य भोज को रसवादी आचार्य माना जाता है| श्रृंगार को एकमात्र रस मानने की आपकी अवधारणा बहुचर्चित रही है| लेकिन रस के अतिरिक्त भी आचार्य भोज का चिंतन बहुविध है| अलंकारों के विवेचन में भोज आचार्य दंडी का आश्रय लेते हैं किन्तु उन्होंने दंडी के अलंकार विवेचन का विस्तार करते हैं| आचार्य भोज गुण और अलंकार विवेचन में नयी उदभावनायें भी करते हैं| भोज ने गुण के तीन विभाजन किये - बाह्य, आभायंतर और वैशेषिक| बाह्य गुण शब्दाश्रित होते हैं, आभयांतर गुण अर्थाश्रित होते हैं तथा वैशेषिक गुण दोषों के गुणों में परिवर्तित होने से बनते हैं| इन तीन कोटियों में 24-24 गुणों को भोज ने व्यवस्थापित किया है| यह वामन के गुण विचार का विस्तार है| भोज का विशिष्ट योगदान दोषों के गुण में रूपांतरित होने की प्रक्रिया विवेचन में निहित है| इसी प्रकार देश्य और ग्राम्य दोष की गुण में परिणति में भोज ने अपनी लोकदृष्टि का परिचय दिया है|

पंडितराज जगन्नाथ

पंडितराज जगन्नाथ 16वीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में हुए संस्कृत काव्यशास्त्र की परम्परा के अंतिम बड़े आचार्य के रूप में गिने जाते हैं| हालांकि यह कहना सही न होगा कि पंडितराज अंतिम आचार्य हैं किन्तु पंडितराज की प्रतिभा ने यह लोक प्रवाद उत्पन्न किया| पंडितराज कश्मीरी आचार्यों की परम्परा से दूर आंध्र प्रदेश से थे|

रस गंगाधर आपकी कीर्ति का आधार है| यह ग्रन्थ भारतीय काव्यशास्त्र में अपना महत्वपूर्ण स्थान रखता है|

पंडितराज जगन्नाथ ने रमणीयार्थ प्रतिपादक: शब्द: काव्यम् कहकर मविता को रमणीयता के अर्थ में लिया| प्रश्न है कि रमणीयता क्या है? इसे स्पष्ट करते हुए पंडितराज ने लोकोत्तर आहलाद जनक गोचरता कहा| रमणीयता से ही सौंदर्य चमत्कार उत्पन्न होता है और यह चमत्कार आनंद उत्पन्न करता है| इस आनंद को भी पंडितराज तीन भागों में विभक्त करते हैं - ब्रह्मानन्द, विषयानन्द और काव्यानन्द| काव्य का आनंद सामान्य जीवन और ब्रह्म दोनों के आनंद से भिन्न होता है|

पंडितराज जगन्नाथ ने काव्य गुण को विस्तारित किया तथा अलंकारों में भी नया जोड़ा|

1.4.3 रीतिकालीन काव्यशास्त्री

भक्ति कविता में शास्त्र से ज्यादा लोक को प्रतिष्ठा प्राप्त हुई| यही कारण है कि भक्तिकाल में काव्यशास्त्र का स्वतंत्र या मौलिक विकास न के बराबर हुआ| किन्तु रीतिकाल में शास्त्र को पुन: स्वीकृति प्राप्त हुई| इसका परिणाम यह रहा कि रीतिकाल में बहुत से आचार्य - कवि हुए | इन आचार्य - कवियों ने भारतीय काव्यशास्त्र को सरल रूप में हमारे सामने रखा | कुछ आचार्यों ने तो नवीन उदभावनायें भी कीं | यहाँ हम कुछ रीतिकालीन काव्यशास्त्रियों का परिचय प्राप्त करेंगे|

चिंतामणि त्रिपाठी

चिंतामणि त्रिपाठी से आचार्य रामचंद्र शुक्ल ने रीतिकाल का प्रारम्भ माना है| चिंतामणि रीतिकाल के आचार्य कवि हैं | चिंतामणि त्रिपाठी के प्रमुख ग्रन्थ हैं - काव्यविवेक, कविकुल-कल्पतरु, काव्यप्रकाश, रसमंजरी, छंद विचार पिंगल और रामायण| लेकिन इनकी ख्याति का आधार कविकुलकल्पतरु और श्रृंगारमंजरी ही रहे हैं | कविकुलकल्पतरु ग्रन्थ में आठ प्रकरण है और 1133 पद्य हैं |इसलिए ग्रन्थ में काव्यभेद, काव्य लक्षण, काव्य गुण रूपक, शब्दालंकार, अर्थालंकार, दोष निरुपण, शब्दार्थ निरुपण, ध्वनि निरुपण, ध्वनि के भेद, नायक -नायिका भेद आदि पर विस्तृत ढंग से विचार किया गया है|

कुलपति

कुलपति आगरा के रहने वाले थे| इनके अनेक ग्रन्थ मिलते हैं, किन्तु इनकी ख्याति का आधार रसरहस्य रहा है| रस रहस्य की रचना कुलपति ने अपने आश्रयदाता राम सिंह की आज्ञा से की थी| रस रहस्य में 8 वृत्तान्त और 652 पद्य हैं| रस रहस्य में काव्य लक्षण, काव्य प्रयोजन, काव्य कारण, काव्य पुरुष रूपक तथा काव्य भेदों आदि की चर्चा है| इसके अतिरिक्त ध्वनि, रस, गुण, दोष आदि पर भी रस पूर्वक विचार किया गया है|

सोमनाथ

सोमनाथ की दो रचनाएं प्रसिद्ध हैं - रसपीयूषनिधि और श्रृंगारविलास | रसपीयूषनिधि में 22 तरगें तथा 1127 पद्य हैं| इस ग्रन्थ में काव्य लक्षण, काव्य प्रयोजन, काव्य प्रकरण, शब्द शक्ति, ध्वनि भेद, नायिका भेद आदि का निरुपण हुआ है|

श्रृंगार विलास में श्रृंगार रस और नायिका भेद का ही विस्तार है| कुछ लोग इसे रसपीयूषनिधि का ही अंश मानते हैं|

भिखारीदास

भिखारीदास रीतिकाल के प्रमुख आचार्य हैं| इनके 7 ग्रन्थ मिलते हैं| रस सारांश, छंदोरवपिंगल, काव्य निर्णय, श्रृंगार निर्णय, नाम प्रकाश (कोश) , विष्णु पुराण भाषा, शतरंज शतिका|

रस सारांश - रस सारांश में रस वृत्तियों और रस दोषों समेत रस के विभिन्न अंगों का परिचय मिलता है|

काव्य निर्णय - काव्य निर्णय में 25 उल्लास और 1210 पद्य हैं| ग्रन्थ में काव्य प्रयोजन, काव्य कारण, काव्य के विभिन्न अंगों का परिचय, शब्द शक्ति निरुपण, अलंकार मूल वर्णम, काव्य गुणों एवं दोष आदि का वर्णन किया गया है| काव्य शास्त्र को सरल रूप में तथा अपनी उपपत्ति प्रस्तुत करने की दृष्टि से काव्य निर्णय का महत्त्व रहा है|

श्रृंगार निर्णय - श्रृंगार निर्णय के मुख्यतः चार खंड हैं| श्रृंगार रस का आलम्बन विभाव (नायक -नायिका भेद), श्रृंगार रस का उद्दीपन विभाव (सखी -दूत वर्णन), श्रृंगार रस विषयक अन्य सामग्री तथा श्रृंगार रस के संयोग एवं वियोग भेदों पर विस्तारपूर्वक चर्चा की गयी है| यह ग्रन्थ भी चर्चित रहा है|

प्रतापसाहि

प्रतापसाहि के दो ग्रन्थ चर्चित रहे हैं| व्यंग्यार्थ कौमुदी और काव्य विलास|

व्यंग्यार्थ कौमुदी - इस ग्रन्थ के दो भाग हैं| मूल भाग और वृत्ति भाग | मूल भाग में 130 पद्य हैं| यह ग्रन्थ काव्य प्रयोजन, शब्द शक्ति पर तो प्रकाश डालता ही है, किन्तु पुस्तक नायक - नायिका भेद की दृष्टि से महत्वपूर्ण है|

काव्य -विलास - इस ग्रन्थ की रचना 1886 में हुई थी | ग्रन्थ में 6 प्रकाश हैं तथा 400 पद्य हैं| ग्रन्थ में काव्य लक्षण, काव्य प्रयोजन, काव्य भेद, शब्द शक्ति, गुण - दोष निरुपण तथा रस व ध्वनि भेदों पर चर्चा की गयी गई है|

अभ्यास प्रश्न 2

रिक्त स्थान की पूर्ति कीजिये।

1. कविकुलकल्पतरु ग्रन्थ के रचयिता .....हैं।

2. पंडितराज जगन्नाथ का प्रसिद्द ग्रन्थ .....है।
3. वक्रोक्ति संप्रदाय के प्रवर्तक .....हैं।
4. कविप्रिया .....सम्बन्धी रचना है।
5. भोज का रस सम्बन्धी प्रसिद्द ग्रन्थ .....है।
6. आचार्य केशवदास काव्य धरा के अनुसार ..... के कवि हैं।

1.5 आधुनिक हिंदी काव्यशास्त्र का परिचय

भारतीय काव्यशास्त्र की परंपरा में मौलिकता की दृष्टि से पंडितराज जगन्नाथ तक की यात्रा को ही पूर्ण मान लिया गया है, किन्तु आधुनिक युग में बहुत से काव्यशास्त्रियों ने नये ढंग से काव्य तथा उसकी सैद्धांतिकी पर विचार किया है| साहित्यिक मूल्यों में परिवर्तन होता रहता है| इस परिवर्तन के सापेक्ष कविता की सैद्धांतिकी भी बदल जाती है| काव्यशास्त्र कविता की सैद्धांतिकी, मूल्य का ही अनुशासन है|

आधुनिक हिंदी काव्यशास्त्रियों ने साहित्यिक मूल्यों में बदलाव के सापेक्ष नये ढंग से कविता पर विचार किया| हिंदी के काव्यशास्त्रियों में श्यामसुंदर दास का साहित्य|लोचन (1922 ई.), अर्जुनदास केडिया का भारती भूषण (1928) एवं 'काव्य कलानिधि', जगन्नाथ प्रसाद भानु द्वारा लिखित काव्य प्रभाकर (1909), अलंकार प्रश्नोत्तरी (1918), हिंदी काव्यशास्त्र (1918), एवं अलंकार दर्पण (1936), गुलाब राय द्वारा लिखित काव्य के रूप (1947), साहित्य समीक्षा (1947), हिंदी नाट्य विमर्श (1947)आदि प्रारंभिक प्रयास थे| इसी क्रम में आचार्य रामचंद्र शुक्ल एवं डॉ नगेंद्र ने भारतीय काव्यशास्त्र के सन्दर्भ में महत्वपूर्ण कार्य किया| आचार्य रामचंद्र शुक्ल की रस मीमांसा (प्रकाशन मृत्यु उपरांत 1949 ई में) इस दृष्टि से हिंदी काव्यशास्त्र में अपनी मौलिकता की दृष्टि से विशेष चर्चित रही है| साधरणीकरण आलम्बन का होता है, यह कहकर आचार्य शुक्ल नयी स्थापना दी| हालांकि बाद के आचार्यों ने आचार्य शुक्ल की स्थापना से असहमति व्यक्त की| इसी क्रम में डॉ नगेन्द्र का 'रस सिद्धांत' (1964) भी अपने ढंग से महत्वपूर्ण कृति है| नगेन्द्र ने रस सिद्धांत की व्यापक ढंग से व्याख्या की तथा साधारणीकरण के प्रश्न में कवि का साधारणीकरण होता है, यह मत प्रतिष्ठित किया| इसी क्रम में भोलाशंकर व्यास का ध्वनि संप्रदाय और उसके सिद्धांत, दशरूपकम, कुवल्यानंद, आचार्य राममूर्ति त्रिपाठी का भारतीय काव्यशास्त्र के नये क्षितिज, औचित्य विमर्श, रस विमर्श, साहित्यशास्त्र के प्रमुख पक्ष, काव्यालंकारसारसंग्रह एवं लघुवृत्ति, सहृदय और साधरणीकरण आदि पुस्तकें महत्वपूर्ण हैं|

हिंदी काव्यशास्त्रियों ने संस्कृत काव्यशास्त्र के मतों को ही बड़े स्तर पर स्वीकार कर लिया| किन्तु इधर कविता की रचना प्रक्रिया को सामाजिक भूमिका पर नये ढंग से देखने की पहल तेज हुई| मुक्तिबोध का 'कविता के तीन क्षण' निबंध हो या विजयदेव नारायण साही का 'लघु मानव के बहाने हिंदी कविता पर बहस' नामक निबंध कविता को समझने के आधुनिक प्रयास ही हैं| साहित्य सिद्धांत की दिशा में भी कुछ प्रयास हुए| सामवेदनिक साहचार्यता का सिद्धांत, साहित्यिक विकास का सिद्धांत, रचना अंतराल का सिद्धांत इसी प्रकार के प्रयास थे| लेकिन व्यापक स्तर पर संस्कृत का काव्यशास्त्र अभी भी आधार बना हुआ है|

1.6 हिंदी काव्यशास्त्र की प्रकृति

प्रिय विद्यार्थियों! इस इकाई में आपने भारतीय काव्यशास्त्र के इतिहास व प्रमुख काव्यशास्त्रियों का अध्ययन किया| आपने प्रमुख कृतियों का भी अध्ययन किया| अब हम संक्षेप में हिंदी काव्यशास्त्र की प्रकृति को समझने का प्रयास करेंगे|

* मूल तत्व या काव्य के आत्मा की खोज

भारतीय काव्यशास्त्र की प्रकृति कविता के मूल तक पहुँचने की रही है| इसे ही काव्य की आत्मा के रूप में देखा गया है| काव्य की आत्मा को कभी रस में खोजा गया तो कभी अलंकार में| इस क्रम में 6 संप्रदाय या साहित्य सिद्धांत हमारे सामने आते हैं | मूल की खोज का प्रश्न मूलत: दार्शनिक प्रश्न है| अत: इस प्रश्न को दार्शनिक स्तर पर भी देखा जाना चाहिए| भारतीय काव्यशास्त्र का रस निष्पत्ति सूत्र हो या ध्वनि सिद्धांत , सभी में एक दार्शनिक सूत्र छिपे हुए हैं|

* पाठकीय आस्वाद या रस निष्पत्ति पर बल

भारतीय काव्यशास्त्र का प्रधान बल रस निष्पत्ति या रस आस्वादन पर रहा है| कोई कविता पढ़ने के उपरांत हमें रस की प्राप्ति किस प्रकार होती है? तथा उससे हमें आनंद की प्राप्ति कैसे होती है? यह भारतीय काव्यशास्त्र का मूल प्रश्न है| भारतीय काव्यशास्त्र का प्रधान बल पाठकीय आस्वाद पर रहा है, इसे एक प्रधान विशेषता के रूप में देखा जा सकता है|

* साहित्य सिद्धांत की आवयविक संरचना पर बल

भारतीय काव्यशास्त्र में कविता या रचना की सम्पूर्ण संरचना पर बल है| कविता में गुण, दोष, शब्द शक्ति, अलंकार, रस आदि तत्वों पर बल है| एक कविता किन-किन तत्वों से मिलकर बनती है, भारतीय काव्यशास्त्र में इसको विस्तार से विवेचित किया गया है|

* लोकधर्मी चेतना का विस्तार

भारतीय काव्यशास्त्र में लोकधर्मी चेतना की उपस्थिति रही है| आचार्य रामचंद्र शुक्ल ने लोक मंगल पर बहुत बल दिया है| उसके पूर्व आचार्य भरत ने नाटक के सन्दर्भ में लोकधर्मी शब्द का प्रयोग किया था|

अभ्यास प्रश्न 3

100 शब्दों में टिप्पणी कीजिये

1- आचार्य वामन का रीति सिद्धांत

.....

.....

.....

.....

2- कविता और शास्त्र का सम्बन्ध

.....

.....

.....

.....

3- भारतीय काव्यशास्त्र की प्रकृति

.....

.....

.....

.....

1.7 सारांश

भारतीय काव्यशास्त्र की परम्परा अत्यंत समृद्ध रही है| आचार्य भरत मुनि से लेकर रामचंद्र शुक्ल तक ने कविता की परिभाषा व उसके मूल तत्वों पर विस्तार से प्रकाश डाला है| भरत ने 36 काव्य लक्षण माने थे| इस प्रकार अलंकार के सैकड़ों भेद स्थापित हुए| 6 नये काव्य संप्रदाय बने| इस बहाने कविता को समझने की व्यापक दृष्टि विकसित हुई | भारतीय काव्यशास्त्र इस ढंग से व्यापक समृद्ध रहा है|

1.8 शब्दावली

- आस्वाद- काव्य ग्रहण करने की प्रक्रिया
- बिम्ब- कविता रचाव का चित्रात्मक विधान
- आदिम- प्राथमिक या प्राचीन
- कोश- शब्दों की व्युत्पत्ति व पर्याय बताने का अनुशासन
- सार्वभौमिक- देश-काल की सीमाओं से परे का शाश्वत सत्य
- सौन्दर्यशास्त्र- साहित्य व ललित कलाओं का शास्त्रीय अनुशासन
- काव्यानन्द- काव्य पाठ व ग्रहण से उत्पन्न सहृदय का आनंद
- सहृदय- काव्य ग्रहण करने का प्रतिभाशाली पाठक
- स्थायी भाव- मनुष्य के हृदय में हमेशा वर्तमान रहने वाले भाव
- संचारी भाव- मनुष्य के हृदय में क्षणिक रूप से उठने वाले मनोविकार

1.09 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर

1) 1- गलत 2- गलत 3- सही 4-सही 5- सही

2) 1- चिंतामणि त्रिपाठी 2- रस गंगाधर 3-आचार्य कुंतक 4- अलंकर सम्बन्धी 5- श्रृंगार प्रकाश 6- रीतिकाल

1.10 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

1. भारतीय काव्यशास्त्र – भगीरथ मिश्र
2. भारतीय काव्यशास्त्र का इतिहास- बलदेव उपाध्याय

1.11 सहायक उपयोगी पाठ्य सामग्री

1. भारतीय काव्यशास्त्र की आचार्य परम्परा- डॉ राधावल्लभ त्रिपाठी

1.12 निबंधात्मक प्रश्न

1. कविता और शास्त्र के अंतर्संबंध को रेखांकित कीजिये|
2. भारतीय काव्यशास्त्र के प्रमुख आचार्यों के बारे में विस्तार से बताएं|

इकाई 2 : रस संप्रदाय

इकाई की रुपरेखा

2.1 प्रस्तावना
2.2 उद्देश्य
2.3 रस संप्रदाय - परिचय एवं इतिवृत्त
2.4 रस संप्रदाय - रस निष्पत्ति का प्रश्न
2.5 रस संप्रदाय: साधरणीकरण का प्रश्न
2.6 रस बिधन और कृत्रिम सत्य: कुछ नए प्रश्न
2.7 सारांश
2.8 शब्दावली
2.9 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर
2.10 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची
2.11 सहायक / उपयोगी पाठय सामग्री
2.12 निबंधात्मक प्रश्न

2.1 प्रस्तावना

कविता और साहित्यिक रचना पढ़ते समय हमें जो आंनद मिलता है, उसे भारतीय काव्यशास्त्र में रस कहा गया है। प्रश्न है कि यह आनंद किस प्रकार का होता है? क्या यह आंनद भौतिक आंनद जैसा ही होता है? या कुछ भिन्न होता है? रस की प्रक्रिया तक पहुंचने के तत्व क्या हैं? रस तक केवल पाठक पहुँचता है या लेखक भी पहुँचता है? यह सब प्रश्न रस के सन्दर्भ में उठते रहते हैं। इस इकाई में हम रस को बेहतर ढंग से समझने का प्रयास करेंगे।

2.2 उद्देश्य

काव्यांग विवेचन नामक पाठ्य पुस्तक की यह दूसरी इकाई है। इस इकाई के अध्ययन के उपरांत आप-

· रस के अर्थ को जान सकेंगे।

· रस के तत्व का ज्ञान प्राप्त कर सकेंगे।

· रस के स्वरुप को समझ सकेंगे।

· रस संप्रदाय के इतिवृत्त को जान सकेंगे।

· कविता में रस की भूमिका को समझ सकेंगे।

2.3 रस का अर्थ एवं स्वरुप

'रस' शब्द का सबसे पहला प्रयोग 'तैतीरीय उपनिषद' में मिलता है। यहाँ रस को ब्रह्म के पर्याय रूप में देखा गया और "रसो वै स:" अर्थात रस वही है...यानी ब्रह्म ही है। स्पष्ट है कि वेदों और उपनिषद में रस की व्याख्या कविता या नाटक के सन्दर्भ में न करके ईश्वर या ब्रह्म के रूप में की गयी। नाट्य या कविता के सन्दर्भ में रस का पहला प्रयोग आचार्य भरत मुनि ने किया। भरत मुनि ने प्रश्न किया -"रस इति क: पदार्थ:? " फिर इस प्रश्न का उत्तर तलाशते हुए भरत मुनि ने रस को 'आस्वादयत्वात' कहा है। अर्थ यह कि रस आस्वादन की प्रक्रिया है। आचार्य भरत इस आस्वादन की प्रक्रिया को पाक रस तथा औषधि रस के उदाहरण से पुष्ट करते हैं। भरत मुनि ने नाट्यशास्त्र में लिखा है:

यथा हि नानाव्यञ्जनौषधिद्रव्यसंयोगाद्रसनिष्पत्तिर्भवति, यथा हि गुडादिभिर्द्रव्यंव्यंजन- रोषधिभिश्च षाडवादयो रसा निर्वर्तन्ते, तथा नानाभावोपगता अपि स्थायिनो भावा रसत्व- माप्नुवन्तीति।

रस इति कः पदार्थः। उच्यते। आस्वाद्यत्वात्। कथमास्वाद्यते रसः। यवा हि नानाव्यञ्जनसंस्कृतमन्नं भुञ्जाना रसानास्वादयन्ति सुमनसः पुरुषा हर्षादींश्चाधिगच्छन्ति तथा नानाभावाभिनयव्यञ्जितान् वागङ्गसत्त्वोपेतान् स्थायिभावानास्वादयन्ति सुमनसः प्रेक्षकाः हर्षादींश्चाधिगच्छन्ति तस्मान्नाट्यरसा इत्यभिव्याख्याताः। (नाट्यशास्त्र, काव्यमाला, पृ० ६३) - जिस प्रकार नाना प्रकार के व्यंजनों, ओषधियों तथा द्रव्यों के संयोग से [भोज्य] रस की निष्पत्ति होती है, जिस प्रकार गुडादि द्रव्यों, व्यंजनों और ओषधियों से 'पाडवादि' रस बनते हैं, उसी प्रकार विविध भावों से संयुक्त होकर स्थायी भाव भी [नाट्य] 'रस' रूप को प्राप्त होते हैं। यहाँ प्रश्न उठता है रस कौन-सा पदार्थ है अथवा रस को रस क्यों कहा जाता है ? इसका उत्तर है - आस्वाद्य होने से, अर्थात् जो आस्वाद्य हो वह रस है। जिस प्रकार नानाविध व्यंजनों से संस्कृत अन्न का उपभोग करते हुए प्रसन्नचित्त पुरुप रसों का आस्वादन करते हैं और हर्षादि का अनुभव करते हैं इसी प्रकार नाटक आदि देखने से या कविता पढ़ने से स्थायी भाव के साथ विभाव, अनुभाव एवं संचारी का संयोग होने से प्रेक्षक रस को प्राप्त करता है। यहाँ रस को समझने के लिए रस के तत्वों को समझना आवश्यक है।

रस की परिभाषा

रस के सम्पूर्ण विवेचन का आधार है, भरत का यह प्रसिद्ध सूत्र :

विभावानुभावव्यभिचारिसंयोगाद्रसनिष्पत्तिः। (नाट्यशास्त्र)

अर्थात विभाव, अनुभाव और व्यभिचारी के संयोग से रस की निष्पत्ति होती है।

रस की इस परिभाषा में कुछ पारिभाषिक शब्द आये हैं, उन्हें समझना आवश्यक है। भाव, विभाव, अनुभाव और व्यभिचारी के संयोग से ही रस निष्पत्ति होती है। यहाँ इन पारिभाषिक शब्दों का अर्थ समझना रस की समझ की दृष्टि से आवश्यक है।

भाव - भाव शब्द का शाब्दिक अर्थ होने की स्थिति से जुड़ा हुआ है। किन्तु भाव, संवेगों का समुचच्य है। भाव दो प्रकार के माने गए हैं - स्थायी भाव व संचारी या व्यभिचारी भाव। स्थायी भाव सहृदय के हृदय में हमेशा वर्तमान रहते हैं और परिस्थिति व आवश्यकतानुसार प्रकट हो जाते हैं। ये संख्या में 10 और 11 कहे गए हैं। भरत मुनि ने 8 स्थायी भाव माने थे। शांत रस को 9 वें स्थायी भाव के रूप में अभिनवगुप्त ने मान्यता दी। विश्वनाथ ने वात्सल्य को तथा रूप गोस्वामी ने भक्ति को स्थायी भाव के रूप में मान्यता दी। समय के अनुसार नये स्थायी भाव भी जोड़े गए हैं।

विभाव

विभाव का अर्थ है भाव के कारण। अर्थ यह कि जो भाव के उत्पन्न होने का कारण बनते हैं, वे विभाव कहे जाते हैं। विभाव के दो प्रकार माने गए हैं - 1.आलम्बन 2. उद्दीपन।

1.आलम्बन- का अर्थ है जिनका आश्रय लेकर भाव उत्पन्न होते हैं। आलम्बन भी दो प्रकार का होता है -आश्रय और आलम्बन। जिसके मन में भाव उत्पन्न हो, उसे आश्रय कहेंगे तथा जिस पर भाव टिके उसे हम आलम्बन कहेंगे। जैसे दुष्यंत का शकुंतला के प्रति प्रेम का उदित होना। इसमें दुष्यंत को हम आश्रय कहेंगे और शकुंतला को आलम्बन कहेंगे। लेकिन यदि यही क्रम उलट जाए और शकुंतला के मन में दुष्यंत के प्रति प्रेम उदित हो तो शकुंतला आश्रय और दुष्यंत आलम्बन होंगे। सरल अर्थो में समझें तो यह कि आश्रय का अर्थ है, जिसमें भाव स्थित हों... और आलम्बन का अर्थ है, जिस पर भाव टिकें।

2. उद्दीपन - भाव को उद्दीप्त करने वाले कारक तत्वों को उद्दीपन कहते हैं। जैसे प्रेम के सन्दर्भ में देखें तो एकांत स्थल, नायक -नायिका का एक -दूसरे के प्रति आकर्षण, एक -दूसरे की चेष्टाएँ आदि उद्दीपन विभाव कही जाएंगी।

अनुभाव - अनु का अर्थ है पीछे से... अर्थात भाव के पीछे चलने वाली बाह्य चेष्टाओं को अनुभाव कहते हैं। अनुभाव चार प्रकार के कहे जाते हैं -

1. आंगिक अनुभाव अर्थात शरीर से जुड़ी क्रियाएँ
2. वाचिक अनुभाव अर्थात वाणी द्वारा व्यक्त व्यवहार व क्रियाएँ
3. आहार्य अनुभाव अर्थात वेशभूषा, साज -सज्जा आदि से जुड़ी हुई क्रियाएँ

4. सात्विक अनुभाव अर्थात सत्व के योग से उत्पन्न अनुभाव

व्यभिचारी - व्यभिचारी या संचारी भाव 33 कहे गए हैं। आचार्य भरत मुनि ने सर्वप्रथम नाट्यशास्त्र में 33 संचारी भावों की सूची दी है। 33 संचारी भाव हैं -

संचारी भाव : संख्या निर्धारण का प्रश्न

भरतमुनि ने नाट्यशास्त्र में 33 संचारी भावों की संख्या निर्दिष्ट की है। भरत मुनि द्वारा परिगणित 33 संचारी भाव हैं-निर्वेद, ग्लानि, शंका, असूया, मद, श्रम, आलस्य, दीनता, चिंता, मोह, स्मृति, धृति, व्रीडा, चापल्य, हर्ष, आवेग, जड़ता, गर्व, अवहित्था, उग्रता, मति, व्याधि, उन्माद, स, वितर्क, विषाद, औत्सुक्य, निद्रा, अपस्मार, स्वप्न, विवोध, अमर्ष, मरण। समय-समय पर 33 संचारी भावों की संख्या बढ़ाने के प्रयास होते रहे हैं। देव ने जब 34वें संचारी के रूप में छल को जोड़ा तब आचार्य रामचंद्र शुक्ल ने इसका खंडन करते हुए छल को अवहित्या के अंतर्गत समाहित कर दिया। इसी प्रकार के प्रयास अन्य विद्वतजनों ने भी किए हैं।

2.4 रस संप्रदाय का इतिहास

प्रिय विद्यार्थियों! आपने रस की परिभाषा का अध्ययन किया| आपने रस के तत्वों को भी जाना| अब हम रस संप्रदाय के इतिहास को संक्षेप में जानने का प्रयास करेंगे| रस संप्रदाय का विधिवत इतिहास भरत मुनि के नाट्यशास्त्र से प्रारम्भ होता है| आचार्य भरत ने ही सबसे पहले रस की परिभाषा प्रस्तुत की | भरत मुनि ने ही सबसे पहले रस निष्पत्ति के सूत्र से पाठकीय या प्रेक्षक के आस्वाद की बात की| इस प्रकार भरत मुनि रस संप्रदाय के आदि आचार्य ठहरते हैं| आचार्य भरत के पश्चात भामह, दंडी जैसे अलंकार वादी आचार्यों के कारण अलंकार संप्रदाय का बोलबाला रहा| हालांकि इस बीच भट्टलोल्लट, शंकुक, भट्टनायक जैसे आचार्यों ने रस निष्पत्ति की अवधारणा पर अपने सूत्र दिए| भट्ट लोल्लटट और शंकुक की रचनाएं तो नहीं मिलतीं किन्तु भट्टनायक का हृदयदर्पण नामक ग्रन्थ अवश्य प्राप्त होता है| इसके पश्चात अभिनव गुप्त का नाम रस संप्रदाय के इतिहास में सर्वोच्च है | सैद्धांतिक दृष्टि से अभिनव गुप्त ध्वनिवादी आचार्य हैं, किन्तु रस ध्वनि की प्रतिष्ठा करके उन्होंने कविता में रस की भूमिका एवं महत्व को स्थायी कर दिया| अभिनव के उपरांत आचार्य भोज का श्रृंगार प्रकाश रस का महत्वपूर्ण ग्रन्थ है| आचार्य विश्वनाथ ध्वनिवादी होते हुए भी रस के स्वरुप पर प्रगाढ़ चिंतन करते हैं | रस युक्त वाक्य ही काव्य है, यह विश्वनाथ की ही परिभाषा है |

रीतिकाल में अलंकार संप्रदाय की प्रतिष्ठा रही है| हालांकि मतिराम का रस राज, केशव की रस प्रिया आदि रचनाएं रस की एकांतिक प्रतिष्ठा करती हैं, किन्तु संख्या की दृष्टि से रस संप्रदाय का इतिवृत्त यहाँ

न्यून रहा है | आधुनिक काल में आचार्य रामचंद्र शुक्ल ने रस मीमांसा नामक ग्रन्थ में तथा डॉ नगेन्द्र ने रस सिद्धांत नामक ग्रन्थ के माध्यम से रस सिद्धांत को दार्शनिक ऊंचाई प्रदान की है|

2.5 रस के भेद

स्थायी भाव का सबसे बड़ा कार्य यह है कि ये रस तक ले जाने में हमारी मदद करते हैं। जैसे रति से श्रृंगार रस बनता है। रति या प्रेम का मनोभाव मनुष्य मात्र के हृदय में वर्तमान रहता है, किन्तु विशेष परिस्थितियों में या काव्य में आकर वह श्रृंगार रस में रूपांतरित हो जाता है। इस प्रकार स्थायी भाव और रस में भेद है। यहाँ स्थायी भाव के प्रकारों को देखना उचित होगा।

रति
हास
शोक
क्रोध
उल्लास
भय
जुगुप्सा /घृणा
विस्मय
निर्वेद

परम्परानुसार ये 9 स्थायी भाव ही माने गए हैं। किन्तु इसके अतिरिक्त भी कुछ स्थायी भाव माने गए हैं, जिन्हें देखना उचित होगा।

वात्सल्य - विश्वनाथ द्वारा
भक्ति -रूप गोस्वामी द्वारा
सख्य/मैत्री -रुद्रट
उदात्त -भोज
प्रकृति भाव -रामचंद्र शुक्ल
जातीय चेतना -गुलाब राय
सृजन वृत्ति - मैकडूगल
आत्मवृत्ति - शशांक शुक्ल
सामूहिकता -मैकडूगल

तर्क वृत्ति -शशांक शुक्ल

गत्यात्मक चेतना -शशांक शुक्ल

मानवतावाद - शशांक शुक्ल

अंतराल मन -शशांक शुक्ल

रस के स्वरुप पर आचार्य विश्वनाथ ने विचार किया। विश्वनाथ द्वारा निर्धारित रस का स्वरुप पर्याप्त लोकप्रिय हुआ है। यहाँ हम विश्वनाथ के रस स्वरुप को देखते हैं -

सत्त्वोद्रेकादखण्डस्वप्रकाशानन्दचिन्मयः

वेद्यान्तरस्पर्शशून्यो ब्रह्मास्वादसहोदरः । 1

लोकोत्तरचमत्कारप्राणः कैश्चित्प्रमातृभिः ।

स्वाकारवदभिन्नत्वेनायमास्वाद्यते रसः ।।।

साहित्यदर्पण ३.२.३

चित्त में सतोगुण के उद्रेक की स्थिति में विशिष्ट संस्कारवान् सहृदय जन अखण्ड स्वप्रकाशानन्द, चिन्मय, अन्य सभी प्रकार के ज्ञान से विनिर्मुक्त, ब्रह्मास्वाद-सहोदर, लोकोत्तरमचत्कारप्राण रस का निज स्वरूप से अभिन्नतः आस्वादन करते हैं।

आचार्य विश्वनाथ के अनुसार-

१. रस आस्वादन का विषय है- किन्तु निज स्वरूप से अभिन्न रीति से, अर्थात् रस आस्वाद से अभिन्न है। रस आस्वाद-रूप है।

२. उसका आविर्भाव सतोगुण के उद्रेक की स्थिति में होता है।

३. वह अखण्ड है।

४. अन्य ज्ञान से रहित है।

५. स्वप्रकाशानन्द है।

६. चिन्मय है।

७. लोकोत्तरचमत्कारमय है। और

८. ब्रह्मास्वादसहोदर अर्थात् ब्रह्मास्वाद के अत्यधिक समान है।

उपर्युक्त उद्धरण की अधिकांश शब्दावली शास्त्रीय एवं पारिभाषिक है।

2.4 रस निष्पत्ति की सामाजिक उपपत्ति

भारतीय काव्यशास्त्र का "रस निष्पत्ति सिद्धांत" /सूत्र अपनी मौलिकता में वैश्विक साहित्यशास्त्र में महत्वपूर्ण स्थान रखता है। इस सूत्र के प्रतिष्ठापक आचार्य भरत मुनि हैं। विभाव, अनुभाव और संचारी के संयोग से रस निष्पत्ति होती है। यह भरत मुनि का मत है। इस प्रक्रिया को लेकर और इसके भोक्ता को लेकर आचार्यों में परस्पर असहमति है। आचार्य भरत स्वयं इस बात को विस्तारित नहीं करते। रस का भोक्ता कौन है? अर्थात रस निष्पत्ति किसे होती है? इस बात पर आचार्य भरत विस्तार नहीं करते। हाँ वे सुमनस, प्रेक्षक और सामाजिक जैसे शब्दों का प्रयोग अवश्य करते हैं। भरत रस आस्वादान की सामूहिक प्रक्रिया को स्वीकार करते हैं। सहृदय के लिए भरत 'सामाजिक' शब्द का प्रयोग करते हैं। नाटक एक सामूहिक आस्वादान की प्रक्रिया है, तब भरत सहृदय को सामाजिक कहें तो समझ में आता है। प्रश्न है कि कविता आस्वादान की प्रक्रिया क्या व्यक्तिगत तौर पर सहृदय करता है? भट्टनायक, आनंदवर्धन और अभिनवगुप्त ने रस की स्थिति सहृदय में मानी। जब रस सहृदय में है तब रस निष्पत्ति का अधिकारी भी सहृदय ही होगा। इस प्रकार रस के सामाजिक आस्वाद की प्रक्रिया का 'सहृदय' में सिमट जाने के अपने निहितार्थ हैं। ऐसा नहीं था कि भट्टलोल्लट, शंकुक, भट्ट नायक और अभिनवगुप्त के विवेचन केंद्र में नाटक न था। सभी रस निष्पत्ति की व्याख्या नाटक के सन्दर्भ में ही करते हैं। अभिनवगुप्त तक आते-आते विवेचन के केंद्र में कविता अवश्य आ गयी थी, किन्तु अभिनव भारती स्वयं नाट्यशास्त्र की टीका है। इसलिए अभिनव भी अपने विवेचन केंद्र में नाटक ही रखते हैं, किन्तु वे कविता के सन्दर्भ में सहृदय को देख रहें हो तो कोई आश्चर्य नहीं। अभिनव गुप्त नाटक को कविता की तरह देखते थे। इस प्रसंग की चर्चा को यहीं विश्राम देकर हम रस की सामाजिक भूमिका की ओर पुन: लौटते हैं।

आचार्य भरत नाट्य के चार प्रमुख अंगों- पाठ्य, अभिनय, संगीत और रस- में रस को प्रधान मानते हैं। रस को प्रधान मानने का तात्पर्य यह भी समझा जा सकता है कि रस निष्पत्ति की पूरी प्रक्रिया को भरत मुनि समझ रहे थे। "वस्तु तत्व का रसात्मक हो उठना ही रस निष्पत्ति है"। जब भरत मुनि वस्तु तत्व के लिए "बहुकृतरसमार्गम" शब्द का प्रयोग करते हैं, तब वे वस्तु या कथ्य को रस की सामाजिक भूमिका से ही जोड़ रहे होते हैं। जब भरत मुनि लिखते हैं -

दुःखात्त|र्नानां श्रमात्त|र्नानां शोकात्त|र्नानां तप|र्रस्वनाम |

विश्रान्तिजननम काले नाट्यमेतन्मयाकृतम ||

अर्थात मेरे द्वारा यह रचित नाट्य दुःख से पीड़ित, थके-मादे, शोकतन्तप्त बेचारे लोगों के लिए समय पर विश्रान्ति प्रदान करने वाला है। आचार्य भरत के रस सूत्र में 'संयोग' और 'निष्पत्ति' शब्द अस्पष्ट है। भरत मुनि कहते हैं कि- "जिस प्रकार नाना प्रकार के व्यंजनों, औषधियों तथा द्रव्यों के संयोग से रस

की निष्पत्ति होती है। जिस प्रकार गुडादि द्रव्यों, व्यंजनों और औषधियों से षाडवादि रस बनते हैं, उसी प्रकार विविध भावों से संयुक्त होकर स्थायी भाव भी रस रूप को प्राप्त होते हैं"।

भरत मुनि रस की निष्पत्ति के कारक रूपों पर तो बात करते हैं, प्रक्रिया पर बात करते हैं लेकिन रस निष्पत्ति के अधिकारी को स्पष्ट नहीं करते।

भट्ट लोल्लट रस को मूल पात्र में मानते हैं, वहीं शंकुक नट में रस की उपस्थिति मानते हैं। भट्टनायक व अभिनवगुप्त तो रस की स्थिति सहृदय में मानते हैं। आचार्य रामचंद्र शुक्ल रस को आलम्बन में मानते हैं (साधारणीकरण की प्रक्रिया में)। डॉ नगेंद्र रस को कवि में मानते हैं।

रस का सम्बन्ध केवल 'आस्वादन' से ही नहीं है, अपितु रस रचना की सम्पूर्ण प्रक्रिया में निहित है। एक कवि का बिम्ब, विचार रस की अनुभूति का पहला चरण है। लेकिन यह रचना प्रक्रिया के स्तर पर घटित होता है। रस रचना से पूर्व भी वर्तमान है। जब अभिनवगुप्त मिट्टी की सुगंध का दृष्टांत देते हुए सहृदय में रस की उपस्थिति मानते हैं, तब वे एक तथ्य को ओझल कर रहे होते हैं कि सहृदय से पूर्व वह रस लेखक में उपस्थित है। लेकिन लेखक और रचना से पूर्व भी इस रस की उपस्थिति है, हमें इस तथ्य को समझना होगा।

रस का सम्बन्ध संवेदना की उपस्थिति से है...मनुष्य की सार्थक इच्छाओं से है। मनुष्य की दुर्दमनीय आकांक्षा रस नहीं है। साहित्यिक रूप से विचार करें तो मनुष्य के भाव साहित्य में आकर रस बन जाते हैं। लेकिन हम साहित्य से बाहर उपस्थित रस की बात कर रहे हैं। "रस जीवन का पर्याय" है। भारतीय काव्यशास्त्र की महत्वपूर्ण उपपत्ति यह रही है कि उसने भाव और रस में भेद किया है। इसी संकेत को लेकर आगे चलकर आई ए रिचडस ने अपना "वस्तुनिष्ठतता का सिद्धांत" विकसित किया। तो बात यह है कि साहित्यशास्त्रियों ने भाव और रस में भेद कर महत्वपूर्ण कार्य किया है। यहाँ हम रस को संवेदना के पर्याय रूप में प्रयोग कर रहे हैं। संवेदना चाहे जीवन में उपस्थित हो या साहित्य में, वह सार्थक ही होती है। संवेदना की उपस्थिति ही विभिन्न रस में या कथ्य में रूपांतरित हो उठते हैं। "संवेदना समाज की सार्थक रागात्मक क्रिया" है। इसलिए एक लेखक इसे ही पकड़ता है। रस या संवेदना मुख्यतः "समाज की रागात्मक गत्यात्मक चेतना" को ही समझा जाना चाहिए। और यह चेतना शाश्वत है। रचना, रचनाकार और पाठक केवल इस चेतना को पकड़ते हैं, यह केवल रचना, कवि या पाठक के भीतर खोजना भ्रम ही उत्पन्न करेगा। भट्ट लोल्लट जब मूल पात्र राम या सीता में रस की स्थिति मानते हैं वे रस को मूल अवस्थाओं में ही देखने का प्रस्ताव कर रहे थे। लोल्लट की प्रस्तावना के सन्दर्भ में उपजीव्य और उपजीवक रचनाओं के अंतरसम्बन्ध को समझने का प्रयास करें। जब कोई उपजीवक रचना बनती है तो कवि और पाठक के लिए रस की आदिम स्थिति क्या उपजीव्य रचना न बनेगी?

निराला की 'राम की शक्ति पूजा' में रस की उत्पन्न स्थिति का जुड़ाव क्या पाठक और स्वयं लेखक वाल्मीकि कृत 'रामायण' के मूल राम में न खोजेगा? भट्ट लोल्लट अपनी दृष्टि में मूल तत्व की खोज कर रहे थे। लेकिन हमारी दृष्टि में रस की आदिम स्थिति समाज की रसात्मक चेतना में खोजना उचित होगा।

रस की सामाजिक उपपत्ति

रस कोई आत्मनिष्ठ चेतना या प्रमातागत व्यवहार नहीं है। "रस सामाजिक मनोदशा" है। "रस निर्वातिक चेतना" है। रस सिद्धांत की स्पष्ट मान्यता है कि जब तक हम व्यक्तिबद्ध मनोदशा से आबद्ध रहते हैं, तब तक रस दशा को प्राप्त नहीं हो सकते। रस की यही प्रकृति उसे "सामाजिक" बनाती है। अभिनवगुप्त जैसे दार्शनिक चिंतक जब रस की स्थिति को सहृदय केंद्रित करते हैं तो उनके सामने काव्य आस्वाद की विमल प्रतिभा की आकांक्षा भी सम्मिलित थी। भारतीय काव्यशास्त्र की परम्परा में शास्त्र का आस्वाद आज की तरह सरल न था। बड़ी रचनाएं अपने आस्वाद के लिए महान पाठकीय प्रतिभा की मांग करती हैं। भट्टनायक और अभिनवगुप्त आस्वाद को केंद्रित करते हैं। इसके पीछे भाव और रस का भेद भी था और शास्त्र की समझ का प्रश्न भी।

रस कविता या रचना का प्राथमिक और अंतिम सत्य या निचोड़ है। जो लोग समझते हैं कि कविता निष्पत्ति के स्तर पर रस युक्त होती है, वे गलत समझते हैं। डॉ नगेंद्र ने इसी कारण कवि के भीतर रस की स्थिति मानी थी। भट्ट लोल्लट जब मूल पात्र यथा रामादि में रस स्थिति की बात करते हैं तो वे रस को कथ्य के बीज बिंदुओं में ही स्थापित करने का ही प्रस्ताव कर रहे होते हैं। मान लीजिये राम जैसे ऐतिहासिक नायक की जगह यदि कोई कवि या रचनाकार कल्पित नायक को खड़ा करता है तब क्या कहा जाए? तब तो रस की स्थिति कवि में माननी पड़ेगी? लेकिन कवि के भीतर रस से पूर्व यह रस सामाजिक जीवन् में फैला होता है। कवि या रचनाकार तो इस सामाजिक रस को पकड़ता है। "मूल रस तो सामाजिक जीवन की गति में है"।

भाव और रस का भेद

संस्कृत काव्यशास्त्र में रस और भाव का भेद किया गया है, इसलिए भी रस को समाज में स्थित होना, दुविधा उत्पन्न करता है। भारतीय काव्यशास्त्र मानता है कि सामान्य जीवन में भाव होते हैं और साहित्य में आकर वही भाव, रस में रूपांतरित हो जाते हैं। लेकिन यदि हम इस तथ्य को स्वीकार कर लें तो हमें इस तथ्य को भी स्वीकार करना पड़ेगा कि भक्ति में रस नहीं है...व्यक्तिगत संबंधों से परे करुणा के प्रसंगों में रस नहीं है। लेकिन हम इसे स्वीकार नहीं कर सकते। व्यक्तिगत जीवन में भी व्यक्ति सामूहिक चेतना से संपन्न हो सकता है। हमने भक्ति का एक प्रचलित उदाहरण आपके सामने रखा। भक्ति की

तन्मता में भक्त व्यक्तिगत राग-द्वेष से मुक्त होता है। यहाँ रस दशा से हम कैसे इंकार करें! ठीक इसी तरह करुणा के दृश्य में व्यक्ति, व्यक्तिगत बद्धता से ऊपर उठता है। बिना व्यक्तिगत बद्धता से ऊपर उठे बिना व्यक्ति संवेदना के उच्च धरातल तक नहीं पहुँचता। इन प्रसंगों में रस की उपस्थिति से कैसे इंकार किया जा सकता है? एक, अन्य सन्दर्भ भी है। सामाजिक जीवन के विषाद, अभाव या कष्ट से एक संत, महापुरुष या एक सच्चा व्यक्ति दुःखी होता है। तब हम उसे रस की अवस्था से हीन किस प्रकार स्वीकार कर सकते हैं?

भारतीय काव्यशास्त्रियों ने रस की अवस्था के लिए व्यक्तिगत राग-द्वेष से परे या ऊपर उठने को एक प्रमुख शर्त बतायी थी। यहाँ तक तो बात स्पष्ट है। इसमें कोई दुविधा भी नहीं है। किन्तु मेरी प्रस्तावना यह है कि यह निर्वैयक्तिकता केवल साहित्य में ही नहीं होती, बल्कि जीवन में भी उपस्थित होती है। विवेकानंद या भगत सिंह जैसे व्यक्तियों के भीतर क्या रस न था? क्या हम उन्हें सामाजिक रस से हीन समझें? बात समझने की है।

रस का स्वरुप मूलत: "सामाजिक प्रकृति" का है। व्यक्तिगत होकर रस दशा तक नहीं पहुंचा जा सकता। किसी शत्रु की पीड़ा से प्रसन्न होने को रस नहीं कहा जा सकता। सुख और रस में भी फ़र्क है। सुख व्यक्तिगत हो सकता है, किन्तु रस व्यक्तिगत नहीं होता। "रस सामूहिक आस्वाद की वैयक्तिक प्रज्ञा" है। एक कवि, एक पाठक भले ही रस आस्वाद की प्रक्रिया का उद्घाटन करता हो, किन्तु वह सामाजिक उपपत्ति की धारा को ही पकड़ते हैं। अर्थ यह कि "रस सामाजिक, सामूहिक उपपत्ति है"।

प्रश्न फिर उपस्थित होता है कि क्या अभिनवगुप्त जैसा दार्शनिक आचार्य इस तथ्य से अनभिज्ञ था कि रस वैयक्तिक प्रज्ञा मात्र है? रस की मूल स्थिति समष्टिगत है। तैतरीय उपनिषद की प्रसिद्ध पंक्ति "रसो वै स:" में रस को ब्रह्म स्वरुप ही कहा गया है। रस ब्रह्म है तो राग से परे है। साहित्य तो राग आश्रित है। इस कारण साहित्यशास्त्रियों ने साहित्यिक अनुभूति को अलगाया। विश्वनाथ ने रस के स्वरुप में रस को "ब्रह्मानन्द सहोदर" कहा। यानी ब्रह्म समान तो है किन्तु भिन्न है। आगे चलकर पंडितराज ने तो स्पष्ट तौर पर विषयानन्द, ब्रह्मानन्द व काव्यानन्द जैसे भेद कर काव्य या रस की सत्ता को ब्रह्म से भिन्न बताया। ब्रह्म की तरह अखंड मानकर साहित्य नहीं रचा जा सकता। दर्शन पढ़कर साहित्य नहीं रचा जाता। जीवन पढ़कर साहित्य रचा जाता है। भारतीय काव्यशास्त्र ने इस ढंग से ठीक समय पर अपनी दृष्टि को स्पष्ट रूप में साहित्य पर केंद्रित कर लिया। अभिनव जब अभिव्यक्ति की बात करते हैं तो वे 'सहृदय स्थित वासना' की बात करते हैं किन्तु उन्होंने रस की सामाजिक भूमिका का निषेध नहीं किया। रस को हमने "सामाजिक उपपत्ति" कहा है। नाटक के आस्वादक को भरत मुनि ने "सामाजिक" ठीक ही कहा था। नाटक तब मंचित ही होते थे व आस्वाद के स्तर पर सामूहिक प्रक्रिया से संचालित थे।

अभिनवगुप्त तक आते-आते साहित्य के केंद्र में कविता आ चुकी होती है। हालांकि संस्कृत काव्यशास्त्रियों ने महाकाव्य को अपने केंद्र में रखते हुए पर्याप्त उदाहरण लिए हैं। तो कविता की केंद्रीयता ने आस्वाद की प्रक्रिया को बदला होगा। ऐसे समय में रस की अभिव्यक्ति की अवधारणा सामने आ रही थी। अत: रस की निष्पत्ति का सूत्र अपनी ऐतिहासिक यात्रा व प्रक्रिया से जुड़ कर आगे बढ़ा है।

2.5 रस संप्रदाय- साधारणीकरण का प्रश्न

साधरणीकारण का प्रश्न भारतीय काव्यशास्त्र का अत्यंत मौलिक प्रश्न है | रस निष्पत्ति के प्रसंग में साधरणीकारण के प्रश्न को एक सिद्धांत के रूप में उठाने का श्रेय भट्टनायक को जाता है |

विभावादिसाधारणीकरणात्मना X X X

भावकत्वव्यापारेण भाव्यमानो रसः

X X X भोगेन परं भुज्यत इति ।

- अर्थात् विभावादि के साधारणीकरण रूप भावकत्व नामक व्यापार द्वारा भाव्यमान स्थायिभाव रूप रस X X X भोजकत्व व्यापार के द्वारा आस्वादित किया जाता है ।

अर्थ यह कि साधरणीकारण विभावादि का होता है |

भावकत्व व्यापार ही साधरनीकाण का प्राण है | अर्थात दोनों एक ही हैं |

साधारणीकरण रसास्वाद से पूर्व की प्रक्रिया है |

अभिनव गुप्त ने स्थायी भाव का साधारणीकरण माना है |

अर्थात् काव्य में स्थायी भाव सभी प्रकार के व्यक्ति-संसर्गों से मुक्त हो जाता है-वे व्यक्ति-संसर्ग अपनी परिमिति के कारण दुःखादि के कारण होते हैं, अतः इनसे मुक्ति का अभिप्राय होता है लौकिक दुःख-सुख आदि की चेतना से मुक्ति ।

यह साधारणत्व परिमित न होकर सर्वव्याप्त होता है- अनादि संस्कारों से चित्रित चित्त वाले समस्त सामाजिकों की एक जैसी वासना होने के कारण सभी को एक जैसी ही प्रतीति होती है :

तत एव न परिमितमेव साधारण्यमपि तु विततम् X X X अतएव सर्वसामाजिका-नामेकघनतयैव प्रतिपत्तिः × × × सर्वेषामानादिवासनाचित्रीकृतचेतसाम् वासनासंवादात् । - इस प्रकार, एकाग्रचित्त होने के कारण, समस्त सामाजिकजन को रंगमंच पर उपस्थित नृत्त, गीत आदि सुधा-सागर के समान प्रतीत होते हैं :

तथा ह्य काग्रेसकलसामाजिकजनः खलु । नृत्तं गीतं सुधासारसागरत्वेन मन्यते ॥

इस विषय पर रामचंद्र शुक्ल ने मौलिक ढंग से विचार किया है | शुक्ल जी ने आलम्बन धर्म का साधरणीकरण स्वीकार किया है | उन्होंने लिखा है -

शुक्लजी के उद्धरण इस प्रकार हैं :

१. जब तक किसी भाव का कोई विषय इस रूप में नहीं लाया जाता कि वह सामान्यतः सबके उसो भाव का आलम्बन हो सके, तब तक उसमें रसोद्बोधन की पूरी शक्ति नहीं आती। इसी रूप में लाया जाना हमारे यहाँ साधारणीकरण कहलाता है।

२. (क) काव्य का विषय सदा विशेष होता है, सामान्य नहीं, वह व्यक्ति सामने लाता है, जाति नहीं।

(ख) साधारणीकरण का अभिप्राय यह है कि पाठक या श्रोता के मन में जो व्यक्ति-विशेष या वस्तु-विशेष आती है, वह जैसे काव्य में णित 'आश्रय' के भाव का आलम्बन होती है, वैसे ही सब सहृदय पाठकों या श्रोताओं के भाव का आलम्बन हो जाती है।

(ग) जिस व्यक्ति-विशेष के प्रति किसी भाव की व्यंजना कवि या पात्र करता है,

पाठक या श्रोता की कल्पना में वह व्यक्ति-विशेष ही उपस्थित रहता है।

३. कल्पना में मूर्ति तो विशेष हो की होगी पर वह मूति ऐसी होगी जो प्रस्तुत भाव का आलम्बन हो सके, जो उसी भाव को पाठक या श्रोता के मन में भी जगाये जिसकी व्यंजना आश्रय अथवा कवि करता है। इससे सिद्ध हुआ कि साधारणीकरण आलम्बनत्व धर्म का होता है।

४. व्यक्ति तो विशेष ही रहता है, पर उसमें प्रतिष्ठा ऐसे सामान्य धर्म की रहती है जिसके साक्षात्कार से सब श्रोताओं या पाठकों के मन में एक ही भाव का उदय थोड़ा या बहुत होता है।'× × × 'विभावादि सामान्य रूप से प्रतीत होते हैं' इसका तात्पर्य यही है कि रसमग्न पाठक के मन में यह भेदभाव नहीं रहता कि यह आलम्बन मेरा है या दूसरे का। थोड़ी देर के लिए पाठक या श्रोता का हृदय लोक का सामान्य हृदय हो जाता है।'२

५. साधारणीकरण में आलम्बन द्वारा भाव की अनुभूति प्रथम कवि में चाहिए, फिर उसके णित पात्र में और फिर श्रोता या पाठक में। विभाव द्वारा जो साधारणीकरण कहा गया है, वह तभी चरितार्थ होता है।

इस संबंध में डॉ नगेन्द्र ने भी मौलिक चिंतन किया है | नगेन्द्र ने कवि अनुभूति का साधारणी करण होना स्वीकार किया है | वस्तुतः कवि सामाजिक अनुभूति का ही प्रस्तोता होता है | इस ढंग से इस प्रश्न को नए ढंग से भी देखा जा सकता है |

अभ्यास प्रश्न)१

सत्य /असत्य का चुनाव कीजिए |

1- नाट्यशास्त्र के रचयिता भरत मुनि हैं |

2- नाट्यशास्त्र की टीका भामह ने लिखी है |

3- भट्ट लोलल्ट ने रस निष्पत्ति पर विचार किया है |

4- भट्ट नायक ने साधारणीकरण सिद्धांत को प्रतिष्ठित किया |

5- अभिनव गुप्त ने शांत रस की प्रतिष्ठा की |

2.6 रसाभास: रस बिध्न एवं आभासी सत्य- कुछ नये प्रश्न

1

संस्कृत काव्यशास्त्र में रसाभास की चर्चा है। प्रश्न है कि हम रसाभास किसे समझें? ध्वनिवादी आनंदवर्धन ने रसाभास को अनौचित्य से जोड़ा है। उन्होंने लिखा है -

रसभावतवाभासतत्वप्रज्ञान्त्याविरक्रम:|

ध्वनेरात्माअंगिभावेन भासमानो व्यवस्थित:||

अनौचित्यावृत्ते नान्यद्रसमंगस्य कारणम |

प्रसिदौ चित्य बंधस्तु रस स्यो पनिष त् परा

डॉ नगेन्द्र ने इस सूत्र की व्याख्या करते हुए लिखा है- 'अनौचित्य के अतिरिक्त रसभंग का और कोई कारण नहीं है और प्रसिद्ध औचित्य का अनुसरण ही रस का परम रहस्य है। अनुचित विभावादि का विवेचन रस का बाधक होता है। रस भंग और रस विरोध के यही आधार रसाभास के आधार बने'।

शब्दकल्पद्रुम के अनुसार आभास का अर्थ है प्रतिबिम्ब आदि के समान अवास्तव स्वरुप - प्रतिबिम्बादिवदवास्तवस्वरूपम| जिस प्रकार सीपी में रजत का आभास हो जाता है- सुक्तौ रुपयाभासवत

औचित्य के साथ प्रवृत्त स्थायी भाव का आस्वाद रस है और व्यभिचारी भाव का आस्वाद भाव कहलाता है। इस प्रकार अनौचित्य के साथ प्रवृत्त स्थायी का आस्वाद रसाभास और व्यभिचारी का रसाभास, भावाभास कहलाता है। अर्थ यह कि अनौचित्य के साथ प्रवृत्त स्थायी भाव का आस्वाद ही रसाभास है। इस सम्बन्ध में मम्मट और पंडितराज जगन्नाथ के मत को देखना उचित होगा। मम्मट के अनुसार रस तथा भाव का अनुचित प्रवर्तन ही रसाभास तथा भावाभास है। पंडितराज के अनुसार जहाँ रस का आलम्बन विभाव अनुचित हो, वहां उसे रसाभास कहते हैं।

डॉ नगेन्द्र ने रस की अनुचित प्रवृत्ति का नाम रसाभास माना है। अभिनवगुप्त ने इस प्रकरण को स्पष्ट करते हुए लिखा है -

उस में रति की वासना या अभिलाषा मात्र होती है जो स्थायी भाव नहीं अपितु व्यभिचारी भाव मात्र होती है। किन्तु उस को स्थायी भाव के समान-सी प्रतीत होती है। उसी के कारण विभावाद्याभास बन जाते हैं। इसलिए रति स्थायाभास है। क्योंकि सीता, रावण के प्रति द्वेषयुक्त अथवा उपेक्षायुक्त है। इसलिए वह हृदय का आलिंगन नहीं करती। यदि उसका स्पर्श करे तो उसका अभिमान ही विलीन हो जाए। यह मेरे प्रति अनुरक्त है, यह निश्चय केवल कामजन्य मोह मात्र रूप होने से अनुपयुक्त और शुक्ति में रसाभास के समान है।

पंडितराज जगन्नाथ के अनुसार अनुचित होने का तात्पर्य यह है कि जिन-जिन जाति, देश, काल, वर्ण, आश्रम, वय, अवस्था, स्वाभाव और व्यवहार आदि सामाजिक पदार्थों के विषय में जो-जो लोक और शास्त्र से सिद्ध, उचित द्रव्य, मुख्य अथवा क्रिया आते है, उनसे भिन्न होगा। अर्थ यह कि औचित्य का मूल आधार है- लोक और शास्त्र का विरोध।

रसाभास के प्रश्न को संस्कृत के आचार्यों ने मुख्यतः औचित्य से जोड़ा है। यही मत आनंदवर्द्धन का भी है और दूसरे आचार्यों का भी।

रसाभास का एक सिरा कथ्य की अपूर्णता से भी है। जब कथ्य सम्प्रेषण की प्रक्रिया से गुजरता है तो वह अपनी अभिव्यक्ति में कई बार अपूर्ण ही रह जाता है। कथ्य का सिरा बीच में ही बिखर जाता है या अधूरा छूट जाता है। रसाभास में कथ्य पूरा होता तो दिखे, किन्तु पूरा हो न...तो वहां रसाभास होता है। रसाभास की प्रक्रिया में अनैतिकता, अस्वाभाविकता आदि मत सम्मिलित रहे हैं| आनंदवर्द्धन, मम्मट आदि आचार्यों ने तो इसे अनौचित्य से जोड़ा है| लेकिन रसाभास के कुछ अन्य कारक तत्व भी हो सकते हैं| यहाँ हम इसी तथ्य की ओर संकेत करने का प्रयास करेंगे|

रसाभास संप्रेषण की प्रक्रिया से भी जुड़ा हुआ है| रस का दूसरे रस में मिश्रित हो उठना या कथ्य की अस्पष्टता रसाभास की कारक बनती है| रसाभास एक प्रकार का आभासी सत्य है | रस की ओर कथ्य तो गया, किंतु पूर्ण न हुआ| इसमें रस भंग की स्थिति तो हुई, किंतु उसका पाठकीय या लेखकीय आभास न हुआ| संस्कृत के आचार्यों ने इसे अनौचित्य से जोड़ा है| यह व्यापक पद बंध है | रस औचित्यपूर्ण ही होता है| जहाँ औचित्य न हो वहाँ रसाभास|

रस प्रक्रिया में अनैतिकता, अस्वभाविकता, अव्यवहारिकता आदि का समावेश हो जाने पर या अपूर्णता रह जाने पर आश्रित अथवा अपूर्ण रसानुभूति रसाभास बन जाती है।

रसाभास और रस - संस्कृत काव्यशास्त्र के प्राय: सभी आचार्यों ने रसाभास को रस के अंतर्गत माना है। आनंदवर्धन ने रस और भाव की तरह रसाभास और भावाभास को भी असंलक्ष्यक्रम व्यंग्य अथवा रस ध्वनि में भेद माना है और परवर्ती ध्वनिवादी आचार्यों ने उसका अनुसरण किया है -

रसभावौ तदाभासौ भावस्य प्रशमोदयौ।
सन्धिः शबलता चेति सर्वेऽपि रसनाद्रसाः ॥

अर्थात रस, भाव, रसाभास, भावाभास, भावप्रश्रय, भावोदय, भावसन्धि और भाव प्रबलता ये सब आस्वादित होने के कारण रस कहलाते हैँ।

अभिनव का मत - रसाभास के सम्बन्ध में अभिनव ने दिलचस्प उदभावना की है। अभिनव के अनुसार प्रत्येक रस का आभास अंततः हास्य में परिणत: हो जाता है। अभिनव के अनुसार विकृति हास्य का मूल आधार है।

सीता के प्रति रावण का उदगार -

दूर से ही आकर्षण कर लेने वाले मोहमन्त्र के समान उस (सीता) के नाम को सुनते ही चित्त एक क्षण के लिए भी उसके बिना रह सकने में असमर्थ हो जाता है। (किन्तु) व्याकुल और बेचैन, मेरे इन काम संतप्त अंगों के द्वारा उसकी प्राप्ति (आलिंगन) का सुख कैसे प्राप्त हो, यह ठीक तरह से समझ में नहीं आता।

रावण के वाक्य के आरम्भ में रसाभास ही प्रतीत होता है, हास्य नहीं।

रसाभास के भेद - प्रत्येक रस का आभास हो सकता है, अतः रसभेदों के अनुसार ही रसाभास के भी भेद होते हैं। प्रस्तुत सन्दर्भ में भी शृंगार के महत्त्व के अनुरूप आचार्यों ने शृंगाराभास का ही प्रमुख रूप से वर्णन किया है :

उपनायकसंस्थायां, मुनिगुरुपत्नीगतायां च।
बहुनायकविषयायां, रतौ तथानुभयनिष्ठायाम् ॥

- यदि नायिका की रति उपनायक (जार) में हो, अथवा नायक की रति मुनि किंवा गुरु की पत्नी के विषय में हो, अथवा एक नायिका की रति अनेक नायकों के विषय में हो अथवा नायक-नायिका में एक ही तरफ से रति हो, तब वह रति रस नहीं रसाभास कहलाती है।

डॉ नगेंद्र ने लिखा है कि रसाभास के स्वरुप का निर्णय करने में सावधानी बरतने की आवश्यकता है। हमें रसाभास को या तो अप्रत्यक्ष रसानुभूति मानना होगा, बाधित या दूषित रसानुभूति नहीं; या फिर मानवीय भाव-भूमिका पर औचित्य के व्यापक रूप की कल्पना करते हुए रसाभास के क्षेत्र का परिसीमन करना होगा -अन्यथा रस सिद्धांत की शक्ति और प्रभाव सीमित हो जायेंगे।

रसाभास को हम रस के आभास के रूप में समझ सकते हैं। भाव जब पूर्ण न हो सकें या अधूरे रूप में टूट जाएं तो वहां रसाभास मानना चाहिए।

2

रस-बिध्न

भारतीय साहित्यशास्त्र में रस निष्पत्ति के साथ ही रस बिध्न का भी उल्लेख मिलता है| रस बिध्न का उल्लेख कई दृष्टियों से मिलता है| कवि दृष्टि से रस बिध्न निम्न रूप में मिलता है -

(क) कवि की दृष्टि से आनन्दवर्णन ने कवि की दृष्टि से रसभंग के मुख्यतः पाँच कारण माने हैं।

विरोधिरससम्बन्धिविभावादिग्रिग्रहः । विस्तरेणान्वितस्यापि वस्तुनीऽन्यस्य वर्णनम् ॥ अकाण्ड एवं विच्छित्तिरकाण्डे व प्रकाशनम् परिषीर्ष गतस्यापि पौनःपुन्येन दीपनम् । रसस्य स्याद् विरोवाय वृश्यनीधित्यमेव च ॥'

अर्थात् (1) विरोधी रस के सम्बन्धी विभावादि का ग्रहण कर सेना।

करता।

(2) [रस से] सम्बद्ध होने पर भी अन्य वस्तु का अधिक विस्तार से वर्णन करता।

(3) असमय में रख को समाप्त कर देना अथवा अनवसर में उसका प्रकाशन

(4) [रस का] पूर्ण परिपोष हो जाने पर भी बार-बार उसका उद्दीपन करता।

(5) व्यवहार का अनौचित्य।

आगे चलकर इनका व्याख्यान एवं विस्तार रसदोषों के गप में हुआ और यह संख्या

प्रायः दुगुनी हो गयी :

व्यभिचारिरसस्थायिभावार्ता शब्दबाध्यता

कष्टकरयनया व्यक्तिरनुआवश्चमादयोः ॥

प्रतिकूलविभावादिग्रहो दीप्तिः पुनः पुनः।

अकाण्डे प्रवनण्छेदो अङ्गस्याप्यतिविस्तृतिः ॥

अङ्गिनोऽननुसन्धानं प्रकृतीनां विपर्ययः।

अनङ्गस्याभिधानं च रखे दोषाः स्युरीदृशाः ॥

- अर्थात् व्यभिचारिभावों, रसों अथवा स्थायी भावों को अपने बाचक शब्द द्वारा कहना (स्वशब्दवाच्यता), अनुमाव और विभाव की कष्ट-कल्पना से अभिव्यक्ति [रस के] प्रतिकूल विभाव आदि का ग्रहण करना, तथा [रम की] बार-बार दीप्ति

[रस का] अनवसर में विस्तार कर देना, अनवसर में विच्छेद कर देना, अप्रधान [अंग रस] का भी अत्यधिक विस्तार कर देना, अंगी] प्रधान रस को त्याग देना [भूल जाना], प्रकृतियों (पात्रों) का विपर्यय कर देना और अनंग [अर्थात् जो प्रकृत रस का उपकारक नहीं है, उस का कथन, इस प्रकार के रस में रहने वाले दोष होते हैं।'

मम्मट द्वारा विस्तारित रस के इन व्यवधानों में तीन-चार ही नये हैं: यथा स्वराब्दवाच्यत्व, विभाव और अनुभाव की कष्टकल्पना से अभिव्यक्ति, अंगी की उपेक्षा, और अनंग का कथन और इनमें से अन्तिम दो भी, एक प्रकार से, ध्वनिकार के 'वस्तुनोऽन्यस्य वर्णनम्' में अन्तर्भक्त हैं।

उपर्युक्त रस-विघ्नों का विश्लेषण करने पर यह स्पष्ट हो जाता है कि यथपि अधिकांश का अनुसन्धान मुक्तक में भी किया जा सकता है, फिर भी इनमें से अनेक ऐसे हैं जिनकी सार्थकता प्रबन्ध के सन्दर्भ में ही हो सकती है। इसीलिए विद्वानों ने अन्तिम सात दोषों की कल्पना प्रायः प्रबन्ध के सन्दर्भ में ही की है। दूसरी बात यह है कि इनमें से कोई भी दोष अपरिहार्य नहीं है- प्रत्येक के परिहार का उपाय सम्भव है। यह स्थापना संस्कृत-काव्य- शास्त्र के आचायों की व्यवहार-बुद्धि का सुन्दर प्रमाण है दोष की कल्पना सर्वथा निर्भान्त तो है, किन्तु कहीं भी वह रूढ़ नहीं होने पायी। ऐसा बहुत ही कम हुआ है कि किसी ऐसे छन्द अथवा काव्य को, जिसकी सरसता सिद्ध एवं असंदिग्ध है, केवल एकाथ परिगणित दोप की अवस्थिति के कारण ही तिरस्कृत कर दिया गया हो।

अन्यदौचित्यं कालानमन्त प्रवस्तुतः उपर्युक्त सभी रस-विश्न अनौचित्य के ही औचित्य के अतिरिक्त रस के परिपोष का दूसरा कोई रहस्य नहीं है।

अनौचित्यावृते नान्यद् रसनङ्गस्य कारणम्।
औचित्योपनिबन्धरतु रसस्योपनिषत्परा॥

(ख) सहृदय की दृष्टि से

सहृदय की दृष्टि से रस-विघ्नों का मार्मिक विवेचन सर्वप्रथम अभिनवभारती में किया गया है। यह सिद्ध करने के उपरान्त कि प्रत्येक स्थिति में आस्वादात्मक एवं निविष् प्रतीति से ग्राह्य भाव ही रस है- 'सर्वथा रसनात्मकवीतविघ्नप्रतीतिप्राङ्गो भाव एवर अभिनवगुप्त अत्यन्त स्पष्ट तथा सूक्ष्म-गंभीर रीति से रस-विघ्नों की व्याख्या करते हैं। वे विघ्न सात हैं :

प्रतिपत्तावयोग्यता सम्भावनाविरहो नाम स्वगतवरगतत्वनियमेन देशकाल विशेषावेद्यो निजसुखादिविवशीभावः प्रतीत्युपायवैकल्यम् स्फुटत्वभाबो अप्रधानता संशय- योगश्च । [अभिनवभारती, गायकवाड़ संस्करण, १० २८०]।

3.

आभासी सत्य और कृत्रिम सत्य

उत्तर आधुनिकता ने आभासी सत्य को जन्म दिया है। प्रश्न है कि आभासी सत्य क्या है? आभासी सत्य, सत्य का आभास है। इसमें सत्य और असत्य का मिश्रित रूप है। न सत्य है और न असत्य। आभासी सत्य, कल्पित रूप होता है। उत्तर आधुनिकता ने कृत्रिम इच्छाओं को जन्म दिया है। कृत्रिम

इच्छा बाज़ार द्वारा पैदा की गयी इच्छा है। इसमें वास्तविकता नहीं है। यह भ्रम और असत्य का मिलाजुला रूप है। यह भ्रान्तिमान अलंकार से अलग है। भ्रान्तिमान अलंकार में व्यक्ति का वस्तु को कुछ अलग रूप में देखने का आभास या भ्रम होता है। लेकिन आभासी सत्य में केवल व्यक्ति और वस्तु के बीच का इकहरा सम्बन्ध नहीं होता। कृत्रिम सत्य, बाज़ार द्वारा नियंत्रित सत्य है। इसलिए यहाँ व्यक्ति और वस्तु के साथ ही अन्य चीजें भी सम्मिलित हैँ।

आभासी सत्य में कृत्रिम इच्छाएँ भी शामिल हैँ। कृत्रिम इच्छाओं को हमने बाज़ार से जोड़ कर देखा है। बाज़ार और विज्ञापन कृत्रिम मनोभाव पैदा करते हैँ। तकनीक ने अधूरे भावों को भी जन्म दिया है। अधूरे और कच्चे भाव रस की पूर्ति में बाधक होते हैँ।

रसाभास और कृत्रिम भाव

रसाभास के मूल में अनौचित्य है, जबकि कृत्रिम भाव के मूल में अधूरे भाव हैं। कविता में रस भंग तभी होता है, जब भाव टूट जाते हैं। हर कविता पूर्ण नहीं होती। कुछ कवितायेँ अधूरी यात्रा ही कर पाती हैं। रसाभास में कृत्रिम भाव का आधार होता है। रस निष्पत्ति होने के लिए भाव का सच्चा होना आवश्यक है। कच्चे और झूठे भाव से रस निष्पत्ति नहीं होती। दरअसल रस के स्वरुप विवेचन में आचार्य विश्वनाथ एवं अन्य आचार्यों ने अखंड व चिन्मय जैसे शब्दों का प्रयोग किया है। जिस भाव में खंडता हो, वह रस कैसे हो सकता है। जब हम कृत्रिम भाव कहते हैं, तब हम छल या अवहित्था से उसे आलग करके देखते हैं। छल का मनोभाव नकारात्मक भाव के अंतर्गत आता है, झूठे भाव के अंतर्गत नहीं। भाव यदि नकारात्मक है, तब भी वह सच्चा भाव है, हाँ वह सत्य भाव नहीं है। रावण का सीता के प्रति नकारात्मक मनोभाव नैतिकता की दृष्टि से अनुचित हो सकता है, किन्तु मनोभाव के स्तर पर वह सच्चा है। उत्तर आधुनिकता का कृत्रिम सत्य तब भाव की अनिश्चय स्थिति को सूचित करता है। जहाँ अनिश्चय होगा, वहां अधूरापन होगा। लेकिन अधूरेपन और असत्य में थोड़ा भेद है। कृत्रिमता में असत्य भी है और अधूरापन भी। इसलिए जब उत्तर सत्य में आभासी सत्य की अवधारणा सामने आई या उसे नारे के रूप में विकसित किया गया तो हम भाव के टूटे रूप का संकेत भी प्राप्त करते हैं और असत्य रूप का भी।

अभ्यास प्रश्न) २

टिपण्णी कीजिये

रस का अर्थ

.....

.....

.....

.....

.....

.....

रस के प्रकार

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

रस निष्पत्ति

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

साधारणीकरण

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

रामचंद्र शुक्ल और साधारणीकरण

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

2.7 सारांश

रस संप्रदाय भारतीय काव्यशास्त्र का अत्यंत प्रतिष्ठित साहित्य सिद्धांत है | यह सिद्धांत अपनी व्याप्ति में कविता आस्वाद का सिद्धांत है | यह सिद्धांत हमें बताता है कि किसी कविता का आस्वाद कोई पाठक किन बिंदुओं के आधार पर करता है | रस सिद्धांत रचना और पाठक को जोड़ने वाला सिद्धांत भी है | अपनी व्याप्ति के कारण रस सिद्धांत सभी सिद्धांतों में सर्वाधिक लोकप्रिय रहा है |

2.8 शब्दावली

साधारणीकरण- रस ग्रहण की स्थिति, रचनाकार की अनुभूति के साथ पाठक की अनुभूति की समस्थिति

रस निष्पत्ति – रस के बनने की प्रक्रिया का पूर्ण रूप प्राप्त करना

रसाभास- रस के आभास की स्थिति

कृत्रिम सत्य – सत्य का आभासी रूप

रस बिध्न- रस के पूर्ण होने में बाधक तत्व

2.9 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर

इकाई दो देखें।

2.10 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

१. रस सिद्धांत – डॉ नगेन्द्र

२. रस मीमांसा – रामचंद्र शुक्ल

2.11 सहायक / उपयोगी पाठय सामग्री

१. भारतीय काव्यशास्त्र – भगीरथ मिश्र

2.12 निबंधात्मक प्रश्न

१, रस के प्रकार को स्पष्ट कीजिये।

इकाई-3 अलंकार सम्प्रदाय

इकाई की रूपरेखा

3.1 प्रस्तावना

3.2 उद्देश्य

3.3अलंकार सिद्धान्त (अलंकार सम्प्रदाय)

- 3.3.1 अलंकार: से आप क्या समझते हैं
- 3.3.2 अलंकार संबंधी अलंकार वादी मत
- 3.3.3 अलंकार सम्प्रदाय क्या है
- 3.3.4 काव्य में अलंकारों का महत्व
- 3.3.5 अलंकारों का वर्गीकरण

3.4 अलंकारों का प्रमुख भेद

- 3.4.1 शब्दालंकार
- 3.4.2 अर्थालंकार
- 3.4.3 उभयालंकार

3.5 सारांश

3.6 शब्दावली

3.7 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर

3.8 उपयोगी पाठ्य सामग्री

3.9 निबंधात्मक प्रश्न

3.1 प्रस्तावना

प्रस्तुत इकाई में आप जानेंगे काव्य की आत्मा संबंधी भारतीय दृष्टि ने अलंकार को महत्वपूर्ण तत्व मानकर काव्य के क्षेत्र में उसका कितना विस्तृत और बहुविध विवेचन किया।

इस इकाई के अध्ययन के पश्चात आप अलंकार सम्प्रदाय का विस्तृत ऐतिहासिकविवेचन कर सकेंगे तथा अलंकारों के भेदाभेद को समझ सकेंगे

3.2 उद्देश्य

इस इकाई को पढ़ने के पश्चात आपः

- अलंकार का अर्थ तथा परिभाषा के संबंध में ज्ञान प्राप्त कर सकेंगे।
- भारतीय काव्यशास्त्र के अलंकार सम्प्रदाय और उसकी परम्परा के बारे में बता सकेंगे।
- काव्य में अलंकारों के महत्व तथा उनके विशेष स्थान के बारे में बता सकेंगे।
- अलंकारों के वर्गीकरण और उनके प्रमुख भेद शब्दालंकार, अर्थालंकार एवं उभयालंकार के बारे में जान सकेंगे।
- अलंकारों से और अधिक परिचित हो सेंकेगे।

3.3 अलंकार सिद्धान्त (अलंकार सम्प्रदाय)

3.3.1 अलंकार से आप क्या समझते हैं

अलंकार शब्द की व्युत्पत्ति अलं शब्द से हुई है. आचार्य दण्डी के शब्दों में कहें तो- ''काव्य शोभाकारान धर्मानलंकार प्रचक्षते।'' (आचार्य दण्डी) अर्थात काव्य की शोभा बढ़ाने वाले धर्मों को अलंकार कहते हैं। अलंकार को और अधिक स्पष्ट रूप में परिभाषित करें तो हम इस दो रूपों में जान सकते हैं।

(एक) साधन परक रूप में- इस रूप में दो प्रकार से जाना जा सकता है

प्रथम- अलंक्रियतेऽनेन इति अलंकारः अर्थात जो अलंकृत करे या काव्य की शोभा में वृद्धि करे।

द्वितीय- ''अलंकरोति इति अलंकारः।'' अर्थात् अलंकृत करे या शोभित करे।

(दो) भाव परक रूप में - ''अलंकृति अलंकारः।'' अर्थात् अलंकरण ही अलंकार है। अब आप जानना चाहेंगे कि '' अलंकरण करना क्या है? इसका तात्पर्य है शोभित करना, सौन्दर्य बढ़ाना। दरअसल सुन्दरता सभी प्राणियों की प्रिय वस्तु है जिस प्रकार उचित रहन-सहन, खान-पान, वेश-भूषा आदि मनुष्य के सौन्दर्य में वृद्धि करते हैं उसी प्रकार अलंकारों के उचित प्रयोग से काव्य के सौन्दर्य में वृद्धि होती है।

अलंकार का मूल अर्थ तो अब आप समझ गए होंगे आइए आगे अलंकार के संबंध में और अधिक जानकारी प्राप्त करें।

अलंकार मूलतः साहित्य के सौन्दर्य में वृद्धि करने वाले कारक हैं उसकी आत्मा नहीं। वे साधन है साध्य नहीं। उनके उचित प्रयोग से ही काव्य की शोभा में बृद्धि होती है। यह भी स्मरणीय है कि काव्य में अलंकारों का अतिशय प्रयोग उसके मूल सौन्दर्य को नष्ट कर देता है मसलन जब कोई सुन्दर नारी

आभूषण पहनती है तो उसकी सुन्दरता में चार-चाँद लग जाते हैं इसके विपरीत वह आभूषणों से ही लद जाए तो वह सुन्दर के बजाय कुरूप ही अधिक लगेगी।

3.3.2 अलंकार संबंधी अलंकारवादी मत-

अलंकार शास्त्र के जन्म के कई शताब्दी पहले भारतीय साहित्य में अलंकारों का प्रयोग होता रहा है . ऋग्वेद की हम बात करें तो उसमें 'अरंकृति' शब्द का प्रयोग मिलता है-

''का तेऽस्त्यरंकृतिः सूक्ते कदा नूनं ने महावन दाश्मे।'' (ऋग्वेद 7129131)

लेकिन सर्वप्रथम भारतीय काव्य शास्त्र का उपलब्ध प्रामाणिक एवं प्राचीन ग्रन्थ आचार्य भरतमुनि प्रणीत नाट्य शास्त्र है जिसमें इन्होंने उपमा, रूपक, दीपक एवं यमक इन चार अलंकारों का उल्लेख किया है। तत्पश्चात आचार्य मेहाविन का नाम केवल परवर्ती ग्रन्थों में मिलता इनका कोई ग्रन्थ उपलब्ध नहीं है।वास्तविक अर्थों में अलंकार संबंधी शास्त्रीय मत-परम्परा की असल शुरूआत छठीं शताब्दी में हुई इसे प्रतिष्ठित करने में आचार्य भामह का नाम उल्लेखनीय है इन्होंने अपने ग्रन्थ 'काव्यालंकार' में अऽचालीस अलंकारों का उल्लेख किया है साथ ही अलंकारों को काव्य का अनिवार्य तत्व माना है-न कान्तमपि निर्भूसं विभति वनिता मुखम् (काव्यालंकार 1.13) (जिस प्रकार कमनीय नारी का सुन्दर मुख भी बिना आभूषणों के शोभा नहीं देता उसी प्रकार अलंकारों के अभाव में काव्य सुन्दरता को प्राप्त नहीं करता)।

आचार्य भामह के बाद अलंकारवादियों में आचार्य दण्डी का प्रमुख स्थान है अपने ग्रन्थ काव्यदर्श में इन्होंने इकतीस अलंकारों का विवेचन किया है और समस्त शोभादायक धर्मों को अलंकार कहा है-

''काव्य शोभाकारान धर्मानलंकार प्रचक्षते।'' (काव्यादर्श 2.1)

दण्डी के बाद लगभग आठवीं शताब्दी के साहित्यशास्त्रियों उद्भट और वामन का नाम उल्लेखनीय है। इनके ग्रन्थ क्रमशः काव्यालंकार सार संग्रह और काव्यालंकारसूत्रवृत्ति है उद्भट ने 48 अलंकारों को अपने ग्रन्थ में विवेचित किया है। आचार्य वामन अलंकारों को काव्य में महत्वपूर्ण स्थान देते है। काव्य सौन्दर्य की प्रतिष्ठा अलंकारों में निहित मानते हैं इनके विचार से 'सौन्दर्य' ही अलंकार है सौन्दर्य के समावेश से ही काव्य ग्रहण करने योग्य है-

काव्यं ग्राह्यमलंकारात। सौन्दर्यमलंकारः (काव्यालंकारसूत्रवृत्ति)

वामन के उपरान्त अलंकार सम्प्रदाय के समर्थन में मत व्यक्त करने वाले आचार्यों में कमी आती दिखाई पड़ती है वह इसलिए कि नवीं सदी के आरम्भ में ध्वनि सिद्धान्त का प्रवर्तन हो चुका था जिसके प्रतिपादक आचार्य आनन्दवर्धन थे। जिसमें रस, अलंकार आदि सिद्धान्त ध्वनि के अन्तर्गत विवेचित

किए जाने लगे थे। इसके बावजूद भी महिम भट्ट, कुन्तक, नामिसाधु ने अलंकारों पर अपने मत व्यक्त किए।

महिम भट्ट अलंकारों को काव्य में अभिधा रूप में स्वीकार करते हैं और इन्हें भणिति की भंगिमा का रूप मानते हैं। कुन्तक की दृष्टि में कथ्य की विशेष शैली ही अलंकार है साथ ही ये शैली में वक्रता का होना अपरिहार्य मानते हैं।नामि साधु सभी हृदय जीतने वाले अर्थ प्रकारों को अलंकार की सीमा में संनिहित मानते हैं।

उपरोक्त अलंकारवादियों के मतों से ज्ञात होता है कि-

- इन्होंने अलंकार शब्द का प्रयोग एवं ग्रहण व्यापक अर्थों में किया है इनकी दृष्टि में अलंकार काव्य सौन्दर्य के सभी साधनों को अपने में समाहित करता हैं
- इनकी दृष्टि में अलंकार काव्य का सर्वस्व है इन्होंने इसे काव्य की आत्मा कहा है किन्तु रस , ध्वनि, रीति, वक्रोक्ति, आदि सम्प्रदायों की तरह इसे स्पष्ट रूप में काव्य की आत्मा घोषित नहीं किया इसे काव्य की प्राणधारा जरूर माना है।
- अग्निपुराण में तो रस को काव्य की आत्मा मानते हुए भी अलंकार को काव्य की प्राणधारा माना है और साथ ही यह भी कहा है कि- अलंकार रहिता विधवैव सरस्वती'' अर्थात्-अलंकारों के अभाव में वाणी विधवा के समान है।

3.3.3 अलंकार सम्प्रदाय क्या है

आप अलंकार संबंधी विभिन्न साहित्याचार्यों के मतों को जान चुके हैं आइए अब अलंकार सम्प्रदाय के स्वरूप के बारे में जानकारी प्राप्त करते हैं-

आप जान चुके हैं कि अलंकार सम्प्रदाय के प्रतिपादक आचार्य भामह हैं . इन्होंने अलंकारों के स्वरूप के बारे में कहा है , ''अलंकार काव्य का अन्तरंग तत्व है और उसका सर्वस्व वक्रोक्ति है अर्थात् इन्होंने अलंकार का मूल ही वक्रोक्ति यानी वचन के टेढ़ेपन को माना है इनकी दृष्टि में साधारण शब्द अर्थ नहीं वल्कि वक्र शब्द अर्थ (अलंकृत शब्द और अर्थ) ही काव्य है।आचार्य दण्डी ने भी रस, भाव आदि को स्वतंत्र न मानकर इन्हें अलंकार के अन्तर्गत मान है इन्होंने सभी शोभा कारक उपकरणों को अलंकार के अन्तर्गत समाहित करने का प्रयास किया है।आचार्य वामन अलंकारों की स्वतंत्र सत्ता को नकारते हुए उन्हें गुणों के माध्यम से काव्य सौन्दर्य के विधायक धर्म मानते हैं। इन्होंने गुणों को काव्य का नित्य धर्म बताया है और अलंकार को उसका सहायक तत्व माना है। नौवीं शताब्दी के आरम्भ में ध्वनि सम्प्रदाय के अविर्भाव से अलंकार सम्प्रदाय की प्रतिष्ठ में कमी होती नजर आती है। आचार्य आनन्दवर्धन ने अलंकारवादी आचार्यों की मान्यताओं का खण्डन करते हुए कहा है,

अलंकारों का विधान रसादि के अंग के रूप में होना चाहिए न कि अंगी के रूप में- ''विवक्षा तत्परत्वेन लाँगित्वेन कदाचन्।''(ध्वन्यालोक 2/1)इनकी दृष्टि से अलंकार काव्य का प्राण तत्व नहीं बल्कि रस को प्रकाशित करने वाला धर्म है जो अपने धर्म ,द्वारा साधारणीकृत होने में सहयोग करता है। यों तो आचार्य मम्मट रसवादी हैं लेकिन इन्होंने अपने समय (11वीं सदी) तक प्रचलित सभी काव्य सिद्धान्तों का अपने ग्रन्थ 'काव्य प्रकाश' में समन्वय किया है इनकी दृष्टि में अलंकारों का मुख्य उद्देश्य रस को पुष्ट करना है. ये मानते हैं कि हार, आभूषण आदि अलंकार के प्रकार हैं जो रस के उपकारक हैं।

आचार्य मम्ट तो स्पष्ट शब्दों में 'अनलंकृति पुनः क्वापि' कहकर काव्य में अलंकारों की अनिवार्य उपयोगिता को ही समाप्त कर देते हैं। किन्तु 13 वीं शताब्दी के आचार्य जयदेव को मम्मट की मान्यता स्वीकार नहीं है। मम्मट की मान्यताओं का खण्डन करते हुए वे कहते हैं- जिसे काव्य में अलंकार स्वीकार नहीं वह अग्नि को उष्णता रहित क्यों नहीं मानता-''अंगीकरोति यः काव्यं शब्दार्थालंकृति। असौ न मन्यते कस्मादनुस्णमनलंकृति।।'' (चंद्रलोक 1/8) आचार्य विश्वनाथ (चौदहवीं शताब्दी) ध्वनिवादी आनन्दवर्धन और रसवादी मम्मट से प्रेरणा लेकर अलंकार को शब्द और अर्थ का अस्थि धर्म मानते हैं।

अलंकारों के स्वरूप के संबंध में विभिन्न आचार्यों के मतों की विवेचना का जो सार है उसे हम निम्न बिन्दुओं के रूप में ग्रहण कर सकते हैं-

- काव्य में अलंकारों की उपस्थिति अनिवार्य है अलंकारों के अभाव में काव्य सौन्दर्य को प्राप्त नहीं कर सकता । जैसे सुन्दर स्त्री की सुन्दरता आभूषणों के अभाव में फीकी लगती है।
- काव्य का सम्पूर्ण सौन्दर्य मूलतः- गुण,रस, रीति, आदि अलंकार पर आश्रित है। अलंकारों के अन्तर्गत गुण,दोष आदि सभी काव्यांगों की गणना की जाती है।
- अलंकार रस या काव्य का प्राणतत्व नहीं बल्कि रस को प्रकाशित करने वाला धर्म है .
- अलंकार काव्य में सीधे सौन्दर्य प्रदान करने वाले साधन मात्र नहीं बल्कि गुणों को उत्कर्ष प्रदान करने में भी महत्वपूर्ण भूमिका निभाते हैं. गुण ही हैं जो काव्य को शोभा प्रदान करते हैं।

उपरोक्त विवेचना से निष्कर्ष रूप में हम कह सकते हैं कि अलंकार काव्य का अनिवार्य तत्व नहीं है वह शब्दार्थ के साधन द्वारा रस का उपकारक है। 'अनलंकृति पुनः क्वापि' के माध्यम से आचार्य मम्मट ने मूलतः यही सिद्ध करने का प्रयास किया है. कहना न होगा कि अलंकार काव्य के बाह्य शोभा कारक धर्म हैं । आचार्य विश्वनाथ और मम्मट के विचारों से यही पुष्ट होता है। भामह, दण्डी, उद्भट भी केवल अलंकारों को काव्य का अनिवार्य साधन मानते हैं। आन्तरिक धर्म नहीं। यह दृष्टिकोण मूलतः ध्वनिवादियों का है। अलंकार वादी तो अलंकार को काव्य का सर्वस्व मानते हैं।

3.3.4 काव्य में अलंकारों का महत्व-

विभिन्न आचार्यों के अलंकारों के स्वरूप से संबंधित विवेचना से हम जान चुके हैं कि अलंकार मूलतः काव्य के बाह्य साधन हैं. हम जानते हैं कि काव्य में अलंकारों द्वारा चमत्कार और आनन्द उत्पन्न किया जाता है जिससे काव्य और अधिक रोचक और ग्राह्य बनता है। प्राचीन से अर्वाचीन तक के सभी साहित्याचार्यों की अलंकार संबंधी विवेचना पर गौर किया जाए तेा कहना न होगा कि अलंकार काव्य के लिए सर्वाधिक महत्वपूर्ण नहीं तो आवश्यक जरूर हैं वे काव्य में उस गुण की सृष्टि करने में समर्थ होते हैं. जिसके कारण पाठक बार-बार काव्य की ओर आकर्षित होता है। काव्य का कुशल कलाकार अलंकारों के प्रयोग के समय सचेत रहता है कि कहीं काव्य में अलंकार हावी न हो जाए और कविता की मूल संवेदना में बाधा न पहुँचे इसलिए वह सन्तुलित होकर चलता है. यह सन्तुलन संवेदना और सौन्दर्य का होता है तात्पर्य यह कि जब कोई पाठक कविता का रसास्वादन करे तो संवेदना तक पहुँचे इन्द्रधनुषी रंगो के साथ। न कि रूखे-सूखे धुन्ध भरे आकाश की तरह। कविता में इन्द्रधनुषी रंग अलंकारों के माध्यम से ही भरे जा सकते हैं। कहना न होगा कि काव्य में नीरसता को दूर करने के लिए अलंकारों का समुचित प्रयोग आवश्यक जान पड़ता है।

इससे पहले भी आप जान चुके हैं कि स्त्री में प्राकृतिक सुन्दरता होने पर भी वह अपने सौन्दर्य में वृद्धि के निमित्त आभूषणों का प्रयोग करती है। कारण साफ है कि वह बाह्य सौन्दर्य वृद्धि के साथ-साथ अपनी आन्तरिक तुष्टि चाहती है यह तुष्टि उसके प्रसन्नचित चेहरे से प्रकट होकर उसके प्राकृतिक सौन्दर्य में चार चाँद लगा देती है। ठीक इसी सन्दर्भ में हम अलंकारों को देखें तो मूलतः अलंकार काव्य में वाह्य शोभा वृद्धि के कारक है, किन्तु यह कहने में अति न होगी कि इनके समावेश से काव्य की आन्तरिक ध्वन्यात्मकता भी आकर्षक एवं हृदय ग्राही रूप धारण कर सहृदय को चरमोल्लास की स्थिति तक पहुँचाती है। काव्य में अलंकारों के महत्व पर विचार करते समय इस सन्दर्भ में भी विचार करना महत्वूपर्ण लगता है कि क्या अलंकारों के अतिशय प्रयोग से काव्य के सौन्दर्य में वृद्धि हो सकती है? आप सभी जानते हैं कि सुन्दर नारी यदि आभूषणों से ही लद जाए तो वह सुन्दर के बजाए कुरूप ही अधिक लगेगी, उसका भड़कीलापन सहृदय में कुरूचि ही उत्पन्न करेगा। ठीक यही बात कविता पर भी लागू होती है। अभिव्यक्ति के समय कवि को अलंकारों के संयमित प्रयोग के लिए सचेत रहना चाहिए क्योंकि किसी भी काव्यांग की अधिकता काव्य के लिए उचित नहीं जान पड़तीं. शब्दों के माध्यम से अत्यधिक चमत्कार उत्पन्न कर देना और जटिल अर्थों की अत्यधिक योजना के कारण कहीं ऐसा न हो कि 'बात सीधी थी पर भाषा के चक्कर में टेढ़ी हो गई।' तात्पर्य यह कि अलंकारों की अधिकता से कवि की मूल संवेदना सहृदय तक पहुँचे ही नहीं। इसलिए अलंकार पर अपने मत व्यक्त

करने वाले सभी आचार्य इस तथ्य पर एकतम हैं कि अलंकार न केवल चमत्कार और कौतुहल उत्पन्न करने के लिए प्रयुक्त न हों अपितु उनका प्रयोग मूल संवेदना की रक्षा तथा सहृदय के मनोरंजन के लिए हो।

3.3.5 अलंकारों का वर्गीकरण

आप काव्य में अलंकारों के महत्व को जान चुक हैं. आइए अब उनके वर्गीकरण के बारे में जानकारी प्राप्त करें।

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने कहा है- अलंकार वर्णन करने की चमत्कार पूर्ण शैलियाँ हैं ..... ये शैलियाँ न जाने कितनी हो सकती हैं अलंकारों के वर्गीकरण व संख्या के संबंध में इनकी यह टिप्पणी अक्षरसः सही है। भारतीय साहित्यशास्त्र के पहले प्रथम उपलब्ध एवं प्रामाणिक ग्रन्थ 'नाट्यशास्त्र' के रचानाकार भरतमुनि ने अलंकारों की संख्या चार निर्धारित की थी बाद में इस संख्या में उतरोत्तर वृद्धि होती गई जहाँ तक अलंकारों के सर्वप्रथम वर्गीकरण का प्रश्न है इसे आधार दिया है राजानक रुय्यक ने। इन्होंने जो मान्यताएँ दी उनके आधार पर अलंकारों के वर्गीकरण से संबंधित दो सिद्धान्त उभरकर सामने आते हैं-

पहला- आश्रयाश्रित सिद्धान्त। दूसरा- अन्वय व्यतिरेक सिद्धान्त।

आश्रयाश्रित सिद्धान्त- 12 वीं शताब्दी के अन्त में आचार्य रूय्यक ने अपने ग्रन्थ 'अलंकार सर्वस्व' में इस सिद्धान्त का प्रतिपादन किया इनके अनुसार जो अलंकार शब्द पर आश्रित है वे शब्दालंकार है और जो अर्थ पर आश्रित हैं वे अर्थालंकार है।

अन्वय व्यतिरेक सिद्धान्त- इस सिद्धान्त के संबंध में आचार्य मम्मट ने कहा है कि - विशिष्ट शब्द होने पर अलंकार विशेष हों तो शब्दालंकार होगा और विशिष्ट शब्द के न रहने पर शब्दालंकार अलंकारत्व में कोई प्रभाव नहीं पड़ेगा। अन्वय व्यतिरेक तर्क का आधार है- पूर्ववर्ती आधार के रहने पर आघृत का रहना। इसके लिए 'प्रवृत्ति सहत्व' साक्ष्य है। उदाहरणार्थ बन्दहु गुरू पद पदुम परागा' को लें तो यहाँ पर 'प' वर्ण की आवृत्ति बार-बार होनेपर अनुप्रास अलंकार है इसके स्थान पर यदि यही अर्थ ध्वनित करने वाले पद 'चरण-कमल-मकरन्द' करे रख दें तो अर्थ तो वही रहेगा लेकिन अनुप्रास अलंकार नहीं रहेगा। इसी सन्दर्भ में आगे चलकर अग्निपुराण के रचयिता ने अलंकारों के तीन स्पष्ट विभाजन किए जो बहुप्रचलित हैं-

1. शब्दालंकार
2. अर्थालंकार
3. उभयालंकार

तत्पश्चात् आचार्य भोज ने दण्डी के वर्गीकरण को केन्द्र में रखकर सभी अलंकारों को शब्दालंकार,अर्थालंकार, उभयालंकार में विभाजित किया साथ ही इन तीनों वर्गों के अन्तर्गत आने वाले अलंकारों की सूची भी दी जिसका विवरण निम्न प्रकार है-

शब्दालंकार- जाति, रीति, गति, वृति, छाया, उक्ति, मुद्रा , भणति, गुम्फन, शय्या, पठिति, यमक, श्लेष, अनुप्रास, चित्र, वक्रोवाक्य, प्रहेलिका, गूढ़ प्रश्नोतर, अध्येय, श्रव्य, प्रेक्ष्य, अभिनय।

उभयलंकार- उपमा, रूपक, साक्य, संशयोक्ति, समाधि, युक्ति, अपहन्हुति, उत्प्रेक्षा, तुल्ययोगिता, उल्लेख, सहोक्ति, समुच्चय, आक्षेप, अर्थान्तरन्यास, विशेष, दीपक, क्रम, परिकर, अतिशय, पर्याय, संतुष्टि, भाविक एवं श्लेष।

आधुनिक काल में भी बहुविद्य समालोचकों ने उनमें सर्वाधिक मान्यता डॉ0 नगेन्द्र के वर्गीगकरण को मिली अपने ग्रन्थ 'रीति काव्य की भूमिका' में इन्होंने व्यक्ति की मानसिक दशाओं को आधार बनाकर अलंकारों को छः वर्गो में विभाजित किया है-

1. साधर्म्य प्रधान (मानसिक स्पष्टता)
2. अतिशय मूलक (विस्तार)
3. वैसम्य मूलक (आश्चर्य)
4. औचित्य मूलक (अन्विति)
5. वक्रता मूलक (जिज्ञासा)
6. चमत्कार मूलक (कोतुहल)

बोध प्रश्न- क

1. अलंकार से क्या तात्पर्य है? संक्षेप में उत्तर दीजिए?
2. आचार्य दण्डी द्वारा अलंकारों के संबंध में दी गई परिभाषा लिखिए?
3. भामह ने अपने ग्रन्थ 'काव्यालंकार' में कितने अलंकारों का उल्लेख किया है?
4. ''कथ्य विशेष की शैली ही अलंकार है।'' यह कथन किसका हैं

अ-भामह

ब- दण्डी

स-वामन

द-कुन्तक

बोध प्रश्न -ख

1. आचार्य भामह ने अलंकार का सर्वस्व किसे माना है?

2. आचार्य दण्डी ने किन-किन उपकरणों को अलंकार के अन्तर्गत समाहित करने का प्रयास किया है?

3. 'अनलंकृति पुनः क्वापि' किसने कहा है?

अ-भामह

ब-दण्डी

स-वामन

द-मम्मट

4. 'अलंकार शब्द और अर्थ का अस्थि धर्म है' किसने कहा है?

अ-आनन्दवर्धन

ब-विश्वनाथ

स-मम्मट

द-दण्डी

बोध प्रश्न - ग

1. अलंकारों के वर्गीकरण को सर्वप्रथम आधार किसने दिया?
2. आश्रयाश्रित सिद्धान्त के प्रतिपादक कौन है

अ- विश्वनाथ

ब- रूय्यक

स- भोज

द- नगेन्द्र

3.अलंकारों का बहुप्रचलित वर्गीकरण शब्दालंकार , अर्थालंकार, उभयालंकार को सर्वप्रथम आधार किसने दिया?

4. आधुनिक काल के किस समालोचक के अलंकारों से संबंधित वर्गीकरण को सर्वाधिक मान्या मिली?

3.4 अलंकारों के प्रमुख भेद

आप अलंकारों के वर्गीकरण की परम्परा और विभिन्न आचार्यों द्वारा किए गए उनके वर्गीकरण के बारे में जान चकें हैं। आइए अब अलंकारों के बहुप्रचलित वर्गीकरण शब्दालंकार, अर्थालंकार, और उभयालंकार के साथ ही इनके अन्तर्गत आने वाले प्रमुख अलंकारों के बारे में जानकारी प्राप्त करें।

3.4.1 शब्दालंकार-

जहाँ काव्य में शब्दों के माधम से चमत्कार उत्पन्न होता है वहँ शब्दालंकार होता है। जैसा कि नाम और परिभाषा से ही जाहिर है कि इसमें शब्दों का सौन्दर्य ही प्रमुख होता है ये शब्द पर आधारित होते हैं। इनमें कुछ विशेष शब्दों द्वारा काव्य सौन्दर्य में वृद्धि होती है ये विशेष शब्द जिस काव्य सौन्दर्य का प्रतिपादन करते हैं उनके स्थान पर यदि उनके पर्यायवाची शब्दों को रख दिया जाए तो काव्य सौन्दर्य में वृद्धि असम्भव है। मसलन हम कहें कि- चारू चन्द्र की चंचल किरणे खेल रही थी जल, थल में यहाँ चारू, चन्द, और चंचल शब्दों में सौन्दर्य है इनके स्थान पर यदि इनके पर्यायवाची शब्द सुन्दर, मयंक, और अस्थिर रख दें तो काव्य में न ही नादात्मक सौन्दर्य आ पाएगा और न ही संगीतात्मकता कहना न होगा कि शब्दालंकार में विशिष्ट शब्दों का विशेष महत्व होता है।

यह शब्दालंकार काव्य में मूलतः दो प्रकार से आ सकता है। 1- वर्ण सौन्दर्य के द्वारा 2- वाक्य सौन्दर्य के द्वारा।

आचार्य मम्मट ने मूलतः छः शब्दालंकार माने हैं- अनुप्रसा, यमक, श्लेष, वक्रोवित्त, पुनरूक्तवदाभास तथा चित्र।

यहाँ हम प्रमुख शब्दालंकारों की विवेचना करेंगे- अनुप्रास, यमक, श्लेष, वक्रोक्ति, पुनरूक्तवदाभास, वीप्सा, तथा पुनरूक्ति प्रकाश।

अनुप्रास- वर्णों की आवृत्ति को अनुप्रास कहते हैं तात्पर्य यह कि जब एक वर्ण या वर्ण समूह की दो या उससे अधिक बार आवृति हो वहाँ अनुप्रास अलंकार होता है। जैसे-

''कल-कल कोमल कुसुम कुंज पर।
मधु बरसाने वाला कौन।''

नोट- व्यंजनों की बार-बार आवृति होने पर ही अनुप्रास अलंकार होता है स्वरों की नहीं अनुप्रास मूलतः दो प्रकार का होता है- वर्णानुप्रास और पदानुसार। वर्णानुप्रास के भी दो भेद होते हें- छेकानुप्रास और वृत्यानुप्रास।

छेकानुप्रास- छेक का अर्थ है चतुर! जहाँ अनेक वर्णों की एक बार स्वरूप और क्रम से आवृति (सादृश्य) हो वहाँ छेकानुप्रास होता है चतुरों को अधिक प्रिय होने के कारण इसका नाम छेकानुप्रास पडा़।

'सर-सर हँस न होत बाजि गजराज न दर-दर।
तरू-तरू सुफल न होत नारि पतिव्रता धर-धर।।''

इन पंक्तियों में 'सर-सर', 'दर-दर', 'तरू-तरू', में छेकानुप्रास है क्योंकि यहाँ अनेक वर्णों की एक बार स्वरूप और क्रम से आवृति हुई है।

वृत्यानुप्रास- जब एक साथ अनेक वर्णों की अनेक बार आवृति हो वहाँ वृत्यानुप्रास होता हैं जैसे-

'सम सुवरन सुखमाकर सुखद न थोर।
सीय अंग सखि कोमल कनक कठोर।।''

इन पंक्तियों में 'स' वर्ण की अनेक बार आवृति क्रमशः हई है अतः वृत्यानुप्रास अलंकार है।

लाटानुप्रास- छेकानुप्रास और वृत्यानुप्रास में आप देख चुके हैं कि दानेां में वर्ण या समूह की आवृति होती है लेकिन लाटानुप्रास में एक शब्द या वाक्य दो या उससे अधिक बार आता है किन्तु अन्वय करने पर उसका अर्थ भिन्न हो जाता है। लाट देश यानी गुजरात के विदग्ध लोगों को विशेष रूप से प्रिय होने के कारण इसे लाटानुप्रास कहते हैं. जैसे-

'पराधीन जो जन नहीं स्वर्ग नरक ता हेतु।
पराधीन जो जन, नहीं स्वर्ग नरक ता हेतु।''

इस दोहे का अर्थ अन्वय करने पर इस प्रकार होगा- जो मनुष्य गुलाम नहीं, उसके लिए नरक भी स्वर्ग है। जो मनुष्य गुलाम है उसके लिए स्वर्ग ,स्वर्ग नहीं नरक है।

एक बहुप्रचलित उदाहरण और देखिए-

पूत सपूत तो का धन संचय? पूत कपूत तो का धन संचय?

यमकः जब एक या एक से अधिक शब्द एक से अधिक बार प्रयुक्त हों एवं उनका प्रत्येक बार अर्थ अलग-अलग हो वहाँ यमक अलंकार होता है। जैसे-

'तों पर वारौं उरवसी सुनि राधिके सुजान।
तू मोहन के उस वसी है, उसवसी समान।।''

यहाँ पहली पंक्ति में उरवसी का अर्थ उर्वशी है दूसरी में उर वसी यानी हृदय में वसी के अर्थ में है।

श्लेष- श्लेष का अर्थ है चिपकना। जहाँ किसी एक शब्द में कई अर्थ चिपके हों वहाँ श्लेष अलंकार होता है तात्पर्य यह

कि जहाँ कवि एक से अधिक अर्थ वाले शब्दों का प्रयोग करके काव्य में चमत्कार उत्पन्न करता है वहाँ श्लेष अलंकार होता है उदाहरण के लिए-

'चरन धरत शंका करत भावत नीद न शोर'
सुबरन को ढूढ़त फिरत कवि, व्यमिचारी चोर।।''

यहाँ सुबरन शब्द से काव्य में चमत्कार उत्पन्न हुआ है और उसके विभिन्न संदर्भों में तीन अर्थ हैं- कवि के संदर्भ में सुन्दर वर्ण, व्यभिचारी के संदर्भ में सुन्दर रूप रंग या शरीर, चोर के सन्दर्भ में सोना। अतः उपरोक्त में श्लेष अलंकार है।

एक और उदाहरण देखिए-'रहिमन पानी राखिए बिन पानी सब सून।

पानी गए न उबरे मोती मानस चून।।''

यहाँ भी पानी शब्द तीन विभिन्न अर्थ संदर्भों में प्रयुक्त हुआ है। मोती के सन्दर्भ में कान्ति, मनुष्य के संदर्भ में प्रतिष्ठा और चूने के संदर्भ में पानी। अतः श्लेष अलंकार है।

वक्रोक्ति- वक्रोक्ति का अर्थ है 'वक्र या टेढ़ी उक्ति' अर्थात् किसी वक्ता द्वारा कही गई उक्ति का अर्थ घुमा-फिरा कर दूसरा ही ग्रहण करना। कहना न होगा कि जहाँ किसी उक्ति में वक्ता के अभिप्रेत आशय से भिन्न अर्थ की कल्पना की जाए वहाँ वक्रोक्ति अलंकार होता है- इसके दो भेद हैं-

1- श्लेष वक्रोक्ति

2- काकु वक्रोक्ति-

उदाहरण के लिए रावण - अंगद का संवाद देखिए-

'सो भुजबल राख्यो उर घाली

तीतेउ सहसबाहु बलि, बाली।'

यहाँ जीतेउ का अर्थ हारेउ हो गया है अर्थात् उपरोक्त पंक्ति का अर्थ इस प्रकार होगा- सहस्रार्जुन,बलि बालि से आप हारे थे। अतः वक्रोक्ति अलंकार है।

पुनरूक्तिवदाभास- जहाँ दो शब्दों के अर्थ में पुनरूक्ति का अभास हो किन्तु वास्तविक अर्थों में दोनों एक ही अर्थ के द्योतक न होकर भिन्न-भिन्न अर्थों के द्योतक हों वहाँ पुनरूक्तिवदाभास अलंकार होता है। जैसे-

समय जा रहा है काल है आ रहा ।

सचमुच उल्टा भाव भुवन में छा रहा ।।

उपरोक्त पंक्तियों में 'समय' और 'काल' शब्दों से प्रतीत हो रहा है कि दोनों के अर्थ समान हैं किन्तु गौर करें तो यहाँ काल का अर्थ 'मृत्यु है न कि समय । अतः यहाँ पुनरूक्ति न होकर पुनरूक्ति का आभास हो रहा है अतः यहाँ पनरूक्तिवदाभास अलंकार है।

पुनरूक्ति प्रकाश- जहाँ काव्य में एक शब्द की एक या एक से अधिक बार आवृति हो उनका अर्थ भी समान हो वहाँ पुनरूक्ति प्रकाश अलंकार होता है। जैसे-

छिल-छिल कर छाले फोड़े, मल-मल कर मृदुल चरण से ।

घुल-घुल कर वह रह जाते, आँसू करूणा के कण से ।।

उपरोक्त काव्यांश में 'छिल-छिल,' 'मल-मल,' 'घुल-घुल', शब्दों में पुनरूक्ति प्रकाश है।

नोट- पुनरूक्ति प्रकाश अलंकार काव्य में अर्थ की रूचिरता बढ़ाने के लिए प्रयुक्त होता है।

वीप्सा- पुनरूक्ति प्रकाश की तरह ही इस अलंकार में भी शब्दों की पुनरावृत्ति होती है किन्तु यह आवृति अर्थ की रूचिरता या सौन्दर्य वर्धन के लिए नहीं अपितु मनोवेगों मसलन आदर, उत्साह, आश्चर्य , शोक ,घृणा आदि की तीव्रता प्रकट करने के लिए होती है। काव्य में जहाँ ऐसा हो वहाँ वीप्सा अलंकार होता है।

'राम कहत चलु, राम कहत चलु, राम कहत चलु भाई।'

यहाँ राम कहत चलु की बार-बार आवृति मूलतः भक्ति का आवेग प्रकट करने के लिए हुई है। अतः यहाँ वीप्सा अलंकार है।

3.4.2 अर्थालंकारः

आप शब्दालंकार एवं उसके अन्तर्गत आने वाले महत्वपूर्ण अलंकारों के संबंध में जान चुके हैं। आइए अब हम अर्थालंकार और इसके अन्तर्गत आने वाले कुछ महत्वपूर्ण अलंकारों के बारे में जानकारी प्राप्त करें। जब काव्य में सौन्दर्य शब्द के बजाय उसके अर्थ द्वारा आता है वहाँ अर्थालंकार होता है अब आप अर्थालंकार के स्वरुप को समझ गए होंगे। शब्दालंकार में जहाँ काव्य में चमत्कार शब्द में निहित होता है वहीं अर्थालंकार में चमत्कार अर्थ में निहित होता है। आइए अब कुछ महत्वपूर्ण अर्थालंकारों उपमा, रूपक, उत्प्रेक्षा, भ्रान्तिमान, संदेह, मानवीकरण और विरोधाभास की परिभाषा सहित व्याख्या करते हैं।

उपमा- उपमा का शाब्दिक अर्थ है 'उप' (समीप) 'मा' (मापना तौलना) अर्थात् जहाँ दो भिन्न पदार्थों की आपस में तुलना कर उनकी समानता व्यक्त की जाए वहाँ उपमा अलंकार होता है. यह सभी सादृश्यमूलक अलंकारों का मूलाधार माना जाता है। इसके चार अंग हैं।

1. उपमेय- जिसको उपमा दी जाए।

2. उपमान- जिससे उपमा दी जाए।

3. साधारण धर्म- उपमेय तथा उपमान में उपस्थित वह गुण जो दानों में समान रूप से पाया जाता है जैसे 'मुख चन्द्रमा सा सुन्दर' है. इस वाक्य में मुख (उपमेय) चन्द्रमा (उपमान) और दोनों में समान रूप से पाया जाने वाला साधारण धर्म यानी गुण सुन्दर है।

4. वाचक शब्द- उपमेय तथा उपमान में सादृश्य बताने वाला शब्द (समान, सा,सदृश्य) वाचक कहलाता है। जैसे मुख चन्द्रमा के सा सुन्दर है वाक्य में 'सा' शब्द वाचक है।

उपमा के प्रमुख दो भेद होते हैं-

1. पूर्णोपमा 2. लुप्तोपमा

रूपक - जहाँ उपमेय और उपमान का निषेध रहित आरोप हो वहाँ रूपक अलंकार होता है। आरोप से आशय है - एक वस्तु से दूसरी वस्तु को साथ इस प्रकार रखना कि दोनों में अभेद हो जाए अर्थात् कोई अन्तर न रहे।

जैसे- 'अधर-लता के फूल सुनहले, लाज-अनिल से झर जाते।' इसकी प्रथम पंक्ति में अधर (उपमेय) का लता (उपमान) का दूसरी पंक्ति में लाज (उपमेय) का अनिल (उपमा) का निषेध रहित आरोप है अतः यहाँ रूपक अलंकार है।

उत्प्रेक्षा - उत्प्रेक्षा का शाब्दिक अर्थ है- उत्कृष्ट रूप में प्रकष्ट (उपमान) को देखना अर्थात् सम्भावना करना। यानी जहाँ उपमेय और उपमान भिन्न होते हुए भी इनमें समानता की सम्भावना मानी जाए वहाँ उत्प्रेक्षा अलंकार होता है। जैसे-

'सोहत ओढ़े पीत-पट श्याम सलोने गात।'
मनहूँ नीलमनि शैल पर आतप परयो प्रभात।''

उपरोक्त दोहे में पीताम्बर धारी श्याम कृष्ण- बिहारी (उपमेय) में नीलमणि पर्वत पर प्रातः कालीन धूप (उपमान) की सम्भावना व्यक्त की गई है अतः यहाँ उत्प्रेक्षा अलंकार है।

भ्रान्तिमान - जहाँ सादृश्य के कारण उपमेय में उपमान का भ्रम हो, साथ ही उपमेय को उपमान समझ लिया जाए वहाँ भ्रान्तिमान अलंकार होता है। जैसे-

बिल विचार कर नाग सूँड में घुसने लगा विषैला साँप।
काली ईख समझ विषधर को उठा लिया गज ने झट आप।।

उपरोक्त पंक्तियों में भ्रम के कारण हाथी के सूँड का छिद्र साँप् को बिल प्रतीत हो रहा है तथा हाथी को बिषैले साँप् में काली ईख का भ्रम हो रहा है अतः यहाँ भ्रान्तिमान अलंकार है।

संदेह - जहाँ उपमेय और उपमान में अत्यधिक समानता देखकर यह निश्चय नहीं हो पाता कि इनमें कौन उपमेय है? कौन उपमान। अर्थात् संदेह बना रहता है वहाँ संदेह अलंकार होता है। जैसे-

सारी बीच नारी है कि नारी बीच सारी है।
कि सारी ही कि नारी है कि नारी ही कि सारी है?

उपरोक्त पंक्तियों में द्रापदी के चीर हरण के समय चीर का ढेर देखकर संदेह हो रहा है कि साडी़ के बीच में नारी है कि नारी के बीच में साडी़ है अतः यहाँ संदेह अलंकार है।

मानवीकरण - जहाँ प्रकृति, पशु-पक्षी, एवं निर्जीव पदार्थों अर्थात् मानव से इतर पदार्थों में मानवीय गुण आरोपित किए जाएँ वहाँ मानवीकरण अलंकार होता है। जैस-

बीती विभावरी जाग री'

अम्बर-पनघट में डुबो रही तारा-घट उषा-नगरी।।''

यहाँ रात्रि बीतने और उषा काल का वर्णन करते समय कवि ने उषा को युवती के रूप में चित्रित किया है जो आकाश रूपी पनघट में तारे रूपी घड़े को डुबो रही है। अतः यहाँ मानवीकरण अलंकार है।

विरोधाभास - जहाँ वास्तव में दो वस्तुओं में विरोध न हो केवल विरोध का आभास हो वहाँ विराधाभास अलंकार होता है। जैसे'

तंत्री नाद कविता रस, सरस राग, रति रंग।

अनबूढ़े तिरे जे बूढ़े सब अंग ।।

उपरोक्त दोहे में 'जो नही डूबे थे वे डूबे गए' ओर जो अच्छी तरह डूब गए वे तर गए ' में विरोध प्रतीत हो रहा है। लेकिन वास्तव में विचार किया जाए तो यहाँ कवि का तात्पर्य यह है कि जो संगीत, काव्य और प्रेम में लीन नहीं होते वे असफल हो जाते हें जो पूरी तरह तल्लीन हो जाते हैं वे सफल हो जाते हैं अतः यहाँ विरोध का आभास मात्र है विरोध नहीं। इसलिए यहाँ विरोधाभास अलंकार है।

3.4.3 उभयालंकारः

आइए अब उभयालंकार के बारे में जानकारी प्राप्त करते हैं। काव्य में अनेक बार एक ही स्थान पर दो या दो से अधिक अलंकार विद्यमान होते हैं ऐसे स्थान पर उभयालंकार होता है। जैसे-

सम सुबरन सषमाकर सुखद न थोर।

सीय अंग सखि कोमल कनक कठोर ।।

उपरोक्त पंक्तियों में पहली पंक्ति में पहली पंक्ति में अनुप्रास और दूसरी पंक्ति में व्यतिरेक अलंकार है। अतः यहाँ पर उभयालंकार है।

3.5 सारांश

इस इकाई को पढ़ने के बाद आपः

- भारतीय काव्य शास्त्र में वर्णित अलंकार सम्प्रदाय और उसकी परम्परा की विवेचना कर सकते हैं।

- अलंकार से आशय एवं उसके स्वरूप के बारे में बता सकते हैं।
- अलंकार संबंधी अलंकार वादी मतों के बारे में बता सकते हैं।
- अलंकारों का बहुप्रचलित वर्गीकरण शब्दालंकार , अर्थालंकार एवं उभयलंकार तथा इनके अन्तर्गत आने वाले प्रमुख अलंकारों को बता सकते हैं।

3.6 शब्दावली

अलंकृत	-	सजा हुआ
प्रणीत	-	बना हुआ , निर्मित
उपरान्त	-	बाद में
तुष्टि	-	संतोष
निषेध	-	अभाव

3.7 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर

बोध प्रश्न- क

1. देखिए इकाई भाग 3.3.1
2. काव्य शोभाकारान धर्मानलंकार प्रचक्षते।
3. अड़चालीस
4. द- कुन्तक

बोध प्रश्न - ख

1. वक्रोक्ति
2. सभी शोभाकारक उपकरणों को
3. द- मम्मट
4. आचार्य विश्वनाथ

बोध प्रश्न- ग

1. राजानक रुय्यक ने
2. रुय्यक
3. आचार्य दण्डी ने
4. डॉ0 नगेन्द्र को

3.2.11 उपयोगी पाठ्य सामग्री

विश्वम्भर नाथ त्रिपाठी, चन्द्रलोक सुधा, विश्वविद्यालय प्रकाशन वाराणसी, 1961।
राम बिहारी शुक्ल,काव्य प्रदीप, हिन्दी भवन जालन्धर और इलाहाबाद।
डॉ0 नगेन्द्र,रीति काव्य की भूमिका-नेशनल पब्लिशिंग हाउस दिल्ली, 1977
डॉ0 नगेद्र,भारतीय काव्यशास्त्र की भूमिका- नेशनल पब्लिशिंग हाउस दिल्ली, 1977
डॉ0 रामचन्द्र तिवारी,भारतीय एवं पाश्चात्य काव्य शास्त्र की लोक भारती प्रकाशन इलाहाबाद, 2007।
डॉ0 तारक नाथ वाली,भारतीय काव्य शास्त्र, वाणी प्रकाशन नई दिल्ली, 2010
गणेश यम्बक देशपाण्डे,भारतीय साहित्य शास्त्र, राजपाल एण्ड संस नई दिल्ली, 1958।
डॉ0 भगीरथ मिश्र एवं डॉ0 बलभद्र तिवारी,काव्यांग विवेचन, स्मृति प्रकाशन इलाहाबाद।

3.9 निबंधात्मक प्रश्न

1. अलंकार से आप क्या समझते हैं ? काव्य मैं अलंकारों का महत्व बताते हुए अलंकार सम्प्रदाय की विस्तृत विवेचना कीजिये .
2. अलंकारों की परिभाषा देते हुए अलंकारों के प्रमुख वर्गीकरण एवं भेदों की विस्तार से विवेचना कीजिये .

इकाई 4 : ध्वनि संप्रदाय

इकाई की रूपरेखा

4.1 प्रस्तावना
4.2 उद्देश्य
4.3 ध्वनि सिद्धांत: परिचय
4.4 ध्वनि सिद्धांत: सैद्धांतिक स्थापनाएं
4.5 ध्वनि सिद्धांत: योगदान व अन्य सिद्धांत
4.6 सारांश
4.7 शब्दावली
4.8 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर
4.9 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची
4.10 सहायक /उपयोगी पाठ्य सामग्री
4.11 निबंधात्मक प्रश्न

4.1 प्रस्तावना

कविता का मूल तत्व रस है या ध्वनि? यह प्रश्न भारतीय काव्यशास्त्रियों के सामने उपस्थित रहा है? आनंदवर्द्धन ने ध्वनि सिद्धांत को प्रतिष्ठा प्रदान की, वहीं अभिनवगुप्त ने इसे दार्शनिक आधार प्रदान किया| अभिनवगुप्त ने रस ध्वनि की परिकल्पना करके रस व ध्वनि को एक करने का महत्वपूर्ण कार्य किया| बाद के आचार्यों के दो मत बने| कुछ ने ध्वनि को साहित्य का केंद्र माना तो कुछ ने रस को प्रतिष्ठा प्रदान की| साथ ही अलंकार, रीति, वक्रोक्ति व औचित्य को कविता या साहित्य की आत्मा मानने वाले आचार्य भी कम न थे, किंतु कविता में ध्वनि की सत्ता आधार रूप में उपस्थित है| इस इकाई में हम ध्वनि की सत्ता व उसकी काव्यगत उपस्थिति को विश्लेषित करेंगे|

ध्वनि का आधार व्याकरण का स्फोट सिद्धांत है| किसी शब्द के उच्चारण से हमारे मन में उस का एक अर्थ ध्वनित होता है| शब्द की सत्ता विलीन होकर भी पूर्णतः विलीन नहीं होती| जब हम क म ल कहते हैं तो प्रत्येक शब्द अलग -अलग उच्चरित होकर भी एक -दूसरे से जुड़कर एक अर्थ का सन्धान करते हैं| स्फोट सिद्धांत ध्वनि का मूल है |

ध्वनि की सत्ता शब्द शक्ति व्यंजना पर भी टिकी हुई है| हम जानते हैं कि अमिधा, लक्षणा और व्यंजना प्रमुख काव्य शक्तियां हैं| कहे गए शब्द व वाक्य का सीधा अर्थ अभिधा है| विशिष्ट अर्थ लक्षणा है तथा अन्य अर्थ व्यंजना है| प्रश्न है कि यह अन्य अर्थ क्या है? जैसे हम कहें कि गंगाया घोष :| तो व्यंजना द्वारा ही हम यह अर्थ निकाल सकते हैं कि गंगा के समान पवित्र घर है| जब कविता में आकर किसी शब्द व वाक्य के बहाने सम्पूर्ण कविता को विशिष्ट बना दिया जाता है तब वहाँ व्यंजना शब्द शक्ति या ध्वनि होती है | इस इकाई में हम ध्वनि पर विस्तारपूर्वक अध्ययन करेंगे|

4.2 उद्देश्य

भारतीय एवं पाश्चात्य काव्यशास्त्र शीर्षक पुस्तक की यह चौथी इकाई है | इस इकाई के अध्ययन के पश्चात आप -

* व्यंजना शब्द शक्ति से परिचित हो सकेंगे
* ध्वनि सिद्धांत का परिचय प्राप्त कर सकेंगे
* ध्वनि दिद्धांत के प्रमुख आचार्यों का परिचय प्राप्त कर सकेंगे
* ध्वनि सिद्धांत के प्रमुख सिद्धांतों को जान सकेंगे
* ध्वनि सिद्धांत से अन्य सिद्धांतों का अंतर समझ सकेंगे

4.3 ध्वनि सिद्धांत: परिचय

ध्वनि सिद्धांत के मूल में व्याकरण का स्फोट सिद्धांत रहा है | वैयाकरण मानते थे कि शब्दों की सत्ता हमेशा वर्तमान होती है | क्योंकि शब्द तो सुनते ही नष्ट हो जाते हैं, फिर पद, वाक्य की सत्ता कैसे? इस प्रश्न का समाधान ही स्फोट सिद्धांत देता है | इस धारणा के अनुसार समस्त वर्णों का समुदाय एक नित्य शब्द अभिव्यक्त करता है | अर्थ यह कि स्फोट के अभिव्यँजक वर्ण ही ध्वनि हैं | ध्वनिकार इसलिए ही वाच्य, वाचक से भिन्न व्यंग्यार्थ बोधक शब्दों को ध्वनि कहते रहे हैं | कहने का अर्थ यह है कि वर्ण, शब्द, वाक्य आदि की सम्पूर्ण अर्थ की प्रतीति के लिए स्फोट सिद्धांत की अवधारणा हमारे सामने आई | आनंदवर्द्धन ने ध्वनि को स्पष्ट करते हुए लिखा है -

-यत्रार्थः शब्दो वा तमर्थमुपसर्जनी कृत स्वार्थौ।
व्यक्तः काव्यविशेषः स ध्वनिरिति सरिभिः कथितः ।।"

अर्थात "जहां (वाच्य) अर्थ और (वाचक) शब्द अपने-अपने अस्तित्व को गौण बनाकर जिस (विशिष्ट) पार्थ को प्रकट करते हैं वह (अर्थ) ध्वनि कहलाता है।"

इसका स्पष्ट तात्पर्य यह है कि जो अर्थ, वाच्य अर्थ की अपेक्षा भिन्न होता है उसे ध्वनि कहते हैं। ध्वनि को कन्यार्थ, व्यंग्य, व्यंग्यार्थ, प्रतीयमान, अवमित, द्योतित अर्थ आदि भी कहते हैं।

आनंदवर्धन ने ध्वनि के स्वरूप को समझाने के नए उदाहरण दिया है-

प्रतीयमानं पुनरन्यदेव वस्त्वस्ति वाणीषु महाकवीनाम् नत् प्रसिद्धावयवातिरिक्तं विभाति लावण्यमिवागंनासु ।।"

अर्थात् जिस प्रकार किसी अंगना के सुंदर अवयव र उनसे फूटता हुआ लावण्य भिन्न-भिन्न पदार्थ है, उसी कार महाकवियों की वाणी में प्रसिद्ध अवयव (अर्थात् वाचक शब्द और वाच्य अर्थ) और उससे अभिव्यक्त प्रतीयमान अर्थ भी भिन्न -भिन्न होते हैं |

4.4 ध्वनि: सैद्धांतिक स्थापनाएं

डॉ राधावललभ त्रिपाठी ने लिखा है कि -"यह आनन्दवर्धन की विवशता थी कि अपने सिद्धांत की नींव डालने के लिए उन्हें एक दार्शनिक भित्ति चाहिए थी. तो उन्होंने व्याकरण से वह उठा ली। आनन्दवर्धन के सिद्धांत का मूलभूत वैचारिक ढाँचा दो शब्दों के द्वारा जाना जा सकता है - इशारा और गुज । कविता के शब्द और अर्थ कुछ कहने के लिए इशारे बन जाते हैं और वे गुज पैदा करते हैं। आनन्दवर्धन ने ध्वनि के भेदों में एक भेद का नाम भी अनुस्वानसन्निभ (१/२०), अनुरणनरूपव्यंग्य (१/२१ की वृत्ति) या 'अनुस्वानोपमव्यंग्य' (२/२५) रखा। अनुरणन या अनुस्वान का अर्थ गूँज है। ध्वनिसिद्धांत इस तरह वास्तव में ध्वनि का नहीं, प्रतिध्वनि का सिद्धांत है। इस अनुरणनरूपव्यंग्य के विषय में आनन्दवर्धन ने यह विशेष बात कही कि वह प्रबंध (पूरे के पूरे महाकाव्य, नाटक आदि) में भी भासित होता है (३।१५)। अर्थात् काव्य में एक-एक शब्द गूँज पैदा करता है, वाक्य भी अपनी गूँज पैदा करता है। साथ ही एक पूरी कविता की अपनी गूँज होती है। एक पूरे प्रबंध (महाकाव्य, नाटक, उपन्यास आदि) की अपनी एक गूँज हो सकती है"।

काव्य के दो पक्ष हैं-एक संघटना और दूसरा प्रतीति। इन्हीं को आनन्द-वर्धन ने वाच्य और प्रतीयमान कहा है और उन्होंने दोनों पर बराबर वजन रखा है। यह बात अवश्य है कि ध्वन्यालोक में चर्चा दूसरे पक्ष - प्रतीयमान-की हुई है।

आनन्दवर्धन ने प्रतीयमान पर बहुत बल दिया है | आगे चलकर यही ध्वनि सिद्धांत की स्थापना का हेतु बन गया | आनन्दवर्धन ने ध्वनि सिद्धांत को स्थापित करने के लिए कुछ उदाहरण दिये हैं, जिन्हें देखना उचित होगा -

भम धम्मिअ वीसत्थो सो सुणओ अज्ज मारिओ देण। गोलाणइ कच्छकुडंगवासिणागदरिअ सीहेण ॥

पुजारीजी। आप निश्चित होकर घूमिये, क्योंकि (जो कुत्ता आपको यहाँ घूमने आने पर तंग करता था) उस कुत्ते को मार दिया गया है, गोदावरी नदी के कछार के कुंज में रहने वाले एक डरावने शेर के द्वारा।

अत्ता एत्थ णिमज्जइ एत्थ अहं दिअसअं पलोएहि। मा पडिअ रत्तिअन्धअ सेज्जाएए मह णिमज्जहिसि ॥

मेरी सास यहाँ नींद में होती है बेसुध और मैं यहाँ सोती हूँ, दिन में ही देखभाल लो, नहीं तो हे रतौंधी के मारे बटोही, कहीं रात में इधर आकर हमारी सेज से टकरा कर गिर न जाना।

वच्च मह व्विअ एक्केइ होंतु णीसासरोइअव्वाअं। मा तुज्ज वि तीअ विणा दिक्खण्णहअस्स जाअन्तु ॥

जाओ तुम। साँसें छोड़ना और रोना रहने दो मेरे लिये ही। उसके बिना तुम्हारे लिये न हों ये भलमनसाहत में तुम क्यों मारे जाओ ?

दें आ पसिअ णिवत्तसु मुहससिजोह्वाविलुत्ततमोणिवहे । अहिसारिआएँ विग्धं करोसि अण्णाणं वि हआसे ॥

मैं कहती हूँ मान जा लौट आ।

अपने मुँह की चाँदनी से अँधेरा दूर कर अरी मुई तू दूसरी अभिसारिकाओं के लिए विघ्न बन रही है।

कस्स व ण होइ रोसो दद्रूण पिआए सव्वणं अहरम्।

सभमरपठमग्घाइणि वारिअवामे सहसु एण्विम् ॥

किसको भला रोष न आएगा' अपनी प्रिया के अधर पर घाव का चिह्न देखकर ? मैंने पहले रोका नहीं था तुझे कि उस कमल में भौरा है / जिसे तू सूंघ रही है /अब तू भोग |

ये उदाहरण ध्वनि को पुष्ट करने के ही विभिन्न उदाहरण समझे जाने चाहिए |

ध्वन्यालोक की पहली ही कारिका के पहले चरण में आनन्दवर्धन बताते हैं कि ध्वनि काव्य की आत्मा के रूप में बुधों या सहृदय काव्यमर्मज्ञों के बीच प्रसिद्ध था। पर उसके बारे में विवाद चला आ रहा था। इसलिए सहृदयों के मानस की प्रसन्नता के लिए वे इस ग्रंथ में ध्वनि का स्वरूप प्रसिद्धिव्यवहारं लक्षयतां सहृदयानामानन्दो मनसि लभतां प्रतिष्ठामिति प्रकाश्यते।' बता रहे हैं- 'तस्य हि ध्वनेः स्वरूपं... रामायणमहाभारतप्रभृतिनि लक्ष्ये सर्वत्र (ध्वन्यालोक, १/१ पर वृत्ति, पृ. ३८)

आनन्दवर्धन से पहले ध्वनिसिद्धांत पर कोई ग्रंथ नहीं मिलता। कुछ आचार्यों ने व्यंजनावृत्ति की चर्चा भले की हो, पर ध्वनि का कोई प्रस्थान उनके पहले स्वीकार कर लिया गया था, ऐसा किसी ग्रंथ से साक्ष्य नहीं मिलता। पहली ही कारिका में आनन्दवर्धन ने कहा है- 'काव्यस्यात्मा ध्वनिरितिबुधैर्यः

समाम्ना तपूर्वः'- बुधों या काव्य के जानकार लोगों के द्वारा ध्वनि को काव्य की आत्मा कहा जाता रहा है। यहाँ ध्वनि की चर्चा ग्रंथ में नहीं, जानकार लोगों के समाम्नाय में ही होने की बात है।

आनन्दवर्धन कहते हैं कि यह सत्काव्यतत्त्व का सहृदयों के उदय और लाभ के लिए उसी की व्याख्या की है-

सत्काव्यतत्त्वनयवत्र्मचिरप्रसुप्त-कल्पं मनःसु परिपक्वधियां यदासीत्। तद् व्याकरोत् सहृदयोदयलाभहेतो-रानन्दवर्धन इति प्रथिताभिधानः ॥

एक पर्यायों का गुच्छा है, जो इन सहृदयों के लिए आनन्दवर्धन ने प्रयुक्त किया है। बुध, काव्यार्थतत्त्वज्ञ (१.७) काव्यतत्त्ववित्, सचेतस् (१/१२) मनीषी भव्यात्मा इन्हीं सहृदयों को कहा गया है। इन सहृदयों की बुद्धि काव्य में तत्त्वार्थदर्शिनी होती है (१/१२)। वे काव्य के सही शब्द और सही अर्थ की प्रत्यभिज्ञा कर सकते हैं। इसके साथ ही एक बड़ी बात सहृदय केन्द्रित प्रस्थान से उभरी। वह यह कि कवि में रचना की प्रतिभा होती है, तो सहृदय में रचना को परखने की प्रतिभा होती है। कारयित्री प्रतिभा और भावयित्री प्रतिभा ये प्रतिभा के दो रूप माने गए। आनन्दवर्धन बार-बार सहृदयों का हवाला देकर अपनी बात को निष्कर्ष पर पहुँचाते हैं। एक और शब्द आनन्दवर्धन ने सहृदय के लिये रखा है- भव्य आत्मा वाला। भव्य आत्मा वाले लोग कविता के नंदनकानन में पहुँच कर ध्वनितत्त्व को कल्पतरु बना लेते हैं-

ध्वनिर्दर्शितः । काव्याख्येऽखिलधाम्नि विबुधोद्याने
सोऽयं कल्पतरूपमानमेहिमा भोग्योऽस्तु भव्यात्मनाम् ॥

पूरे संस्कृत काव्यशास्त्र की ढाई हजार साल में धवनयालोक जैसा मौलिक ग्रन्थ मिलना मुश्किल है | आनंदवर्द्धन के ध्वनि सिद्धांत को अभिनवगुप्त ने दार्शनिक स्तर पर प्रतिष्ठित कर दिया | ध्वन्यालोक पर ध्वन्यालोक लोचन नामक टीका लिखकर अभिनवगुप्त ने ध्वनि को व्यापक स्तर पर प्रतिष्ठित कर दिया | लेकिन अभिनवगुप्त ध्वनिवादी हैं या रसवादी? रस ध्वनि कहकर उन्होंने रस और ध्वनि में अभेद स्थापित कर दिया है | अभिनवगुप्त ने लिखा है -

स च स्वप्नेऽपि न स्वशब्दवाच्यो न लौकिकव्यवहारनिपतितः, किन्तु शब्दसमर्प्यमाणहृदयसंवादसुन्दरविभावानुभावरससमुचितप्राग्विनि-
विष्टरत्यादिवासनानुरागसुकुमारस्वसंविदानन्दचर्वणाव्यापाररसनीयरूपो रसः, स काव्यव्यापरैकगोचरो रसध्वनिरिति, स च ध्वनिरेवेति स एव मुख्यात्मतया रस इति ।

(रस स्वशब्दवाच्य नहीं होता, लोकव्यवहार के प्रपंच में उसे नहीं रखा जा सकता। काव्य के शब्द जब हृदय में उस अर्थ को आर्पित कर देते हैं, जो सुन्दर विभाव, अनुभाव आदि से रचा गया है, तो चित्त में पहले से विनिविष्ट रति आदि वासनात्मक स्थायी भाव जाग जाते हैं, सहृदय अपनी संवित् या चेतना

में डूबकर आनन्द का अनुभव करने लगता है। इस तरह रसध्वनि कविता की प्रक्रिया का विषय बनता है. वही ध्वनि मुख्य रूप से काव्य की आत्मा है।)

ध्वन्यालोक में आनन्दवर्धन ने कहा है- 'काव्यस्यात्मा स एवार्थः'। आनन्दवर्धन ने यहाँ प्रतीयमान का दृष्टांत देने के लिए वाल्मीकि का उदाहरण दिया था, वस्तु और अलंकाररूप ध्वनिप्रभेदों को काव्यात्मतत्त्व की परिधि से निकालने का उनका आशय नहीं था। पर अभिनव ने इसकी टीका करते हुए फिर रस को ही काव्यात्मा के रूप में प्रतिष्ठित किया-

स एवेति प्रतीयमानमात्रेऽपि प्रकान्ते तृतीय एवं रसध्वनिरिति मन्तव्यम्, इतिहासबलात् प्रक्रान्तवृत्तिग्रन्थार्थबलाच्च, तेन रस एव वस्तुत आत्मा, वस्त्व-लङ्कारध्वनी तु सर्वथा रसं प्रति पर्यवस्येते इति वाच्यादुत्कृष्टौ तावित्यभिप्रायेण ध्वनिः काव्यस्यात्मेति सामान्येनोक्तम्।

(यद्यपि काव्य में हर तरह के प्रतीमान या व्यंग्य अर्थ को द्योतित करने के लिए कवि प्रवृत्त होता है, पर इनमें से तृतीय रोटि का प्रतीयमान-रसध्वनि-ही काव्य की वास्तव में आत्मा है।... वस्तु ध्वनि और अलंकार ध्वनि ये दोनों भी अन्ततः रस में ही पर्यवसित होते हैं, इसलिए वाच्य से उत्कृष्ट होने के कारण सामान्यतया उन्हें भी काव्य की आत्मा कहा गया है।) अभ्यास प्रश्न) १

सत्य /असत्य का चुनाव कीजिए|

1- ध्वनि सिद्धांत के मूल में व्याकरण का स्फोट सिद्धांत रहा है|

2- ध्वनि सिद्धांत के प्रतिष्ठापक आनंद वर्द्धन हैं|

3- ध्वनि व्यंजना शब्द शक्ति पर आधारित है|

4- श्रेष्ठ कविता को मापने की दृष्टि से ध्वनि सिद्धांत उपयोगी है|

5- रस ध्वनि ध्वनि का एक भेद है|

4.5 ध्वनि सिद्धांत: योगदान व अन्य सिद्धांत

ध्वनि सिद्धांत भारतीय काव्यशास्त्र का अत्यंत श्रेष्ठ सिद्धांत रहा है | इस सिद्धांत ने अन्य सभी सिद्धांतों को अपने भीतर समेट लिया | ध्वनिवादियों ने ध्वनि काव्य को श्रेष्ठ कहा | व्याकरण के स्फोट सिद्धांत का आधार ग्रहण करने के कारण ध्वनि सिद्धांत एक दार्शनिक भित्ति पर खड़ा हो जाता है | प्रश्न है कि कविता की भाषा दूसरी किसी भाषा या सामान्य बातचीत से किस प्रकार भिन्न हो जाती है? इस प्रश्न का उत्तर ध्वनि सिद्धांत देता है |असंलक्ष्यक्रम व्यंग्य के रूप में रस ध्वनि का एक भेद हो जाता है | अलंकार ध्वनि, वस्तु ध्वनि के अंतर्गत अलंकार और वक्रोक्ति आदि संप्रदाय आ जाते हैं | इस प्रकार ध्वनि सिद्धांत अपने आप में व्यापक है |

अभ्यास प्रश्न) २

टिपण्णी कीजिये

स्फोटवाद

.....

.....

.....

.....

.....

शब्द शक्ति

.....

.....

.....

.....

.....

.....

रस ध्वनि

.....

.....

.....

.....

.....

अभिनवगुप्त और ध्वनिसिद्धांत

.....

.....

.....

.....

.....

.....

4.6 सारांश

ध्वनि सिद्धांत अत्यंत व्यापक सिद्धांत है| इस सिद्धांत में सम्पूर्ण साहित्यिक सिद्धांतों को समेटा जा सकता है| कविता दूसरे कार्य व्यापारों से भिन्न कैसे है? इस प्रश्न का उत्तर ध्वनि सिद्धांत के पास ही है|

* ध्वनि के मूल में व्यंजना शक्ति है|
* ध्वनि का आधार व्याकरण का स्फोट सिद्धांत रहा है| इस कारण ध्वनि सिद्धांत अपने अर्थ को लेकर प्रामाणिक बन सका|
* ध्वनि सिद्धांत प्रतीयमान अर्थ व व्यंग्य के कारण श्रेष्ठ काव्य का सिद्ध हमारे सामने प्रस्तुत करता है| यह बहस साहित्य और साहित्य शास्त्र में बाद के दिनों तक बनी रही|

4.7 शब्दावली

प्रतीयमान- अर्थ की अन्य प्रतीति

संलक्ष्यक्रम ध्वनि - जहाँ ध्वनि के संकेत स्पष्ट हों

रस ध्वनि - रस और ध्वनि की एका का सूत्र | अभिनवगुप्त द्वारा प्रतिपादित

काव्य की आत्मा - काव्य का मूल तत्व

सहृदय - रचना का आस्वाद करने वाला पाठक

4.8 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर

१- सत्य

२. सत्य

३. सत्य

४. सत्य

५. सत्य

4.9 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

१. ध्वन्यालोक

२. ध्वन्यालोक लोचन

4.10 सहायक /उपयोगी पाठ्य सामग्री

१. भारतीय काव्यशास्त्र – डॉ विश्वम्भर नाथ उपाध्याय

२. भारतीय काव्यशास्त्र – भगीरथ मिश्र

4.11 निबंधात्मक प्रश्न

१. ध्वनि काव्य की सैद्धांतिक स्थापनाओं पर विचार करें।

इकाई-5 रीति सम्प्रदाय

इकाई की रूपरेखा

5.1 प्रस्तावना
5.2 उद्देश्य
5.3 रीति का अभिप्राय
5.3.1 रीति
5.3.2 वृत्ति
5.3.3 प्रवृत्ति
5.3.4 मार्ग
5.4 भारतीय काव्यशास्त्र में रीति का स्वरूप
5.5 आचार्य वामन और रीति सिद्धान्त
5.5.1 काव्यगुण
5.5.2 शब्दगुण
5.5.3 अर्थगुण
5.5.4 रीतियाँ
5.6 काव्यात्मा और रीतिसिद्धान्त
5.7 रीति और पाश्चात्य साहित्यशास्त्र
5.8 सारांश
5.9 शब्दावली
5.10 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर
5.11 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची
5.12 उपयोगी पाठ्य सामग्री
5.13 निबन्धात्मक प्रश्न

5.1 प्रस्तावना

भारतीय साहित्यशास्त्र से सम्बन्धित इस इकाई से पूर्व की इकाईयों के अध्ययन के बाद आप यह बता सकते हैं कि साहित्य क्या है, साहित्य कैसे रचा जाता है, साहित्य क्यों लिखा, पढ़ा, सुना जाता है, रस क्या है ? और अलंकारों के विषय में हमारी शास्त्रीय मान्यताएं क्या हैं?

भारतीय काव्यशास्त्र में काव्य के स्वरूप, काव्य के हेतु और काव्य के प्रयोजनों के विषय में चर्चा करने के साथ ही आचार्यों ने इस विषय में गम्भीर चिन्तन किया है कि काव्य में वह कौन सा तत्त्व है, जो काव्य की समस्त वस्तुसत्ता और प्रक्रिया में व्याप्त है, जिसके अन्दर काव्य के सभी तत्त्व सफलतापूर्वक समाविष्ट हो जाते हैं, जिसके उच्चारण से काव्य की सभी विशेषताओं का परिचय मिल जाता है और जिसके अभाव में काव्य में जीवन्तता नहीं होती है। इस सन्दर्भ में आत्मा शब्द का प्रयोग किया जाने लगा और रीति सिद्धान्त की तो नींव ही काव्यात्मा के प्रसंग में रखी गई। प्रस्तुत इकाई में रीतिसिद्धान्त के विषय में विस्तार से विवेचन प्रस्तुत है।

इस इकाई के अध्ययन के बाद आप रीति तथा रीतिसिद्धान्त के विषय में भारतीय चिन्तकों की अवस्थापनाओं के विषय में जान सकेंगे और रीति के विषय में पश्चिम की शैली तथा शैलीवैज्ञानिक आदि अवधारणाओं का विश्लेषण कर सकेंगे।

5.2 उद्देश्य

प्रस्तुत इकाई के अध्ययन के बाद आप...

* बता सकेंगे कि रीति क्या है?
* समझा सकेंगे कि रीति के विषय में भारतीय तथा पश्चिम के विचारकों का अभिमत समझ सकेंगे।
* रीतिसिद्धान्त के विषय में जानते हुए समझा सकेंगे कि क्या रीति काव्य की आत्मा है?

5.3 रीति का अभिप्राय

रीति सिद्धान्त भारतीय साहित्यशास्त्र का एक प्रसिद्ध सिद्धान्त है, जिसके अनुसार रीति 'काव्य की आत्मा' या मूलतत्त्व है। आचार्य वामन ने 'काव्यालंकारसूत्रवृत्ति' नामक अपनी रचना में रीति को काव्य का जीवनाधायक तत्व मानकर रीतिसिद्धान्त की स्थापना की। इस सिद्धान्त को जानने से पहले रीति शब्द के विषय में जानना जरूरी है।

रीति शब्द का कोशगत अर्थ है- 'गमन प्रणाली'- अर्थात् जिससे जाया जाय या गतिशील हुआ जाय, वह रीति है। रीयते गम्यतेऽनेन इति रीति:। मार्ग, पन्थ, पद्धति, प्रणाली, शैली, ढंग, प्रकार, तरीका आदि इसके प्रयोगमूलक अर्थ हैं। अंग्रेजी का 'स्टाइल' शब्द भी रीति के अर्थ में प्रयुक्त किया

जाता है। स्टाइल का कोशगत अर्थ है-तरीका, काम करने का ढंग, अभिव्यक्ति का एक प्रकार, आचरण, प्रणाली, ढब, तर्ज, रीति, प्रथा, रिवाज, फैशन, बनावट,डिजाइन, वाक्यरचना का वह ढंग जो लेखक की भाषा सम्बन्धी निजी विशेषताओं का सूचक होता है।

ऋग्वेद में रीति शब्द धारा-महावरीति: शवसासारत् पृथक् (ऋ.1/28/14), गति - वातेवाजुर्यानद्येवरीति:(ऋ.2/39/5)के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। आचार्य भरत रीति को प्रवृत्ति, भामह ,दण्डी, कुन्तक आदि- मार्ग, मम्मट तथा पण्डितराज जगन्नाथ वृत्ति आनन्दवर्धन रीति को संघटना कहते हैं। राजशेखर रीति,प्रवृत्ति और वृत्ति में घनिष्ठ सम्बन्ध स्थापित करते हुए वेषविन्यासक्रम को प्रवृत्ति, विलासविन्यासक्रम को वृत्ति और वचनविन्यासक्रम को रीति कहते हैं (भारतीय साहित्यशास्त्र कोश)।

आइए, रीति के विषय में स्पष्टत: जानने के लिए काव्य की शैली के सन्दर्भ में आचार्यों द्वारा वर्णित प्रवृत्ति, वृत्ति, मार्ग आदि के विषय में जानें।

5.3.1 रीति

आचार्य वामन ने रीति शब्द का प्रयोग विशिष्ट पदरचना के अर्थ में किया है- विशिष्टपदरचनारीति: (काव्यालंकारसूत्रवृत्ति, 3/2/15)। उनकी दृष्टि में रीति काव्य का सर्वोच्च तत्व है। वामन ने शब्द गुम्फ को रीति का बहिरंग तत्व और गुण, रस, अलंकार तथा दोषाभाव को उसका अन्तरंग तत्त्व माना है। इसीलिए रीति को विशिष्ट पदरचना और पदरचना में गुणों की अनिवार्यता को स्वीकार किया और रीति का विभाजन देशभेद के आधार पर किया है। वैसे पदरचना के वर्गीकरण का प्रयास आरम्भ से ही आचार्यों ने भिन्न -भिन्न रूपों में किया है। पदरचना के अतिरिक्त विभिन्न प्रदेशों के आचार-विचार तथा रहन-सहन के वर्गीकरण का प्रयास भी मिलता है। भरतमुनि के नाट्यशास्त्र में प्रवृत्ति के नाम से यह वर्गीकरण प्राप्त होता है। उन्होंने आवन्ती, दाक्षिणात्य, पांचाली और औड्रमागधी - ये चार प्रकार की प्रवृत्तियाँ मानी थीं और इनके द्वारा यह निर्देश किया था कि इन-इन प्रदेशों के लोग किस प्रकार का आचार-व्यवहार करते हैं।

नाट्यशास्त्र में भरतमुनि ने नाट्यवृत्तियों का निर्देश नाट्य की माता के रूप में किया है। ये नाट्यवृत्तियाँ विविधप्रकार की नाट्यशैलियाँ ही हैं। आगे चलकर इसी आधार पर काव्य-वृत्तियों का आविष्कार हुआ। काव्यवृत्तियों के वर्गीकरण का आधार शैली ही है। काव्यशास्त्र के आदि आचार्य भामह के समय में काव्यप्रकारों का वर्गीकरण प्रदेशों के आधार पर किया जाता था। उनके समय में वैदर्भ और गौड दो प्रकार के काव्य प्रचलित थे। वैदर्भ को गौड़ की अपेक्षा श्रेष्ठ माना जाता था। भामह ने इस प्रकार का भेद नहीं माना और स्पष्ट कहा कि वैदर्भी काव्य स्पष्ट, लघु और कोमल होते हुए भी

यदि पुष्टार्थ और वक्रोक्ति से युक्त नहीं है तो वह मात्र श्रुतिमधुर होगा। इसके विपरीत अलंकारयुक्त ग्राम्यता रहित अर्थवान्,न्याय्य और जटिलतारहित गौडीय काव्य भी श्रेष्ठ होगा ।

दण्डी ने वैदर्भ और गौड़ को मार्ग नाम दिया है और गौडी़ की अपेक्षा वेदर्भी को श्रेष्ठ माना है। आचार्य कुन्तक ने काव्यमार्गों का उललेख किया है, किन्तु उनका वर्गीकरण प्रदेशों के आधार पर नहीं है। उनके अनुसार केवल तीन मार्ग हैं- सुकुमार, विचित्र और मध्यम। उनका मानना है कि देशभेद के आधार पर मार्गभेद उचित नहीं। उसका आधार कवियों का स्वभावभेद ही होना चाहिए। यद्यपि कवियों का स्वभाव अलग-अलग होता है, इसलिए मार्ग भी अनन्त हो सकते हैं, लेकिन उनकी गणना असम्भव होने से तीन प्रकार के मार्ग ही मानना श्रेयस्कर है।

यहाँ यह बात साफ है कि काव्यरचना की शैली का वर्गीकरण विभिन्न प्रकार से किया जाता रहा है। देशभेद के आधार पर, कवि स्वभाव के आधार पर। रचनाकार अपने परिवेश, अपने संस्कारों से सदैव प्रभावित होता है, उसकी भाषा पर उसके देशकाल का प्रभाव निश्चित रूप से पढ़ता है और इसी आधार पर उसकी शैली में भी वैशिष्ट्य होता है और इसीलिए हम उसकी भाषा शैली से उसके स्थानादि से परिचित हो जाते हैं। इस वैशिष्ट्य को स्पष्ट करने के लिए ही संस्कृत के आचार्यों ने रीति, वृत्ति, प्रवृत्ति, मार्ग, संघटना आदि शब्दों का प्रयोग किया है।

5.3.2 वृत्ति

वृत्ति शब्द का सामान्य अर्थ जीविका का व्यापार है। पर काव्यशास्त्र में यह विशिष्ट अर्थ का वाचक है। वहाँ यह तीन विभिन्न अर्थों में प्रयुक्त होती है- 1.शब्दशक्तिके रूप में, 2. अनुप्रास अलंकार के उपनागरिका, परुषा तथा कोमला नामक प्रकारों के लिए और 3.नाट्यवृत्तियों के लिए। नाटक की वृत्तियों की कल्पना का मूल आधार वाचिक तथा आंगिक अभिनय है। समाज में प्राणियों के भाव या चेष्टाओं का अनुकरण काव्य में किया जाता है। इसीलिए भरतमुनि ने वृत्तियों को समस्त काव्यों की माता माना है- 'सर्वेषामिति काव्यानां काव्यस्य मातृका इति'। उन्होंने नायकादि की मन, वाणी और शरीर की विभिन्न प्रकार की चेष्टाओं को ही वृत्ति कहा है। वृत्तियाँ मुख्य रूप से चार हैं- भारती, सात्वती, कैशिकी तथा आरभटी। ये वृत्तियाँ नाट्यरचना में उपयोगी होती थीं(नाट्यशास्त्र,6/24-25)। दरअसल कवि का अभिप्रेत नाटक के माध्यम से रसोन्मीलन करना होता है और इस कार्य की साधिका वृत्तियाँ होती हैं। श्रंगार और हास्य रस में कैशिकी, वीर, रौद्र तथा अद्भुत रसों में सात्त्वती, करुण और अद्भुत रसों में भारती और भयानक और वीभत्स रसों में आरभटी का प्रयोग किया जाता है(भारतीय साहित्यशास्त्र कोश)। इसीलिए इन वृत्तियों को संघटना के धर्म विशेष माधुर्य, ओज आदि गुणों से अभिन्न कहा गया अत: इनकी स्वतन्त्र सत्ता समाप्त हो गई। आगे चलकर प्रतिहारेन्दुराज ने कहा कि

भामह द्वारा अनुप्रास नामक भेद के रूप में उपनागरिका तथा ग्राम्या नामक दो वृत्तियों की उद्भावना की गई थी (भामहो हि ग्राम्योपनागरिका वृत्तिभेदेन द्विप्रकारमेवानुप्रास व्याख्यातवान्- उद्भट के टीकाकार प्रतिहारेन्दुराज द्वारा 1/2 की लघुवृत्ति)। आचार्य रुद्रट ने पॉच वृत्तियाँ मानी-मधुरा, प्रौढा, परुषा, ललिता तथा भद्रा। किन्तु ये वृत्तियाँ मुख्यत: अनुप्रास से ही सम्बन्धित हैं। इन सभी वृत्तियों में रुद्रट ने विविध प्रकार के अक्षरों का विधान बताया है। मधुरा वैदर्भी रीति के या उपनागरिका वृत्ति के सदृश मानी जाएगी, भद्रा कोमला या ग्राम्या के सदृश और शेष तीनों वृत्तियाँ परुषा वृत्ति के समकक्ष मानी जाएंगी। इससे स्पष्ट है कि वृतियां दो प्रकार की हैं-1. नाट्यसम्बन्धी और 2. अनुप्राससम्बन्धी। प्रथम प्रकार की भारती आदि चार नाट्यवृत्तियाँ रसानुकूल अर्थ का सन्निवेश करती हैं और द्वितीय प्रकार की परुषा, उपनागरिका, ग्राम्या आदि रसानुरूप शब्दयोजना में सहायक होती हैं। वामन द्वारा वर्णित रीति वृत्ति ही है। हम कह सकते हैं कि रीति और वृत्ति में विशेष अन्तर नहीं है। वृत्तियों में अर्थयोजना पर अधिक महत्व दिया जाता है और रीतियों में शब्दयोजना पर। जिस प्रकार शब्द से अर्थ और अर्थ से शब्द पृथक् नहीं किये जा सकते, उसी प्रकार रीति और वृत्ति भी संयुक्त हैं।

5.3.3 प्रवृत्ति

प्रवृत्ति का प्रयोग सर्वप्रथम आचार्य भरतमुनि ने किया। भरत के अनुसार नाना देशों के वेश, भाषा तथा आचार का बखान करने वाली प्रवृत्ति है। इस प्रकार प्रवृत्ति केवल भाषा से ही सम्बन्धित न होकर वेश तथा आचार से भी सम्बन्धित है, जबकि रीति का सम्बन्ध केवल भाषा से ही है। प्रवृत्ति आचार-विचार से सम्बन्ध रखती है और रीति बोलने तथा लिखने से सम्बन्धित है। इस तरह प्रवृत्ति का आधार बाह्य है और रीति का आन्तरिक। प्रवृत्ति का आधार भौगोलिक है, रीति कविस्वभाव पर आधारित है। इसीलिए राजशेखर ने प्रवृत्ति को वेशविन्यास से सम्बन्धित-'वेशविन्यासक्रम: प्रवृत्ति:' कहा और रीति को वचन विन्यास से सम्बन्धित -'वचनविन्यासक्रमो रीति:' माना। राजशेखर ने काव्यमीमांसा के तीसरे अध्याय मे काव्यपुरुष की उत्पत्ति के प्रसंग में प्रवृत्ति,वृत्ति और रीतियों से सम्बन्धित एक रोचक कथा दी है। उनके अनुसार ब्रह्मलोक में किसी विषय पर ऋषियों और देवताओं में विवाद हो जाने पर ब्रह्मा ने निर्णयार्थ सरस्वती को ब्रह्मलोक भेज दिया। फिर सरस्वती को खोजने के लिए सरस्वती का पुत्र काव्यपुरुष चारों दिशाओं में गया। सर्वप्रथम वह पूर्वदेश में अर्थात् गोड़देश में गया, वहाँ गौड़ मागधी प्रवृत्ति, भारती वृत्ति और गौड़ीया रीति का प्रयोग काव्यरचना में होता है। फिर वह पांचाल देश में गया, जहाँ मध्यमा प्रवृत्ति, सात्वती या आरभटी वृत्ति और पांचाली रीति काव्य रचना में विशेषरूप से प्रयुक्त होती है। पांचाल देश से वह अवन्तिदेश में पहुँचा, जहाँ आवन्ती प्रवृत्ति, कैशिकी वृत्ति प्रयुक्त होती है, इसके बाद दक्षिण दिशा में जाने पर काव्यपुरुष ने पाया कि वहाँ दाक्षिणात्या प्रवृत्ति, कैशिकी वृत्ति

और वैदर्भी रीति में काव्यरचना होती है। काव्यपुरुष को साहित्यवधू पूर्व दिशाओं में उतना आकृष्ट नही कर पायी, जितना धीरे-धीरे पांचाल देश में और उससे कुछ अधिक और अन्त में दक्षिण दिशा में काव्यपुरुष साहित्यवधू के मोहपाश में आसक्त हो गया और उसने जिस वाणी का प्रयोग किया, वह वैदर्भी रीति ही है।

राजशेखर के रूपक के इस प्रसंग में वामन का यह मत पुष्ट होता है कि रीतियों का नामकरण उन उन देशों में इसी प्रकार की रचना की प्रधानता से हुआ। इसका आशय यह नहीं है कि जिस प्रकार विशिष्ट द्रव्य देश विशेष में उत्पन्न होते हैं, उसी प्रकार ये रीतियाँ भी देश विशेष में ही प्रयुक्त होती हैं। ये रीतियाँ किसी भी स्थान में प्रयुक्त हो सकती हैं, हाँ इनके नामकरण का आधार यह है कि जो जो काव्यगुण जिस स्थान की कविता में पाये जाते हैं, उन्हीं के आधार पर रीतियों का नामकरण कर दिया गया।

5.3.4 मार्ग

आचार्य कुन्तक का कहना है कि रीति का सम्बन्ध साक्षात् कवि से है, देश विशेष से नहीं। इसलिए उन्होंने रीति, वृत्ति या प्रवृत्ति के स्थान पर मार्ग शब्द का व्यवहार किया। उनके अनुसार काव्य में सुकुमार मार्ग, विचित्र मार्ग और मध्यम मार्ग- ये तीन मार्ग होते हैं। इन तीनों मार्गों की व्याख्या कुन्तक ने इस प्रकार की है- कवि की अम्लान प्रतिभा से उद्भिन्न, नवीन शब्द और अर्थ से मनोहर, अयत्नविहीन स्वल्प अलंकारों से युक्त पदार्थ के स्वभाव की रक्षा के लिए आहार्यकौशल की उपेक्षा करने वाला, रसादि परमार्थज्ञ, मन:संवाद सुन्दर सुकुमार मार्ग है। इस मार्ग से कविगण उसी प्रकार जाते हैं, जैसे फूलों से खिले वन में होकर भ्रमर। कहने का आशय यह है कि सुकुमार मार्ग वह मार्ग है, जो कवि की प्रतिभाशक्ति से सम्पन्न होने के कारण नये नये शब्दों और अर्थों से युक्त होता है, जिसमें अलंकारों का प्रयोग अनायास किया जाता है, प्रयत्नपूर्वक अलंकारों का प्रयोग नहीं किया जाता। यह मार्ग सहृदय के मन को मोहने वाला है। इसके विपरीत जहाँ कवि एक ही अलंकार से सन्तुष्ट न होकर मणियों के जड़ाव के समान एक के बाद एक अलंकार जोडते जाते हैं, वहाँ विचित्र मार्ग होता है। और जहाँ पुराने कवियों द्वारा वर्णित वस्तु भी केवल उक्तिवैचित्र्य मात्र से सौन्दर्य को प्राप्त कराई जाती है, वहाँ मध्यम मार्ग होता है। मध्यम मार्ग में सुकुमार और विचित्र दोनों मार्गों की सम्पत्ति समान रूप से होती है। इन तीनों मार्गों में सौभाग्य और औचित्य नामक दोनों गुण पद, वाक्य और प्रबन्ध तीनों में स्पष्ट और व्यापक रूप से रहते हैं।

कुन्तक ने वामन के द्वारा देशाश्रित रूप में विभाजित रीतियों के स्थान पर काव्याश्रित मार्गनिर्देश करके एक वैज्ञानिक विवेचन का स्तुत्य प्रयास किया है। उन्होंने एक तो देशों के आधार पर

रीति या मार्ग के वर्गीकरण का विरोध किया है और दूसरे इस प्रकार वर्गीकृत की गई रीतियों में जो विभेद किया गया है कि वैदर्भी रीति सबसे श्रेष्ठ है और गौडी सबसे कमतर है- का भी विरोध किया है। उनका कहना है कि वैदर्भी रीति को श्रेष्ठ मानने पर अन्य रीतियाँ व्यर्थ हो जायेंगी और ऐसा कौन मनुष्य होगा जो उत्तम वस्तु को छोड़कर अधम या मध्यम को ग्रहण करेगा, क्योंकि काव्यरचना कोई दरिद्र का दान नहीं है।

स्पष्ट ही कुन्तक का वर्गीकरण वामन की अपेक्षा अधिक वैज्ञानिक है। उनके अनुसार तीन प्रकार की काव्यशैलियाँ हो सकती हैं। एक में वस्तु में सहज सौन्दर्य का उन्मेष होता है तो दूसरे में अलंकारों द्वारा सामान्य वस्तु को भी खराद पर चढ़ा कर चमकीला बनाया जाता है और तीसरी में सहज एवं यत्नसाध्य दोनों प्रकार के सौंदर्य का समन्वय होता है। इस प्रकार कुन्तक के अनुसार सहज, अलंकृत और सहजालंकृत ये तीन प्रकार की शैलियाँ हो सकती हैं। निश्चय ही वामन इतनी स्पष्टता के साथ वैदर्भी, गौड़ी और पांचाली रीतियों के स्वरूप का उद्घाटन ही कर सके हैं, फिर भी इतना तो कहा ही जा सकता है कि वामन ने अपने पूर्ववर्ती भरत, भामह और दण्डी की शैलीविभाजन की परम्परा को अधिक व्यवस्थित स्वरूप प्रदान किया और आगे आने वाले कुन्तक जैसे आचार्यों के लिए मार्ग प्रशस्त किया, जिस पर चलकर वे अपने मार्गों की स्थापना कर सके।

क.बोध प्रश्न

1.रीति शब्द का कोशगत अर्थ बताइए।

2.रचना शैली के सन्दर्भ प्रयोग किये गये अन्य कौन कौन से शब्द हैं, संक्षेप में बताइए।

रिक्त स्थान की पूर्ति कीजिए -

1.कुन्तक रीति के लिए .....शब्द का प्रयोग करते हैं।

2.वामन के अनुसार रीतियों की संख्या..... है।

सत्य/ असत्य बताइए-

1.आचार्य भरतमुनि ने रीति के स्थान पर प्रवृत्तियों का उल्लेख किया है। (सत्य/असत्य)

2.रीति को काव्यात्मा के रूप में भामह ने प्रतिष्ठित किया। (सत्य/असत्य)

निम्न लिखित में सही विकल्प बताइए-

1.विशिष्ट पदरचना रीति है, यह कथन है-

क.आचार्य भरत ख;आचार्य वामन ग.आचार्य कुन्तक घ. आचार्य दण्डी

2.काव्यालंकारसूत्रवृत्ति के रचनाकार हैं-

क.आचार्य भरत ख.आचार्य दण्डी ग. आचार्य मम्मट घ. उपर्युक्त में से कोई नहीं।

3.निम्नांकित प्रवृत्तियों का सही क्रम बताइए-

क.पांचाली 1. पूर्व

ख.आवन्ती 2. पश्चिम

ग.दाक्षिणात्य 3. दक्षिण

घ.गौड़ मागधी 4.उत्तर

5.4 भारतीय काव्यशास्त्र में रीति का स्वरूप

उपर्युक्त वर्णन के आधार पर हम यह समझ चुके हैं कि वामन के द्वारा रीतिसिद्धान्त की स्थापना करने से पहले भारतीय काव्यशास्त्र में रीति विषयक चिन्तन प्रवृत्ति, मार्ग, वृत्ति आदि के रूप में हो चुका था। वामन की रीति विषयक मान्यताओं को समझने से पहले वामन के पूर्ववर्ती आचार्यों की मान्यताओं पर दृष्टि डालना जरूरी है।

भारतीय काव्यशास्त्र के आदि ग्रन्थ नाट्यशास्त्र में रीति का उल्लेख स्पष्ट रूप से तो नहीं है, किन्तु उसमें चार प्रवृत्तियों का उल्लेख अवश्य मिलता है, जिसमें रीति का पूर्वाभास खोजा जा सकता है। भरत के अनुसार नाट्यप्रयोगों के लिए आवन्ती, दाक्षिणात्य, पांचाली तथा गौड़मागधी - ये चार प्रवृतियाँ हैं। आवन्ती पश्चिम से, दाक्षिणात्य दक्षिण से, पांचाली उत्तर से और गौड़ मागधी पूर्व से सम्बन्धित है।प्रवृत्ति की परिभाषा देते हुए भरत ने कहा है कि पृथ्वी के नाना देशों के वेश, भाषा, आचार और वार्त्ता का जो कथन करती है, उसे प्रवृत्ति कहते हैं - 'पृथिव्यां नानादेशवेशभाषाचारवार्त्ता: प्रवृत्ति:'। इस प्रकार भरतोक्त प्रवृत्ति के अन्तर्गत अनेक देशों के आचार, विचार, रहन-सहन इत्यादि का ज्ञान आ जाता है। इसके साथ ही भरत ने गुण, दोष, लक्षण आदि के विवेचन में उन सभी तत्त्वों को अन्तर्हित कर लिया है, जो आगे चलकर रीति के आधारभूत तत्त्व सिद्ध हुए। यद्यपि वामन के द्वारा वर्णित रीति केवल भाषा से सम्बन्ध रखती है, फिर भी ऐसा अनुमान लगाया जा सकता है कि रीति की परिकल्पना प्रवृत्ति के आधार पर ही की गई होगी। अर्थात् हो सकता है कि भरत के नाट्यशास्त्र में प्रवृत्तियों का उल्लेख देखकर परवर्ती विद्वानों के मन में यह विचार आया हो कि काव्यभाषा और शैली का विवेचन ही प्रदेशगत आधार पर किया जा सकता है। यद्यपि कुन्तक ने यह कहकर कि यह मातुलेय भगिनि से विवाह की जैसी प्रथा नही है,जो देशाचार के रूप में स्वीकार की जा सके' देशभेद के आधार पर रीतियों के वर्गीकरण को अस्वीकार किया है, किन्तु हम देशभेद के आधार पर किये गए वर्गीकरण के महत्व को नकार नहीं सकते हैं।

आज भी हम अंग्रेजी कविता की विशेषताएं, बंगला साहित्य की विशेषताएं आदि कहकर देशभेद को स्वीकार करते हैं। बाणभट्ट ने हर्षचरित के प्राक्कथन में देशभेद पर आधारित रीतियों की विशेषता बताई। उनका कहना है कि उत्तर के लोग श्लेषमयी रचना करते हैं, पश्चिम के लोग साधारण अर्थ तक ही अपने को सीमित रखते हैं, दाक्षिणात्यों की शैली उत्प्रेक्षा प्रधान है और गौड(बंगाली) लोग आडम्बरपूर्ण शैली को पसन्द करते हैं किन्तु बाण इनमें से किसी एक को पसन्द करने के पक्षपाती नहीं हैं, उनको सभी गुणों का समन्वय अच्छा लगता है और ऐसी शैली को वे दुर्लभ कहकर कवि की कसौटी मानने का संकेत देते हैं।(हर्षचरितम् 1/7-8)

भामह के काव्यलंकार में रीतियों का स्पष्ट उल्लेख मिलता है, किन्तु उन्होंने रीति शब्द का प्रयोग न करके काव्य शब्द का प्रयोग किया है। उन्होंने काव्यभेदों के अन्तर्गत वैदर्भ और गौड़ की चर्चा की और कहा कि अन्यों के मत से वैदर्भ और गोड़ में अन्तर है , किन्तु हमारे मत में वैदर्भ ही गौडीय है। दोनों को अलग-अलग मानना गड्डलिकाप्रवाह है। भामह ने इस प्रकार श्रेष्ठ काव्य को ही महत्ता प्रदान ही है। उनका निर्भ्रान्त मत है कि अलंकारयुक्त, अग्राम्या, अर्थवान्, न्याय्य, अनाकुल गौडीय मार्ग भी श्रेष्ठ है और इन गुणों से रहित वैदर्भ मार्ग भी श्रेष्ठ नहीं है। भामह के सम्बन्ध में एक बात उल्लेखनीय है कि उन्होंने गुणों की स्वतन्त्र रूप से विवेचना ही है। उनकी दृष्टि में गुणों का सम्बन्ध वैदर्भ और गौड़ काव्यों से नहीं , अपितु सत्काव्य मात्र से है।

रीति का सबसे व्यवस्थित विवेचन दण्डी से मिलता है। यद्यपि रीति शब्द का प्रयोग उन्होंने भी नहीं किया है। दण्डी के अनुसार परस्पर अत्यन्त सूक्ष्म भेद वाले वाणी के अनेक मार्ग हैं। इनमें से वैदर्भी और गोड़ीय मार्गों का अन्तर स्पष्ट है। श्लेष, प्रसाद, समता, माधुर्य, सौकुमार्य, अर्थव्यक्ति, उदारत्व, ओज, कान्ति और समाधि-ये दशगुण वैदर्भमार्ग के प्राण हैं। गोड़ मार्ग में प्राय: इनका विपर्यय लक्षित होता है।(काव्यादर्श,1/40-42)।

रीति विषयक इस ऐतिहासिक क्रम का अध्ययन करने पर ज्ञात होता है कि संस्कृत काव्यशास्त्र में रीति के विकास की चार अवस्थाएं दिखाई पड़ती हैं। सबसे आरम्भ में रीति का सम्बन्ध भौगोलिक आधार पर किया गया। आचार्य भरतमुनि, बाणभट्ट आदि के समय में रीतियों का आधार भौगोलिक परिक्षेत्र ही है। इसके उपरान्त रीतिनिर्धारण की भौगोलिक सीमाओं की अपेक्षा काव्य विषय और अन्य काव्यगुणों के आधार पर रीतियों का निर्धारण किया जाने लगा। तीसरी अवस्था में कुन्तक आदि के समय में काव्य की शैलियों का निर्धारण कविस्वभाव के आधार पर हुआ और वामन, आनन्दवर्धन, रुद्रट आदि के समय तक आते-आते रीति का मूलाधार समास, गुण, रस आदि ठहराए गए। वामन ने रीति को काव्य की आत्मा कहा। किन्तु वामन ने इसे आत्मतत्व के रूप में जो प्रतिष्ठा

दी, वह आनन्दवर्धन आदि को स्वीकार्य नहीं हुई और उन्होंने तथा अन्य रस-ध्वनिवादियों ने रीति को रस का उपकारक मानकर रसाभिव्यक्ति के साधन के रूप में स्वीकार किया गया।

ख. बोध प्रश्न

1.संस्कृत काव्यशास्त्र में रीति के चार आधार कौन कौन से हैं, बताइए।

2.देशभेद के आधार पर रीतियों का विभाजन करना उचित है या कवि स्वभाव के आधार पर।

5.5 आचार्य वामन और रीति सिद्धान्त

आचार्य वामन का स्थान काव्यशास्त्र के क्षेत्र में केवल रीति सम्प्रदाय की दृष्टि से ही नहीं, अपितु अन्यान्य सम्प्रदायों की दृष्टि से भी अत्यन्त महत्पूर्ण है, क्योंकि सर्वप्रथम वामन ने ही काव्यात्मा के अनुसन्धान का सूत्रपात किया और भारतीय काव्यशास्त्र में काव्य के आत्मतत्त्व के रूप में रस, अलंकार, रीति, वक्रोक्ति, ध्वनि और औचित्य सिद्धान्त और सम्प्रदायों का अनुसन्धान हुआ। रीति शब्द की परिभाषा और स्वरूप की व्याख्या करने के कारण ही वामन को रीति सम्प्रदाय का संस्थापक माना जाता है। यद्यपि इससे पूर्व भी भामह और दण्डी ने रीति की चर्चा अवश्य की है। पर रीति को काव्य की आत्मा के रूप में वामन ने ही प्रतिष्ठित किया । रीति के सन्दर्भ में वामन का कहना है कि -

रीतिरात्मा काव्यस्य (काव्यालंकारसूत्रवृत्ति, 1/2/6)- काव्य की आत्मा रीति है।

विशिष्ट पदरचना रीति:(का.सू.वृ.,1/2/7)- वह रीति विशिष्ट पदरचना है।

विशेषो गुणात्मा (का.सू.वृ.,1/2/8)-विशिष्ट का अर्थ गुणों की सम्पन्नता से है।

काव्यशोभाया: कर्त्तारौ धर्मा गुणा: (का.सू.वृ.,3/11)-गुण काव्य में शोभा को उत्पन्न करने वाले हैं।

इन गुणों को वामन ने शब्द गुण और अर्थगुण के रूप में विभक्त किया है। अत: वामन के मत में शब्द तथा अर्थ के चमत्कार या सौन्दर्य से युक्त पदरचना ही रीति है। इसीलिए गुण काव्य में नित्य हैं। अलंकार अनित्य। अतएव नित्य गुणों को ही वामन रीति का प्रधान तत्त्व स्वीकार करते हैं।

वामन का मानना है कि कवि का उपास्य तत्त्व है- रमणीयता। और रमणीयता को ध्यान में रखकर वह काव्यरचना करता है। यह रमणीयता शब्द में भी है और अर्थ में भी। वामन के अनुसार शब्दगुण शब्द की रमणीयता को प्रकट करते हैं और अर्थगुण अर्थ की रमणीयता को। इन्हें शब्द चमत्कार और अर्थ चमत्कार भी कहा जा सकता है।

स्पष्ट है कि रीतियों का आधार गुण हैं अत: रीति को जानने से पहले गुणों के विषय में जानना आवश्यक है।

6.5.1 काव्यगुण-

भारतीय काव्यशास्त्र में काव्यगुणों पर काव्यशास्त्रीय चिन्तन के आरम्भ से ही विचार किया जाने लगा था। सामान्यत: गुण का अर्थ है- विशेषता, श्रेष्ठता, दोषाभाव, उत्तमता स्वभाव, आकर्षक तथा शोभाकारक धर्म। काव्य के सन्दर्भ में गुण काव्यसौन्दर्य के आवश्यक उपादान हैं। वामन अलंकारों और गुणों को पृथक् पृथक् मानते हुए गुणों को काव्यशोभा को करने वाले उत्पादक धर्म और अलंकारों को काव्यशोभा को बढ़ाने वाले तत्त्व कहकर यह मानते हैं कि अलंकारों के बिना काम चल जाएगा क्योंकि अलंकार काव्य के अनित्य धर्म हैं, किन्तु गुणों के बिना काव्य में शोभाधान नहीं हो सकता-

'काव्यशोभाया: कर्त्तारो धर्मा: गुणा: तदतिशयहेतवस्त्वलंकारा:। ये खलु शब्दार्थयो: धर्मा: काव्यशोभां कुर्वन्ति ते गुणा:। ते चौज: प्रसादय: ..... ओज: प्रसादादीनां तु केवलानामस्ति काव्यशोभाकरत्वमिति। पूर्वे नित्या:। पूर्वेगुणा: नित्या:। तैर्विना काव्यशोभानुपपत्ते। (का.सू.वृ. 3/1/1-3)। वामन ने गुणों को रस का धर्म नहीं, शब्दार्थ का धर्म मानते हुए काव्य में उसकी स्वतन्त्र सत्ता स्वीकार की। हालॉकि बाद में ध्वनिवादी आचार्यों ने रस को काव्य की आत्मा मानकर गुणों को रस का अपरिहार्य और उत्कर्षाधायक धर्म माना। मम्मट ने काव्यप्रकाश में गुण को इस रूप में पारिभाषित किया-

'ये रसस्यांगिनो धर्मा: शौर्यादय: इवात्मन:।
उत्कर्षहेतवस्ते स्युरचलस्थितयो: गुणा:।।(काव्यप्रकाश, 8/66)

जैसे शौर्य आदि आत्मा के धर्म हैं, इसी तरह गुण काव्य के अंगी रस के धर्म हैं और काव्य के उत्कर्षाधायक ये धर्म सदैव रस में रहते हैं।आचार्य भरतमुनि से लेकर आधुनिक काल तक गुण विषयक अनेक उद्भावनाएं हुई हैं और यह बात सर्वस्वीकार्य है कि काव्यगुण काव्यसौन्दर्य के आवश्यक उपादान हैं और काव्य के नित्य धर्म हैं। यह हम पहले ही जान चुके हैं कि वामन की रीति का आधार ये गुण ही हैं। इन रीतियों को समझने के लिए काव्यगुणो के भेदों पर विचार करना भी आवश्यक है। इस विषय मे आचार्यों में मतभेद है। आचार्य भरतमुनि ने काव्यगुणों की संख्या दस निर्धारित की। ये दस गुण हैं- श्लेष, प्रसाद, समता, समाधि, माधुर्य, ओज, सुकुमारता, अर्थव्यक्ति और उदारता।

'श्लेष: प्रसाद: समता समाधि माधुर्यमोज: पदसौकुमार्यम्।
अर्थस्य च व्यक्तिरुदारता च कान्तिश्च कायार्थगुणा: दशैते।। -नाट्यशास्त्र,17/69

आचार्य मम्मट द्वारा वर्णित इन दस गुणों को वामन ने शब्द ओर अर्थ के आधार पर बीस भेद कर दिये। भामह, आनन्दवर्धन, मम्मट, विश्वनाथ पण्डितराज जगन्नाथ ने इन दस गुणों का अन्तर्भाव प्रसाद, माधुर्य और ओज- इन तीन गुणों में कर दिया। दूसरी ओर अग्निपुराणकार ने काव्यगुणों के शब्दगत

(श्लेष, लालित्य,गाम्भीर्य, सुकुमारता, उदारता, सत्य, यौगिकी), अर्थगत(माधुर्य(संविधान, कोमलता, उदारता, प्रौढ़ि, सामयिकता) तथा शब्दार्थगत(प्रसाद, सौभाग्य, यथासंख्य, उदारता, पाक तथा राग) - अर्थात् उन्नीस काव्यगुणों की चर्चा की है। कुन्तक औचित्य तथा सौभाग्य नामक दो साधारण गुणों और माधुर्य, प्रसाद, लावण्य और आभिजात्य नामक चार विशेष गुणों का उल्लेख करते हैं। भोज के अनुसार गुण 24 हैं और इनके बाह्य, आभ्यन्तर और वैशेषिक रूप से विभाजन करने पर काव्यगुणों की संख्या 72 ठहरती है। गुणों की संख्या के विषय में इस वैभिन्न्य से यह सिद्ध होता है कि काव्यशास्त्रियों ने गुणों के विषय में अत्यन्त विस्तार से विचार किया है। भरतोक्त दस गुण ओर ध्वनिवादियों के द्वारा वर्णित तीन-प्रसाद, ओज ओर माधुर्य की विशेष चर्चा हुई अत: वामन द्वारा वर्णित बीस गुणों का यहाँ परिचय दिया जा सकता है। वामन द्वारा वर्णित गुणों के प्रकार ये हैं:

काव्य के गुण

शब्दगुण अर्थगुण

5.5.2 शब्दगुण

वे गुण, जो शब्दों पर आधारित हों, शब्दगुण हैं। दस शब्दगुणों का संक्षिप्त परिचय इस प्रकार है- रचना की गाढ़बन्धता ओज है। इसमें संयुक्त, रेफबहुल वर्णों का प्राधान्य रहता है। जहाँ ओज के साथ शिथिलता मिली हो, वहाँ प्रसाद गुण होता है। श्लेष गुण वहाँ होता है, जहाँ अनेक पद एकदूसरे से जुड़े प्रतीत हों। जिस शैली मे काव्यरचना आरम्भ की जाय, अन्त तक उसका निर्वाह हो, वहाँ समता है। उतार-चढ़ाव के ठीक ठीक नियमों का पालन होने पर समाधि गुण होता है। जहाँ समास रहित पदों का प्रयोग हो, वहाँ माधुर्य और जहाँ अक्षर-विन्यासादि में परुषता का अभाव हो, वहाँ सौकुमार्य गुण होता है। अर्थ स्पष्ट हो और उसकी तुरन्त प्रतीति हो, तो अर्थव्यक्ति और रचनाशैली की नवीनता होने पर कान्ति नामक शब्दगुण होता है।

5.5.3 अर्थगुण

वे गुण, जो अर्थ से सम्बन्धित हों, अर्थगंण हैं। अर्थप्रौढ़ि ओजगुण है। यानी कवि को यह मालूम होना चाहिए कि बात को कहाँ विस्तार से कहना है ओर कहाँ संक्षेप में, यह कला ही अर्थप्रोढि है। अर्थ की निर्मलता को प्रसाद गुण कहा जाता है। विशिष्ट प्रकार की संघटना यानी क्रम, कुटिलता, प्रसिद्ध वर्णन की शैली और युक्त विन्यास के योग में श्लेष तथा अवैषम्य समता अर्थात् सुगमता नामक अर्थगुण है। नवीन अर्थ के अवलोकन की शक्ति समाधि है। उक्तिवैचित्र्य माधुर्य और कठोरता का अभाव सौकुमार्य है। अग्राम्यत्व या वाग्वैदग्ध्य में उदारता है और पदार्थों का स्पष्ट वर्णन अर्थव्यक्ति है। भरतोक्त श्रृंगारादि रसों का जहाँ पूर्ण परिपाक हो, वहाँ कान्ति गुण कहलाता है। इन

शब्द और अर्थगुणों तथा रीति का अविभाज्य सम्बन्ध भारतीय काव्यशास्त्र में माना गया है। काव्य में गुणों की महत्ता अक्षुण्ण है। वे काव्य में अनिवार्यत: शोभा का आधान करने वाले हैं, शब्दार्थ की शोभा के हेतु हैं, रस के उत्कर्षाधायक हैं अत: काव्य की उत्कृष्टता के भी हेतु हैं।

5.5.4 रीतियॉ

- काव्यगुणों के आधार पर वामन ने तीन रीतियाँ मानी हैं-वैदर्भी , गौड़ी , पांचाली

इन रीतियों में से वैदर्भी को वामन समग्रगुणा और सब गुणों में श्रेष्ठ मानते हैं। गौड़ी में ओज और कान्ति- दो गुण होते हैं ओर पांचाली में माधुर्य और सौकुमार्य। वामन का मानना है कि समग्रगुणा वैदर्भी रीति की प्रशंसा कवियों के द्वारा की गई है। प्रशंसा का कारण यह है कि इस रीति में काव्यदोषों का अभाव और वीणा के स्वर के सदृश श्रवण मनोहरता होती है-

अस्पृष्टा दोषमात्राभि: समग्रगुणगुम्फिता।
विपंचीस्वरसौभाग्या वैदर्भीरीतिरिष्यते।। (काव्यालंकारसूत्रवृत्ति,1/2/11)

वैदर्भी रीति में सुकुमार वर्णयोजना होती है। ट, ठ, ड, ढ जैसे कठोर वर्णों का प्रयोग वैदर्भी रीति में वर्जित है। श्रृंगार, करुण, आदि कोमल रसों के लिए यह रीति सर्वथा उपयुक्त है। यथा-

कंकन किंकिनि नूपुर धुनि सुनि, कहत लखन सम राम हृदय गुनि।

तुलसीदास की इन पंक्तियों में समासरहित पदयोजना है, कोमल पदावली का प्रयोग है, कठोर वर्णों का प्रयोग नहीं किया गया है, अत: यहाँ वैदर्भी रीति है। गौडी रीति में ओज और कान्ति ये दो ही गुण पाये जाते हैं। वामन के अनुसार इस रीति में माधुर्य और सौकुमार्य गुणों का अभाव होने के कारण समासबहुलता होती है और कठोर वर्णों का प्रयोग होता है (का.सू.वृ.,1/2/12)। जैसे-

आज का तीक्ष्ण-शर-विधृत शिप्रकर वेग प्रखर।
शतशेल सम्वरण शील नील नभ गर्जित स्वर।। -निराला, राम की शक्तिपूजा

इस उदाहरण से स्पष्ट है कि गौडी रीति का प्रयोग वीर, रौद्र, भयानक आदि रसों की अभिव्यक्ति के लिए उत्तम है। इसमें माधुर्य गुण का पूर्णत: अभाव होता है ।पांचाली रीति में माधुर्य और सौकुमार्य गुणों का विधान रहता है। छोटे छोटे समास होते हैं। (का.सू.वृ.,1/2/13)।यह मध्यम स्तर की रीति मानी गई है। उदाहरणत:-

विजन वन वल्लरी पर
सोती थी सुहाग भरी स्नेह स्वप्न मग्न
अमल कोमल तरुणी जूही की कली। -निराला, जूही की कली

वामन के अनुसार इन तीन रीतियों में काव्य उसी प्रकार समाविष्ट हो जाता है जैसे रेखाओं भीतर चित्र प्रतिष्ठित होता है- 'एतासु तिसृषु रीतिषु रेखास्विव, चित्रं काव्यं प्रतिष्ठितमिति'(का.सू.वृ.,1/2/13)। वामन के अनुसार वैदर्भी, गौड़ी और पांचाली- इन तीनों रीतियों में से सर्वगुणसम्पन्न होने के कारण कवियों को वैदर्भी रीति में ही रचना करनी चाहिए। अन्य रीतियों में कुछ ही गुण पाये जाते हैं, अत: इन रीतियों से युक्त काव्य आह्लादकारी नहीं होता, जितना वैदर्भी के प्रयोग से आनन्दित होता है। कुछ विद्वानों के अनुसार गोड़ी और पांचाली रीतियों का प्रयोग वैदर्भी रीति तक पहुँचने में सहायक होता है। वामन इस मत का दृढता से खण्डन करते हुए कहते हैं -जिस प्रकार सन की सुतली बॉटने वाला अभ्यासी तसर या रेशम के सूत को बुनने में दक्षता प्राप्त नहीं कर सकता है, उसी प्रकार ये दोनों रीतियाँ वैदर्भी रीति के प्रयोग में सहायक नहीं हो सकती हैं, क्योंकि अतत्त्व का अभ्यासी व्यक्ति तत्त्व को कभी प्राप्त नहीं कर सकता। वामन के मत में वैदर्भी के माध्यम से सामान्य अर्थ भी सुस्वाद्य हो जाता है और अर्थगुण सम्पदा से युक्त वैदर्भी रीति के प्रयोग में तो अतिविशिष्टता आ ही जाती है। वामन के रीति विषयक विचारों का विश्लेषण करने पर हम कह सकते हैं कि वामन की दृष्टि कवि को काव्यरचना का मर्म समझाने की रही है, जिसके तहत वे रीति को काव्य की आत्मा मानते हैं। कहने का आशय यह है कि काव्यशिल्प के विषय में जानकर ही कवि श्रेष्ठ रचना कर सकता है। उसकी कथनपद्धति ही काव्य में रस का समावेश कर सकती है, अत: रीति के विषय में जानना अत्यावश्यक है। इस सन्दर्भ में यह भी ध्यातव्य है कि वामन ने काव्यांग विवेचन करते हुए लोक, विद्या और प्रकीर्ण के विषय में जो चर्चा की है, उसके द्वारा वे यह स्पष्ट करते हैं कि विविध विषयों का ज्ञान पाकर जब रचनाकार विभिन्न शास्त्रों का अभ्यास कर लेता है और गुरुजनों की सेवा में रहकर काव्य रचना के लिए अभ्यास कर लेता है, तब रीति की सहायता से या यों कहें कि 'कवित विवेक' से काव्यरचना में समर्थ होता है। अत: रीति काव्य का अनिवार्य तत्त्व है।

ग.बोध प्रश्न

1.रीति और गुण में अन्तर बताइए।

2.रीतियाँ कितने प्रकार की हैं, वामनोक्त रीतियों के विषय में बताइए।

सत्य/असत्य बताइए-

1.रीतिसिद्धान्त के प्रवर्तक वामन हैं।

(क)सत्य (ख)असत्य

2निम्नलिखित में से असत्य कथन छॉटिए-

क.नियत वर्ण व्यापार को वृत्ति कहा जाता है।

ख.वैदर्भी रीति का मूल आधार ओज गुण होता है।
ग.पांचाली रीति में माधुर्य और सौकुमार्य गुण होते हैं।
घ.कवियों को वैदर्भी रीति में रचना करनी चाहिए।
3. गौडी रीति सम्पन्न है-
क. सभी शब्द और अर्थ गुणों से ख.ओज और कान्ति गुण से
ग.प्रसाद, माधुर्य और ओज गुण से घ.सौकुमार्य गुण से।
4.गुणों का सम्बन्ध है-
क.रीति से ख.अलंकार से ग.रस से घ.उपर्युक्त तीनों से।

5.6 काव्यात्मा और रीतिसिद्धान्त

काव्य के अनिवार्य सारतत्त्व के अनुसंधान के लिए आचार्य आरम्भ से ही यत्नशील रहे थे, किन्तु काव्यात्मा की स्फुट रूप से प्रतिष्ठा आचार्य वामन ने की और रीति को काव्य की आत्मा कहा। वामन के उपरान्त रुद्रट, आनन्दवर्धन, कुन्तक, राजशेखर आदि आचार्यों ने रीति सिद्धान्त के विकास में महत्वपूर्ण योगदान दिया। हिन्दी के रीतिकालीन आचार्यों में केशवदास ने रस की दृष्टि से भरत की चार वृत्तियों का निरूपण किया। चिन्तामणि ने कविकल्पतरु में रीति को काव्यपुरुष का स्वभाव ओर वृत्ति को उसका व्यवहार कहा। कुलपतिमिश्र ने रसरहस्य में गुणों और वृत्तियों का उल्लेख किया है। आधुनिक युग में महावीर प्रसाद द्विवेदी, श्यामसुन्दरदास, आचार्य रामचन्द्रशुक्ल, बाबू गुलाबराय, डॉ. नगेन्द्र आदि ने रीति के सन्दर्भ में विचार किये हैं। पर रीति को बाद के आचार्यों ने काव्य की आत्मा नहीं माना और यह कहा कि रीति काव्य का अनिवार्य तत्व तो है, लेकिन वह काव्य का साधन है, साध्य तो रस ही हो सकता है।

5.7 रीति और पाश्चात्य साहित्यशास्त्र

पश्चिम में विषयानुरूप शैली के प्रयोग के सन्दर्भ में समय समय पर विद्वानों ने विचार किये हैं। अरस्तू ने स्तुति, करुणा, प्रोत्साहन आदि भावों के आधार पर शैली में परिवर्तन का निर्देश किया है। डेमेट्रियस ने शैली के सन्दर्भ में लिखा है कि कुछ ऐसे विषय होते हैं, जिनमें ओजस्विनी शैली अधिक उपयुक्त होती है। लांजाइनस महान शैली को आत्मा की प्रतिध्वनि मानते हैं। शॉपेनहावर स्पष्टता, सुन्दरता और शक्ति सम्पन्न शैली को काव्य के लिए अनिवार्य मानते हैं।

ध्यातव्य है कि पश्चिम में रिचर्डस की अर्थमीमांसा पद्धति, नयी समीक्षा, शैलीविज्ञान और उत्तर आधुनिक विचारधारा में शैली के सन्दर्भ में विस्तार से चर्चा निरन्तर होती रही है। पश्चिम की नव्य आलोचना का सिद्धान्त सूत्र है -'Poetry is a language in different form' वामन के सूत्र -विशिष्ट पदरचनारीति: के पर्याप्त सन्निकट है। शैलीविज्ञान और रीतिविज्ञान में समानता को परिलक्षित करते हुए ही विद्यानिवास मिश्र ने शैलीविज्ञान विषयक अपनी रचना का नाम ही रीतिविज्ञान रखा है।

5.8 सारांश

रीति सिद्धान्त का इतिहास वामन के द्वारा रीति को काव्यात्मा के रूप में प्रतिष्ठित करने से बहुत पहले से आरम्भ होता है। यद्यपि वामन बाद के आचार्यों ने रीति को काव्य की आत्मा के रूप में स्वीकार नहीं किया ओर उसे काव्य के साधन के रूप में ही स्वीकृति दी, लेकिन काव्य के सन्दर्भ में रचना वैशिष्ट्य के विषय में प्राचीन काल से अब तक विचार होता आया है, इससे रीति की महत्ता स्वत: स्पष्ट हो जाती है।

5.9 शब्दावली

शब्दगुम्फ -शब्दों का समूह

गड्डलिकाप्रवाह -भेड़चाल

समग्रगुणा- वामन के द्वारा वर्णित दस शब्दगुण तथा दस अर्थगुणों से सम्पन्न।

अतत्त्व का अभ्यासी- जिसका काज उसी को साजे।

5.10 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर

क.बोध प्रश्न के उत्तर

रिक्त स्थान की पूर्ति कीजिए -

1.कुन्तक रीति के लिए ...मार्ग.....शब्द का प्रयोग करते हैं।

2.वामन के अनुसार रीतियों की संख्या..बीस..... है।

सत्य/ असत्य बताइए-

1. (सत्य)

2. (असत्य)

निम्न लिखित में सही विकल्प बताइए-

1.ख.आचार्य वामन

2. घ. उपर्युक्त में से कोई नहीं।

3.निम्नांकित प्रवृत्तियों का सही क्रम बताइए-

क.पांचाली 1. मध्यदेश

ख.आवन्ती 2. पश्चिम

ग.दाक्षिणात्य 3. दक्षिण

घ.गौड़ मागधी 4.पूर्व

ख. बोध प्रश्न के उत्तर

1.संस्कृत काव्यशास्त्र में रीति के चार आधार 1.भौगालिक,2.काव्यविषय, 3.कविस्वभाव और4.समास, गुण, रस आदि

ग.बोध प्रश्न के उत्तर सत्य/असत्य बताइए-

1.(क)सत्य

2.ख.वैदर्भी रीति का मूल आधार ओज गुण होता है।

3. ख.ओज और कान्ति गुण से

4. क.रीति से

5.11 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

- मम्मट, काव्यप्रकाश, व्याख्याकार डॉ. सत्यव्रत सिंह, (1955)चौखम्बा विद्याभवन,चौक, बनारस-1,
- अमरनाथ, हिन्दी आलोचना की पारिभाषिक शब्दावली,(प्रथम संस्करण, 2009)राजकमल प्रकाशन, दिल्ली,
- गुप्त, राकेश एवं चतुर्वेदी,ऋषिकुमार, साहित्यानुशीलन, (प्रथम संस्करण, 1972)सरस्वती प्रेस, इलाहाबाद,
- सहाय, राजवंश हीरा, भारतीय-आलोचना-शास्त्र ,(2003)बिहार हिन्दी ग्रन्थ अकादमी, पटना,
- मिश्र, भगीरथ, काव्यशास्त्र (1966), विश्वविद्यालय प्रकाशन, वाराणसी

• ज़ैदी,शैलेश,शर्मा,गोपालबाबू, उपाध्याय, पशुपतिनाथ, अमिताभ,वेदप्रकाश (सम्पादक मण्डल), भारतीय काव्यचिन्तन (प्रथम संस्करण,2001), ग्रन्थायन, अलीगढ.
• वामन, काव्यालंकारसूत्रवृत्ति,
• टण्डन, नीरजा, शैलीविज्ञान, (1996),ईस्टर्न बुक लिंकर्स, दिल्ली-7

5.12 सहायक उपयोगी पाठ्य सामग्री

1.काव्यालंकार, 2. काव्यादर्श 3.ध्वन्यालोक 4.काव्यालंकारसूत्रवृत्ति 5.काव्यप्रकाश

5.13 निबन्धात्मक प्रश्न

1. क्या रीति को काव्य की आत्मा माना जा सकता है? विस्तृत विवेचन कीजिए
2. रीतिसिद्धान्त के ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य में प्रकाश डालिए तथा बीस गुणों के विषय में विस्तार से बताइए।

इकाई 6 औचित्य संप्रदाय

इकाई की रूपरेखा

6.1 उद्देश्य

6.2 प्रस्तावना

6.3 औचित्य सम्प्रदाय

6.3.1 औचित्य का अर्थ और स्वरूप

6.3.2 औचित्य का प्रयोजन एवं भेद

6.3.3 सहृदय की अवधारणा और औचित्य विवेचन

6.3.4 औचित्य विवेचन की समस्याएँ

6.3.5 पाश्चात्य चिन्तन में औचित्य विवेचन

6.4 सारांश

6.5 शब्दावली

6.6 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर

6.7 सहायक पुस्तक

6.8 संदर्भ पुस्तक

6.9 निबंधात्मक प्रश्न

6.1 उद्देश्य

इस इकाई के अध्ययन के पश्चात् आप :

- औचित्य के अर्थ एवं स्वरूप को समझ सकेंगे,
- औचित्य के प्रयोजन एवं भेदों से परिचित हो सकेंगे,
- सहृदय की अवधारणा को समझ सकेंगे,
- पाश्चात्य चिन्तन में औचित्य विचार से परिचित हो सकेंगे।

6.2 प्रस्तावना

भारतीय चिंतन परम्परा में जीवन का मुख्य लक्ष्य पुरुषार्थ चतुष्टय माना जाता है और कविता को पाँचवाँ पुरुषार्थ भी माना गया है। ये पुरुषार्थ चतुष्टय हैं— धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष। भारतीय चिंतन

परम्परा में मोक्ष को परम लक्ष्य माना गया है और इनके हित साधन के लिए धर्म, और और काम सहायक माने जाते हैं। कविता का भी संबंध पुरुषार्थ से जुड़ता है। कविता का रसास्वादन भी ब्रह्मानंद सहोदर माना गया। इससे पूर्व के अध्याय में काव्य प्रयोजन को समझते हुए आपलोगों ने इसे समझा होगा। औचित्य कविता का सबसे व्यापक तत्व है। काव्य का स्वरूप निर्धारित करते हुए आपने काव्य के शब्द और अर्थ को कविता का शरीर, दोषों को आँखें, गुण को सामर्थ्य, रीति अवयवों को संस्थान, रस, ध्वनि, अलंकार इत्यादि को आत्मा माना होगा। अलग अलग काव्यशास्त्रियों ने काव्य की आत्मा अलग अलग माना होगा। किंतु अगर कविता का औचित्य ही समाप्त हो जाए तो कविता होगी ही नहीं। अतः औचित्य का कविता में बड़ा महत्व है। भारतीय काव्य सिद्धांत में कविता की आत्मा मानने वाले आचार्यों ने अलंकार, रस, ध्वनि, वक्रोक्ति, और रीति के साथ औचित्य को भी कविता की आत्मा माना है। यह छह संप्रदाय भारतीय काव्यशास्त्र में षड्-संप्रदाय माने जाते हैं।औचित्य का अर्थ है— 'उचित का भाव'। जो वस्तु जिनके अनुकूल होती है उसे ही उचित कहा जाता है और उचित का भाव ही औचित्य कहलाता है।

6.3 औचित्य संप्रदाय

सभी काव्यशास्त्रियों ने अपने संप्रदाय के अनुसार कविता की आत्मा को माना है किंतु कविता का तत्व और कसौटी मान कर आचार्य क्षेमेन्द्र अपनी पुस्तक औचित्यविचारचर्चा में औचित्य को काव्य की आत्मा मान कर औचित्य संप्रदाय के महत्व को प्रतिपादित करते हैं। आचार्य क्षेमेन्द्र ने औचित्य की परिभाषा दी है—

'उचितं प्राहुराचार्या सदृशं किल यस्य यत्
उचितस्य च यौ भावस्तदौचित्यं प्रचक्षते'

और इसकी व्याख्या करते समय लिखते हैं कि—

'यत्किल यस्यानुरूपं तदुचितमुच्यते, तस्य भावमौचित्यमं कथयन्ति'

यानी जो वस्तु निश्चय रूप से जिसके अनुकूल होती है वही उचित है और उचित के भाव को आचार्यजन औचित्य कहते हैं।

6.3.1 औचित्य का अर्थ एवं स्वरूप

औचित्य संप्रदाय औचित्य संप्रदाय के विकसित होने से पूर्व भी संस्कृत काव्यशास्त्रियों में पर्याप्त विचार किया है। तथापि औचित्य संप्रदाय को स्थापित करने का श्रेय आचार्य क्षेमेन्द्र को एवं उनकी पुस्तक औचित्यविचारचर्चा को जाता है जो कि ईसा की ग्यारहवीं शती में विकसित हुआ।

औचित्यविचारचर्चा के अतिरिक्त कविकंठाभरण, सुवृत्त तिलक आचार्य क्षेमेन्द्र की पुस्तक है। इनके अनुसार औचित्य ही काव्य की आत्मा है। आचार्य क्षेमेन्द्र के अनुसार "यदि कोई अपने गले में मेखला पहन ले, हाथों में बिछुए बाँध ले, पैरों में केयूर बांध ले, तो इस औचित्य पर कौन नहीं हँस देगा। अतः औचित्य के बिना न तो कोई समझ अच्छी लगती है और न गुण ही। औचित्य काव्य का अंतरंग तत्व है। इसके बिना अन्य कोई भी गुण अथवा विशेषता महत्वहीन हो जाती है।"

औचित्य पर आचार्य क्षेमेन्द्र से पहले आचार्य भरत और आचार्य आनंदवर्धन ने बातचीत की है। आचार्य भरत के नाट्यशास्त्र में नाटक के संदर्भ में औचित्य की बात की गई है। हालांकि आचार्य भरत ने सीधे-सीधे औचित्य पद का प्रयाग नहीं कर के नाटक के परमतत्व रस का वर्णन औचित्य के अनुसार किया है। यहाँ इन्होंने अनुरूपता, अनुकूलता और सामंजस्य जैसे शब्द का इस्तेमाल किया है।

आचार्य क्षेमेन्द्र औचित्य रसानुभूति में चमत्कार उत्पन्न करने वाला रस का जीवन है। औचित्य काव्य का प्राण है।

आचार्य आनंदवर्धन ने आचार्य क्षेमेन्द्र से पहले छह प्रकार के औचित्य के बारे में संकेत किया है। वह है—

1. रसौचित्य
2. अलंकारौचित्य
3. गुणौचित्य
4. संघटनौचित्य
5. प्रबन्धौचित्य
6. रीत्यौचित्य

आचार्य आनंदवर्धन ने रस की अभिव्यंजना के लिए औचित्य का प्रयोग आवश्यक माना है तथापि आनंदवर्धनाचार्य ने औचित्य की तुलना में ध्वनि को ही काव्य की आत्मा माना है. जबकि आचार्य क्षेमेन्द्र ने रस का मूल आधार मानते हुए औचित्य को ही सर्वाधिक महत्व दिया है और औचित्य को काव्य की आत्मा माना है। आचार्य क्षेमेन्द्र ने किसी एक तत्व को महत्व नहीं दिया है बल्कि सभी तत्वों के संतुलन, सामंजस्य और संगति पर ज़ोर देकर काव्य के चिंतन को व्यापक संदर्भ दिया है। औचित्य पर जोर देकर आचार्य क्षेमेन्द्र ने कविता को जीवन के अधिक नजदीक ला दिया। जैसे औचित्य जीवन को सुंदर और सामंजस्यपूर्ण बनाता है वैसे ही औचित्य कविता को भी सुंदर बनाता है। भारतीय चिंतन परंपरा में सत्यं शिवं सुंदरम् की अवधारणा में सुंदरता अभीष्ट लक्ष्य है। जीवन या कविता दोनों में सामाजिक मर्यादा की प्रतिष्ठा का आधार औचित्य है। अनौचित्यता संदर्भहीनता है।

औचित्य को केंद्र में लाकर आचार्य क्षेमेन्द्र ने कविता को सामाजिक मूल्य और मर्यादा में काव्य को देखने की नई दृष्टि प्रदान की।

काव्यशास्त्र में अलंकार और रीति भी कविता को सुन्दर बनाते हैं लेकिन अगर उनके साथ औचित्य की संगति न बैठे तो वह कविता के असौंदर्य का कारक हो जाते हैं। आचार्य क्षेमेन्द्र ने औचित्य की स्थापना कर मूलतः अलंकार और रीति के मनमाने प्रयोग पर रोक लगाई। ईसा की छठी शताब्दी से ग्यारहवीं शताब्दी तक संस्कृत रचनाओं में कृत्रिम अलंकार योजना की अधिकता ने कविता के सौंदर्य को बोझिल, जटिल और शुष्क बना दिया था। औचित्यवाद ने इसका विरोध कर काव्य को देखने की एक नई दृष्टि दी।

आचार्य क्षेमेन्द्र का औचित्य आज भी प्रासंगिक है। रचना में यथार्थ और कल्पना के चित्रण में औचित्य की संगति आवश्यक है। समकालीन कविता को देखें तो अकवितावादियों की कविता में एक कौंध तो मिलती है लेकिन उसके औचित्य के संगत नहीं होने के कारण वह पाठकों को दूर तक नहीं ले जाती। यह कविता अपने अनौचित्य के कारण जन का कंठहार नहीं बन पाती। औचित्य से काव्य की मूल आत्मा संरक्षित होती है। यह औचित्य ही है जिससे कविता अथवा कोई उक्ति सुन्दर और ग्राह्य बन जाती है।

औचित्य संप्रदाय में अनुचित उक्ति, अनुचित अलंकार, अनुचित रीति, अनुचित रस यानी अर्थ ये सभी कविता के सौष्ठव और सार्थकता को नष्ट कर देते हैं। इन सबका समन्वय औचित्य संप्रदाय में हुआ है। आचार्य क्षेमेन्द्र ने इसे अतिसूक्ष्म तत्व के रूप में व्याख्यायित किया है—

"महाकवेरप्यतिसूक्ष्मतत्व-विचार-हर्ष-प्रदमेतदुक्तम्" (सुवृत विलकम, 3/39)

यही कारण है कि औचित्य कविता का अंतरंग तत्व है। इसके बिना कोई भी गुण अथवा विशेषता अपना महत्व खो देता है। इसी औचित्य की अवहेलना करने के कारण रामचंद्रिका छन्दों का अजायबघर, केशवदास कठिन काव्य के प्रेत और हृदयहीन कवि या केशव को कवि हृदय नहीं मिला था जैसा वाक्य सुनने को मिलता है। इसके अतिरिक्त आचार्य क्षेमेन्द्र ने कहा है कि जो जिसके योग्य हो, आचार्य जन जिसे उचित कहें, जिसका भाव उचित हो वह औचित्य के अंतर्गत आता है। साथ ही आचार्य क्षेमेन्द्र ने यह भी कहा कि रससिद्ध काव्य का स्थिर जीवन ही औचित्य कहलाता है—

"औचित्यं रससिद्धस्य स्थिरं काव्यस्य जीवितम्।"

कविता के अंगों अथवा अवयवों यथा घटनाएँ, दृश्य इत्यादि में संगति और सामंजस्य होना आवश्यक है। किसी भी आग्रह के कारण कविता की स्वाभाविकता जाती रहती है और उसका प्रभाव धूमिल होने लगता है। पद्माकर की चर्चित कवित्त को देखें यहाँ पिकन शब्द अलंकार के आग्रह के कारण

लिया गया है। इससे इसकी स्वाभाविकता अथवा औचित्य को धक्का लगा है। कविता अपनी प्रभाव-व्यंजकता के बाद भी काव्य तत्व धूमिल हुआ है—

"कूलन में केलिन कछारन में कुंजन में,
बनन में बागनलिन-कलीन किलकंत है।
कहै बनन में बागनन में पौन हू में,
पानन में पिकन पलासन पगंत है॥
द्वार में दिसान में दुनी में देस-देसन में,
देखो दीप-दीपन में दीपत दिगंत है।
बीथिन में ब्रज में नबेलिन में बेलिन में,
बनन में बागन में बगरो बसंत है॥

उचित पदों का प्रयोग न होने से काव्य का समग्र आनंद जाता रहता है। कोई वाक्य चाहे अलंकारों से कितना भी सुसज्जित हो अगर उसमें औचित्य का अभाव रहे तो काव्य का अर्थ और आनंद दोनों जाता रहता है।

6.3.2 औचित्य का प्रयोजन और भेद

औचित्य कविता-विचार का महत्वपूर्ण सिद्धांत है। इसके बिना कविता का गुण और महत्व दोनों ही अधूरा है। कविता में निहित उचित तत्व ही औचित्य का कारक है। काव्य का मूल्य औचित्य के आधार पर ही तय होता है। बिना किसी भाव के कविता शब्दों का संयोजन भर है। इसलिए कविता की स्वाभाविकता और भाव समझने के लिए औचित्य सिद्धांत आवश्यक है।

आचार्य क्षेमेन्द्र के अनुसार औचित्य एक व्यापक विचार है। आचार्य क्षेमेन्द्र ने कविता की सूक्ष्म अभिव्यक्ति से लेकर उसके विशाल प्रभावों को केंद्र में रख कर औचित्य पर विचार किया है। उनके अनुसार—

"पदे वाक्ये प्रबंधार्ये गुणेडलंकारे रसे।
क्रियायां कारके लिंग-वचने च विशेषणे॥
उपसर्गे निपाते च काले देशे कुले व्रते।
तत्वे सत्वेडप्याभिप्राये स्वभावे सार संग्रहे॥
प्रतिभयामवस्थावां विचारे माम्न्यथाडशिषि।
काव्यस्थागेषु च प्राहुरौचित्यम् व्यापि जीवितम्य॥"

इसका अर्थ है औचित्य की व्याप्ति पद से लेकर विचार तक है। पद में, वाक्य में, गुण में, क्रिया, कारक, लिंग, वचन, उपसर्ग, निपात, काल, देश से लेकर विचर तक काव्य के स्थान में औचित्य का जीवन है।

आचार्य क्षेमेन्द्र के अनुसार औचित्य के कुल भेद हैं—

1.पद; 2. वाक्य; 3. प्रबंध; 4. गुण; 5. अलंकार; 6. रस; 7. क्रिया; 8. कारक; 9. लिंग; 10. वचन; 11. विशेषण; 12. उपसर्ग; 13. निपात; 14. काल; 15. देश; 16. कुल; 17. व्रत; 18; तत्व; 19. सत्व; 20; अभिप्राय; 21. स्वभाव; 22. सार-संग्रह; 23. प्रतिभा; 24. अवस्था; 25; विचार; 26. नाम और 27. आशीर्वाद।

इन भेड़ों को तत्वों के आसानी के अनुसार चार भागों में बांटा जा सकता है—

1. शब्द : पद, वाक्य, क्रिया, कारक, लिंग, वचन, विशेषण, उपसर्ग और निपात
2. काव्यशास्त्रीय तत्व : प्रबंध, गुण, अलंकार, रस, सार-संग्रह, तत्व और आशीष
3. चरित्र संबंधी : व्रत, तत्व, अभिप्राय, स्वभ्व, प्रतिभा, विचार और नाम
4. परिस्थिति संबंधी : काल, देश, कुल और अवस्था

इन भेदों का विश्लेषण करें तो आचार्य क्षेमेन्द्र ने कविता की विषयवस्तु एवं कविता की शैली दोनों में ही औचित्य का विधान माना है। इनमें से कुछ प्रमुख औचित्य को समझते हैं—

पदौचित्य : आचार्य क्षेमेन्द्र के अनुसार "सूक्ति में किसी विशेष पद का उचित प्रयोग इस प्रकार शोभाकारक होता है जैसे चन्द्रमुखी युवती के मस्तक पर कस्तूरी तथा श्यामा के मस्तक पर चन्दन का तिलक।" यानी जहाँ किसी पद के प्रयोग में विशेष औचित्य का विधान हुआ हो तो वहाँ पदौचित्य होता है। जैसे- "हे देव! युद्ध के समय तुम्हारी इस खड्ग धारा में शत्रुओं के कुल डूब गए।" इस प्रसंशा में भोली रानी खड्ग की ओर देख कर जल की आशा कर रही है। अतः रानी के लिए भोली शब्द का प्रयोग औचित्य का कारक है। इसके अलावा अगर कोई शब्द उचित नहीं है तो कविता को वहाँ क्षति भी पहुँचता है। जैसे "सौंदर्य रूपी धन के व्यय का कुछ सोच नहीं किया, महान क्लेश उठाया, स्वच्छंद और सुख से रहने वाले लोगों को चिंता के ज्वर से पीड़ित किया। विधाता ने इस तन्वी को जन्म देने में क्या प्रयोजन सोचा था।" यहाँ तन्वी शब्द का प्रयोग उचित को प्रकट नहीं करता। यहाँ आचार्य क्षेमेद्र के अनुसार सुंदरी शब्द का प्रयोग उचित है।

वाक्य औचित्य : जहाँ वाक्य के प्रयोग में औचित्य द्वारा चमत्कार प्रकट हो वहाँ वाक्य औचित्य होता है। जैसे—

"छीमियाँ दाना-रहित-सा साल पिछला दुबक गुजरा और सूखे संतरे सा, यह नया आया है पास"

प्रबंध औचित्य : किसी वाक्य को सिद्ध करने और उसे एक रूप यानी प्रबन्ध देने के कारण कहने के ढंग में चमत्कार उत्पन्न हो तो वहाँ प्रबंध औचित्य होता है। जैसे—

"प्रात धूप की जरतारी ओढ़नी लपेटे/ अभी-अभी जागी/ ख़ुमार से भरी/ नितांत कुमारी घाटी"

नाम औचित्य : जहाँ नाम का औचित्य सिद्ध हो वहाँ नाम औचित्य होता है। जैसे कामदेव के लिए मदन, कंदर्प, मनसिज, अनंग और पुष्पबाण प्रयोग किया जाता है। जिस संदर्भ में नाम का औचित्य सिद्ध हो वहाँ वही नाम देना चाहिए। जैसे सबके हृदय में मद यानी आनंद का जहाँ बोध हो वहाँ कामदेव के लिए मदन प्रयुक्त होना चाहिए, अन्य कोई नाम लेने से अर्थ समान हो स्काटा है किंतु औचित्य का वहाँ अभाव हो जाएगा ऐसे ही दर्प दलन के अर्थ में कंदर्प, अंग रहित के अर्थ में अनंग और पुष्प बाण के कारण पुष्पबाण या पंचशायक, मन में उत्पन्न होने के कारण मनसिज ही औचित्यपूर्ण प्रयोग होगा। बिहारी का एक दोहा भी इस संदर्भ में देखा जा सकता है—

"करौ कुबत जग, कुटिलता तजौं न दीनदयाल।
दुखी होहुगे सरल चित्त बसत त्रिभंगीलाल।।" यहाँ कृष्ण के लिए त्रिभंगीलाल शब्द में नाम औचित्य है।

अलंकार औचित्य : जहाँ अलंकार का औचित्य हो, जिससे कोई भाव प्रभावशील हो वहाँ अलंकार औचित्य होता है। जैसे—

"साँझ के सेंदुर लिए आकाश में/ सरक आया क्षुधित बादल-व्याल" यहाँ रूपक अलंकार का चमत्कार है। अथवा

"अपसारय घनसारं कुरु हारं दूर एव किं कमलै: ।
अलमलमालि मृणालैरिति वदति दिवानिशं बाला।।"

दामोदर गुप्त के कुट्टनीमत के इस आर्या में वियोग शृंगार में भी माधुर्य का अनुप्रास अलंकार औचित्य को समृद्ध करने वाला है।

वृत्य औचित्य : छंद को संस्कृत में वृत्य भी कहा जाता है। सभी भाषा का अपना एक छांदिक स्वभाव होता है। अपभ्रंश का दोहा, कड़वक, भक्ति काल का चौपाई, रीतिकाल में सवैया, घनाक्षरी, सवैया कवित्त इत्यादि अपना छन्द है। जब छन्दों का औचित्य सिद्ध हो तो वहाँ वृत्य औचित्य होता है। जैसे घनानंद का यह सवैया—

"पहले अपनाय सूजन सनेह सौं क्यौं फिरि नेह कै तोरियै जू
निरधार अधार दै धार-मँझार दई गहि बाँहि न बोरियै जू।
'घन आनंद' आपने चातिक कौं गुन-बाँधि लै मोह न छोरियै जू,
रस प्याय कै ज्याय बढ़ाय कै आस बिसास मैं क्यौं विष घोरियै जू।।"

अथवा भूषण का कवित्त—

"साहितनै सिवराज ऐसे देत गजराज,
जिन्हैं पाय होत कविराज बेफिकिरि है।

झूलत झलमलात झूलैं जरबाफन की,
जकरे जंजीर जोर करत किरिरि हैं।
'भूषण' भँवर भननात, घननात घंट,
पग झननात, मनो घन रहै घिरि हैं।
जिनकी गरज सुन दिग्गज बेआब होत,
मद ही के आव गड़काब होत गिरि हैं।।"

रस औचित्य : जहाँ कविता में रस का औचित्य सिद्ध हो वहाँ रस औचित्य सिद्ध होता है।जैसे— "दाने-दाने को तरस गयीं अगणित आँखे/कृमि कीट सदृश/ फुटपाथों पर/ मनु की प्यारी संतान मिट गयी बिलख-बिलख।" यहाँ करुण रस है। रसौचित्य के लिए ध्वनि सम्प्रदाय के स्फोटवादी आचार्य आनंदवर्धन ने दस नियम बतलाए हैं—

1. शब्द और अर्थ का सम्मिलन औचित्यपूर्ण हो
2. प्रबंध में संधि और घटना का प्रयोग रस के अनुकूल हो
3. व्याकरणिक दृष्टि से प्रयोग शुद्ध हो
4. विरोधी रस के अंगों का वर्णन नहीं हुआ हो
5. गौण वस्तु, घटना, पात्र तथा वातावरण का विस्तार इतना अधिक न हो कि उसका मुख्य रस ही उपेक्षित हो जाए
6. अंगरस और अंगीरस का अनुपात उचित हो
7. अन्य रसों का अनुपात और पारस्परिकता अनुकूल हो
8. काव्य या नाटक में रस का प्रयोग उचित स्थान पर हो
9. विभाव, अनुभाव, संचारी इत्यादि का वर्णन औचित्यपूर्ण हो
10. काव्य में रस के विभिन्न अवयवों और विरोधी रसों का समन्वय उचित हो तभी रस निष्पत्ति होगी।

देश काल औचित्य : जहाँ देश और काल का वर्णन उचित रूप में आया हो वहाँ देश काल औचित्य होता है। जैसे—
"काले जंगल काले खेत, काली मिट्टी साँवरी
लुगड़ा छापेदार लाल, हंसली की चमके बीजरी
लहंगा स्याह कमर में पहिने, श्याम बरन की गूजरी।"

गुणौचित्य : कविता के ओज, प्रसाद और माधुर्य गुणों का उचित प्रयोग और अनुकूलता में गुणौचित्य होता है। जैसे— ओज में वीर रस का माधुर्य में शृंगार और करुण रस का प्रयोग ही औचित्यपूर्ण होता है।

बोध प्रश्न :

1. औचित्य संप्रदाय क्या है? इसके भेदों की चर्चा कीजिए।

.....

.....

.....

2. रसौचित्य क्या है? आनंदवर्धनाचार्य का विश्लेषण भी प्रस्तुत कीजिए।

.....

.....

.....

3. अलंकार औचित्य का उदाहरण साहित्य व्याख्या कीजिए।

.....

.....

.....

4. वाक्यौचित्य का उदाहरण सहित व्याख्या कीजिए।

.....

.....

.....

6.3.3 सहृदय की अवधारणा और औचित्य विवेचन

भारतीय काव्यशास्त्र की यह मान्यता सामान्यतः मान ली जाती है कि काव्य का पाठ करने तथा उसे बोधगमय रूप में स्वीकार करने के लिए पाठक को सहृदय होना चाहिए। यानी वही पाठक सहृदय है अथवा श्रोता या दर्शक जो रस का आस्वाद ले सके और आनंद का भोक्ता यानी आनंद लेने वाला हो सके। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल कहते हैं कि "बिना परिचय के प्रेम कहाँ?" इसी बात को आगे बढ़ाते हुए कह सकते हैं कि यदि पाठक में ग्रहीता का भाव यानी ग्रहण करने का भाव नहीं होगा तब वह काव्य का आस्वादन भी नहीं कर सकेगा और रचनाकार से तादात्म्य या जुड़ाव भी स्थापित नहीं कर पायेगा। इस अर्थ में रचनाकार, रचना तथा पाठक के बीच एक तादात्म्य एक जुड़ाव होना आवश्यक है, तब यह स्पष्ट है कि पाठक के सहृदय होने पर ही रचना से उसका सरोकार बनेगा और तभी रचना की मूल प्रवृत्ति की पहचान संभव हो सकेगी। अब सवाल यह उठता है कि सहृदय की अवधारणा मूलतः रस सिद्धांत तथा उससे संबंधित साधारणीकरण की अवधारणा से संबंधित है तब फिर औचित्य सिद्धांत के विवेचन के संदर्भ में सहृदय की अवधारणा की चर्चा किस रूप में और क्यों होनी चाहिए? इस सवाल का स्पष्ट उत्तर यह होगा कि औचित्य मूलतः तर्कजन्य कारण से संबंधित है। इसी अर्थ में

औचित्य को सृजन के साथ जोड़कर देखा जाता है और यही औचित्य विवेचन वास्तव में औचित्य सम्प्रदाय के प्रवर्तक आचार्य क्षेमेंद्र को इस बात के लिए विवश करता है कि वे औचित्य के एक भेद के रूप में रसौचित्य का भी वर्णन करते हैं। औचित्य को अंगी तथा रस को अंग मानकर वे रस की महत्ता को रेखांकित करने के साथ-साथ औचित्य को मूल और वास्तविक प्रयोजन के रूप में स्थापित करते हैं। जैसा कि आप जानते हैं कि साहित्य में सबसे पहले रचना के आधार पर ही पाठक तथा आलोचक के मत को निर्धारण होता है इस दृष्टि से सृजन, ग्रहण (पाठ) तथा आलोचना। इस क्रम में रचना को ही सर्वाधिक महत्व दिया जाता है। रस को औचित्य के साथ जोड़कर देखने पर औचित्य सिद्धांत की स्वीकार्यता और महत्ता अधिक बढ़ जाती है। औचित्य सम्प्रदाय के प्रवर्तक क्षेमेंद्र जहाँ औचित्य को अंगी तथा रस को उसका आंग मानते हैं वहीं अभिनवगुप्त औचित्य को रस का साधक मानते हैं। कहने का अभिप्राय यह है कि आचार्य अभिनवगुप्त की दृष्टि में रस अंगी है वही प्रमुख है, औचित्य तो बस उसका एक साधन है। इससे इतना तो स्पष्ट हो ही जाता है कि सहृदय की अवधारणा औचित्य से निरपेक्ष नहीं है, यही बात औचित्य के संदर्भ में कही जा सकती है। इस प्रकार से जुड़ी सहृदय की अवधारणा का विवेचन आवश्यक है।

6.3.4 औचित्य विवेचन की समस्या

औचित्य जीवन के विभिन्न आयामों पर एक महत्वपूर्ण विचारणीय प्रश्न है। किसी भी कार्य के औचित्य के बिना उस कार्य को करना अनुचित कहा जाता है। यही औचित्य काव्यसृजन, साहित्य विमर्श तथा लोकजीवन के साथ-साथ साहित्य की प्रासंगिकता आदि विभिन्न दृष्टियों से महत्वपूर्ण विषय बन जाता है। डॉ. राममूर्ति त्रिपाठी, आचार्य क्षेमेंद्र के औचित्य विवेचन को इस प्रकार प्रस्तुत करते हैं, "पर परोपकारी शब्दार्थमय काव्य में अलंकार बाह्य शोभाकारी होने से कट आदि की भांति अंततः अलंकार ही है और गुण भी श्रुत, सत्य, शील आदि की तरह अर्जित हैं, सहज नहीं, अतः वे भी गुण ही है। पर जहाँ तक औचित्य का संबंध है, वह काव्य का स्थिर और अविनश्वर जीवित है जिसके बिना काव्य निर्जीव है।" आचार्य क्षेमेंद्र का यह कथन निर्विवाद रूप से स्वीकार्य नहीं है, इसे सहज और स्वाभाविक रूप से ग्राह्य नहीं कहा जा सकता है। इसका मुख्य कारण यह है कि औचित्य है। काव्य का जीवित है. गुण तथा अलंकार नहीं। यह मान्यता स्वीकार करने पर रीति और अलकार का महत्व तो कम हो ही जाता है अपितु साधन को साध्य मानने की स्थिति उत्पन्न हो जाती है। शरीर को आत्मा नहीं माना जा सकता है। अलंकार एवं रीति को भी काव्यात्मा मानना औचित्यपूर्ण नहीं होगा।

'औचित्य रस सिद्ध काव्य का जीवित हैं यह मानने वाले आचार्य क्षेमेंद्र रस को विरोधी तो नहीं माने जा सकते किंतु यह प्रश्न तो उठता ही है कि यदि औचित्य जीवित है तो फिर रस की स्थिति क्या है? क्या रस को जीवित नहीं माना जा सकता?

यही नहीं आचार्य क्षेमेंद्र वक्रोक्ति एवं ध्वनि के विषय में औचित्य चिंतन में अपना स्पष्ट मत नहीं व्यक्त करते, तब क्या यह मान लिया जाए कि क्षेमेंद्र का मत औचित्य चिंतन को रस के साथ जोड़कर ही देखने के लिए उपयुक्त है। स्पष्ट रूप से यह देखा जा सकता है कि रस पर अधिक बल देना तथा रस की निर्मिति के साथ औचित्य की संबंध स्थापना वास्तव में इस बात पर ही केंद्रित है कि यदि रसौचित्य स्थापित हो जाता है तब फिर ध्वनि तथा वक्रोक्ति के साथ औचित्य की सहधर्मिता स्थापित करने की आवश्यकता ही नहीं पड़ेगी।

औचित्य वास्तव में तर्क पद्धति से जुड़ा हुआ मामला है। औचित्य काव्यालोचन के लिए अत्यंत विचारणीय चिंतन-बिंदु है। जिस प्रकार काव्यात्मा का प्रश्न साहित्य सृजन से जुड़ा हुआ है और रस को ही कविता या काव्य की मूल सत्ता अथवा मूल तत्व मानना उपयुक्त माना जाता है, उसे ग्रहणशीलता के स्तर पर ग्राहक या भावक (पाठक) को ग्राह्य बनाने के लिए उसे सहृदय होना उपयुक्त माना जा सकता है। उसी प्रकार काव्यालोचन के प्रसंग में औचित्य के महत्व को स्वीकार कर लेना ही उपयुक्त कहा जा सकता है।

6.3.5 पाश्चात्य चिन्तन में औचित्य विवेचन

पिछली चर्चाओं से यह बात तो स्पष्ट हो ही गई है कि औचित्य जीवन के विभिन्न पक्षों में महत्वपूर्ण तत्व तो है ही साहित्यिक मूल्यांकन के लिए भी अत्यंत विचारण् पीय है। अब यह समझना उपयोगी होगा कि पाश्चात्य साहित्य चिंतन में औचित्य को किस रूप में देखा-समझा गया है या यों कहें कि भारतीय औचित्य सिद्धांत से मिलता जुलता क्या पश्चिम में भी कोई सिद्धांत है या पश्चिमी साहित्य चिंतकों ने औचित्य सिद्धांत जैसा कोई मत प्रस्तुत किया है?

औचित्य के दो पक्ष होते हैं- विषयगत औचित्य तथा पद्धतिगत औचित्य विषयगत औचित्य में जहाँ वर्ण्य विषय या अन्तर्वस्तु के सन्दर्भ में औचित्य का निर्धारण किया जाता है वहीं पद्धतिगत औचित्य में रचना में प्रयुक्त शिल्प विधान या शैली और भाषिक संरचना के औचित्य का विवेचन किया जाता है। इस दृष्टि से देखें तो आई. ए. रिचर्ड्स के मूल्य सिद्धांत तथा संप्रेषण सिद्धांत दोनों में ही औचित्य की चर्चा की गई है। जब रिचर्ड्स यह कहते हैं कि कविता का मूल्य इस बात में है कि वह मानसिक चिकित्सा (Mental Theropy) करती है तब वे काव्य के औचित्य को ही रेखांकित कर रहे होते हैं। इसी प्रकार जब वे संप्रेषण के माध्यम की बात करते हैं तब वास्तव में पद्धतिपरक औचित्य की ही

चर्चा करते हैं। इसी प्रकार काव्यभाषा के संदर्भमें जब वे भाषा के रागात्मक प्रयोग (Emotine use of language) की बात करते हैं तब उनका आदाय स्पष्ट रूप से यही होता है कि कविता में भाषा के रागात्मक प्रयोग का ही औचित्य होता है। उनके ही द्वारा व्याख्यायित भाषा के वैज्ञानिक या सन्दर्भगत प्रयोग का कोई औचित्य नहीं होता।

टी. एस. इलियट का वस्तुनिष्ठ सह संयोजन (Objective correlative) सिद्धांत वास्तव में पूर्णतः औचित्य विवेचन पर ही आधारित है। जब वे हेमलेट' में वस्तुनिष्ठ सह-संयोजन का अभाव देखकर शेक्सपीयर की नाटकीय सफलता का रेखांकण करते है तब पात्र तथा नाटकीय प्रस्तुतीकरण में कथा विन्यास तथा उसके घटनाक्रम के विन्यास में सुसंगति नहीं है। यह वास्तव में औचित्य विवेचन ही है। मार्क्सवादी विचारधारा रचना का महत्व इस बात में मानती है कि रचना सर्वहारा वर्ग में बूर्जुआ वर्ग के प्रति विद्रोह की भावना उत्पन्न करे। शोषण के विरुद्ध विद्रोह ही मार्क्सवाद का मूलमंत्र है। इसीलिए ट्राटस्की मानते थे कि कला हथौड़ा है। यथार्थ की अभिव्यक्ति मार्क्सवादी चेतना का ऐसा तत्व है जिसको रचना का मूल्यांकन करने के लिए प्रयोग में लाया जाता है। यह औचित्य निर्धारण ही साहित्यिक मूल्यांकन का मूलाधार है।

6.4 सारांश

आचार्य क्षेमेन्द्र ने कविता के सन्दर्भ में औचित्य को कविता की मूल आत्मा माना। उनके अनुसार औचित्य ही कविता का जीवित यानी मूल तत्व है। औचित्य के बिना कविता वाक्यों और शब्दों का ढेर है। इसके लिए उन्होंने कविता के सूक्ष्म पक्ष और उसके व्यापकता में उसके विशाल पक्षों में उसके औचित्य पक्ष पर विचार किया। उन्होंने कविता के औचित्य के कुल 27 (सताइस) भेद माना। यह भेद इस प्रकार हैं— 1.पद; 2. वाक्य; 3. प्रबंध; 4. गुण; 5. अलंकार; 6. रस; 7. क्रिया; 8. कारक; 9. लिंग; 10. वचन; 11. विशेषण; 12. उपसर्ग; 13. निपात; 14. काल; 15. देश; 16. कुल; 17. व्रत; 18; तत्व; 19. सत्व; 20; अभिप्राय; 21. स्वभाव; 22. सार-संग्रह; 23. प्रतिभा; 24. अवस्था; 25; विचार; 26. नाम और 27. आशीर्वाद।

आचार्य क्षेमेद्र ने माना कि रस सिद्ध कविता का स्थायी महत्व औचित्य के तत्व पर ही निर्भर करता है इस वजह से औचित्य ही कविता का प्राण है। औचित्य के बिना अलंकार, रीति, गुण, छंद इत्यादि का महत्व भी जाता रहता है। अतः कविता की मूल आत्मा औचित्य है। उचित का भाव ही औचित्य है।

6.5 शब्दावली

औचित्य : उचित का भाव

सहृदय : आनंद का भोक्ता यानी आनंद ग्रहण करने वाला

रसौचित्य : रस का औचित्य

जीवित : आत्मा

पुरुषार्थ चतुष्टय : धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष

6.6 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर

1. देखें 6.3
2. देखें 6.3
3. देखें 6.3
4. देखें 6.3

6.7 सहायक पुस्तक

1. भारतीय काव्यशास्त्र : योगेंद्र प्रताप सिंह, लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद
2. भारतीय काव्यशास्त्र : तारकनाथ बाली, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली
3. भारतीय काव्यशास्त्र : इंदुनाथ चौधुरी, सस्ता साहित्य मंडल, दिल्ली
4. संस्कृत आलोचना : बलदेव उपाध्याय, उत्तरप्रदेश हिंदी संस्थान, लखनऊ
5 भारतीय काव्यशास्त्र : मधुकर उपाध्याय, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली

6.8 संदर्भ पुस्तक

1. संस्कृत आलोचना : बलदेव उपाध्याय, उत्तरप्रदेश हिंदी संस्थान, लखनऊ
2. भारतीय काव्य सिद्धांत, संपादन : डॉ नगेन्द्र, हिंदी माध्यम कार्यान्वयन निदेशालय, दिल्ली

6.9 निबंधात्मक प्रश्न

1. औचित्य संप्रदाय क्या है, इसके भेदों की चर्चा कीजिए।
2. औचित्य का अर्थ एवं स्वरूप को स्पष्ट कीजिए।
3. सहृदय की अवधारणा एवं औचित्य विवेचन पर प्रकाश डालिये।
4. पश्चिमी चिंतन के दन्दर्भ में औचित्य का विवेचन कीजिए।

इकाई-7 : वक्रोक्ति संप्रदाय

इकाई की रूपरेखा

7.1 प्रस्तावना
7.2 उद्देश्य
7.3 वक्रोक्ति: परम्परा एवं स्वरूप
7.4 वक्रोक्ति के भेद
    7.4.1 वर्णविन्यास वक्रता
    7.4.2 पदपूर्वार्ध वक्रता
    7.4.3 पदपरार्ध वक्रता
    7.4.4 वाक्य वक्रता
    7.4.5 प्रकरण वक्रता
    7.4.6 प्रबन्ध वक्रता
7.5 वक्रोक्ति और अभिव्यंजनावाद
7.6 वक्रोक्ति और शैलीविज्ञान
7.7 सारांश
7.8 शब्दावली
7.9 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर
7.10 कुछ उपयोगी पुस्तकें
7.11 निबंधात्मक प्रश्न

7.1 प्रस्तावना

सम्पूर्ण वाड्मय में, काव्य को अपनी ललित पदावली, मनोहर शैली तथा भावाभिव्यंजक मार्मिक अभिव्यंजना पद्धति के वैषिष्ट्य के आधार पर महत्वपूर्ण स्थान प्राप्त है। स्पष्ट है कि व्यवहार एवं काव्य की भाषा में अन्तर होता है। काव्य की उक्ति अधिक मार्मिक एवं उसकी पद-रचना अधिक सुसज्जित होती है। काव्य-मीमांसक आचार्यो ने काव्य के इस चारुत्व एवं मार्मिकता का आधार अलग-अलग बताया है। कविता की इसी चारुता, मनोज्ञता एवं आह्लादकता की खोज के लिए अलंकार, रीति, ध्वनि,

रस, औचित्य आदि सिद्धान्तों का उद्भव हुआ। वक्रोक्ति भी इन्हीं सिद्धान्तों मे से एक है जिसके उद्भावक आचार्य कुन्तक हैं।

वक्रोक्ति दो शब्दों से मिलकर बना है- वक्र तथा उक्ति। वक्रता का शाब्दिक अर्थ है- टेढ़ापन, विचित्र, असामान्य आदि। इस प्रकार वक्रोक्ति का अर्थ हुआ- वह उक्ति, जो लोकोत्तर हो, विचित्र हो एवं चमत्कारपूर्ण हो।

इस इकाई में आप पढ़ेंगे कि कुन्तक से पूर्व के आचार्यो ने भी काव्य की रमणीयता का आधार वक्रोक्ति को माना है। कुन्तक ने प्रतिपादित किया है कि काव्य का सौन्दर्य उक्ति की विषिष्टता में ही है। अपनी प्रतिभा के बल पर उन्होंने अपने पूर्ववर्ती सभी सिद्धान्तों को वक्रोक्ति में समाविष्ट कर दिया है। इस इकाई में वक्रोक्ति के भेदोपभेदों की जानकारी तो होगी ही, आप यह भी जानेंगे कि अभिव्यंजनावाद और शैलीविज्ञान जैसे सिद्धान्त भी किस प्रकार वक्रोक्ति से सम्बन्धित है।

7.2 उद्देश्य

इस इकाई का अध्ययन करने के बाद आप जानेंगे कि -

1. वक्रोक्ति क्या है और इसका स्वरूप क्या है?
2. भारतीय काव्यषास्त्र में वक्रोक्ति की परम्परा पुरानी है।
3. वक्रोक्ति के भेदोपभेदों का अध्ययन करते हुए आप जानेंगे कि लोकोत्तर आह्लादकारी वैचित्र्य या चारुता ही काव्य का सर्वस्व है।
4. काव्य-सिद्धान्तों का चिन्तन करने वाले सभी आचार्यो ने किसी न किसी रूप में वक्रोक्ति का महत्व स्थापित किया है।

7.3 वक्रोक्ति: परम्परा एवं स्वरूप

यद्यपि वक्रोक्ति सिद्धान्त की स्थापना आचार्य कुन्तक द्वारा दसवीं शताब्दी में की गई तथापि इससे पूर्व भी वक्रोक्ति का प्रयोग काव्य एवं काव्यशास्त्रीय ग्रन्थों में होता रहा है। कादम्बरी एवं हर्षचरित सदृष अनेक साहित्यिक ग्रन्थों में भी इस शब्द का प्रयोग हुआ है। अलंकार सिद्धान्त के प्रवर्त्तक आचार्य भामह हैं जिन्होंने छठी शताब्दी में अपने ग्रन्थ 'काव्यालंकार' में वक्रोक्ति का विधिवत् विवेचन किया है। उन्होंने वक्रोक्ति को ही सभी अलंकारों का मूल माना है। उनकी मान्यता है कि वक्रोक्ति के बिना कोई अलंकार हो ही नहीं सकता है:-

सैषा सर्वत्र वक्रोक्तिरनयार्थो विभाव्यते।

यत्नोऽस्यां कविना कार्यः कोऽलंकारोऽनया बिना।।

इस प्रकार भामह ने वक्रोक्ति को अलंकार की आत्मा के रूप में ग्रहण किया है।

भामह के पश्चात अलंकारवादी आचार्य दण्डी ने अपनी रचना 'काव्यादर्श' में काव्य को दो भागों में विभाजित किया है- स्वभावाक्ति एवं वक्रोक्ति। वे श्लेष को वक्रोक्ति का शोभादायक गुण मानते हुए भी रस से युक्त मानते हैं-

श्लेषः सर्वासु पुष्णाति प्रायोवक्रोक्तिशु श्रियम्।
द्विधा भिन्नं स्वभावोक्तिर्वक्रोतिष्चेति वाड्मयम्।।

दण्डी के बाद आचार्य वामन ने 'काव्यालंकार सूत्र' में वक्रोक्ति को सादृष्य के आधार पर केवल लक्षणामूलक अलंकार ही कहा है - 'सादृश्याल्लक्षणा वक्रोक्तिः'। वामन के परवर्ती रुद्रट ने वक्रोक्ति को और भी संकुचित कर दिया और वह शब्दालंकार मात्र रह गई।

इस प्रकार भारतीय काव्यशास्त्र में वक्रोक्ति का चिन्तन किसी न किसी रूप में विद्यमान था।

आचार्य कुन्तक ने वक्रोक्ति को अत्यन्त व्यापक स्वरूप प्रदान किया है। उनके द्वारा प्रस्तुत परिभाषा निम्नवत है -

उभावेतावलंकार्यो तयोः पुनरलंकृति।
वक्रोक्तिरेव वैदग्ध्यभंगी मणितिरुच्यते।।

(वक्रोक्ति जीवितम)

अर्थात् यह दोनों - शब्द और अर्थ अलंकार्य होते है। वैदग्ध्य भंगीभणिति ही वक्रोक्ति है। उन्होने वैदग्ध्य का अर्थ विदग्धता अथवा कविकर्म कौशल किया है। भंगी, शोभा, विच्छित्ति, वक्रता, सौन्दर्य ये सभी शब्द काव्यशास्त्र में प्रायः समान अर्थ में ही प्रयुक्त होते हैं। भणिति का अर्थ उक्ति अथवा कथन है। अतः कहा जा सकता है कि वक्रोक्ति एक ऐसी कथन-भंगिमा है जो लोक व्यवहार में प्रयुक्त तथा शास्त्र आदि में उपनिबद्ध सामान्य प्रणाली से भिन्न हो, प्रतिभाशाली कवि के कौशल से पूर्ण हो तथा काव्यमर्मज्ञों के हृदय को आह्लादित करने में समर्थ हो। काव्य का लक्षण प्रस्तुत करते हुए कुन्तक कहते हैं कि सहृदय को आह्लादित करने वाले एवं मन को आकर्षित करने वाले कवि व्यापार से युक्त वाक्य-विन्यास में सुन्दर ढंग से व्यवस्थित एवं साहित्यमय शब्द और अर्थ को काव्य कहा जाता है -

शब्दार्थौ सहितौ वक्रकविव्यापारशालिनि।
बन्धे व्यवस्थितौ काव्यं तद्विदाह्लादकारिणि।।

इस प्रकार वक्रोक्ति के स्वरूप के विषय में कहा जा सकता है -

1. वक्रोक्ति एक कथन-प्रणाली है। यह अलंकार्य न होकर अलंकार है।

2. वक्रोक्ति सामान्य कथन प्रणाली एवं लोकषास्त्र में प्रयुक्त कथनप्रणाली दोनों से भिन्न होती है।
3. यह वक्रोक्ति सहृदयजनों को आह्लादित करने में समर्थ होती है।
4. प्रतिभा के बल पर ही कवि वक्रोक्ति का निर्माण करने में समर्थ होता है।
5. वक्रोक्ति काव्य का प्राण तत्व है।

बोध प्रश्न -1

(1) रिक्त स्थानों की पूर्ति कीजिए -

(क) आचार्य भामह ने अपने ग्रन्थ.....में वक्रोक्ति का विधिवत विवेचन किया है।

(ख) आचार्य दण्डी ने काव्य को दो भागों .....में विभक्त किया है।

(ग) आचार्य वामन ने .....कहकर वक्रोक्ति के स्वरूप को संकुचित कर दिया है।

(घ) वैदग्ध्यभंगी भणिति ही .....है।

7.4 वक्रोक्ति के भेद

इस भाग में आप वक्रोक्ति के भेदोपभेदों की जानकारी प्राप्त करते हुए जानेंगे कि वक्रोक्ति में निहित कविविदग्धता एवं चमत्कार कविता में वर्ण से लेकर प्रबन्ध तक व्याप्त है। आचार्य कुन्तक ने वक्रोक्ति के छः भेद किए हैं- वर्णविन्यास, वक्रता, पद-पूर्वार्ध वक्रता, पद-परार्धवक्रता, वाक्य वक्रता, प्रकरण वक्रता और प्रबन्ध वक्रता। यहॉ इनका अलग-अलग विवेचन प्रस्तुत किया जा रहा है।

7.4.1 वर्णविन्यास वक्रता

जहाँ एक या दो या अनेक वर्ण थोड़े-थोड़े अन्तर से बार-बार प्रयुक्त होते है, वहॉँ वर्ण-विन्यास वक्रता होती है-

एकौ द्वौ बहवो वर्णाः मध्यमानाः पुनः पुनः।
स्वल्पान्तर विधा सोक्ता वर्णविन्यास वक्रतो।। (वक्रोक्तिजीवितम्)

यहॉँ वर्ण से तात्पर्य व्यंजन वर्णों से है। इसके अतिरिक्त शब्दालंकार- अनुप्रास, यमक, विभिन्न वृत्तियों एवं शब्दगुणों का समावेश है। कुन्तक ने यह भी स्पष्ट किया है कि वर्णयोजना विषयानुकूल होनी चाहिए तथा वर्णों में कृत्रिमता न होकर सहजता होनी चाहिए। एक उदाहरण प्रस्तुत है-

इस करुणा कलित हृदय में क्यों विकल रागिनी बजती,
क्यों हाहाकार स्वरों में वेदना असीम गरजती?

यहाँ स्वल्प अन्तर के साथ 'क' वर्ण की आवृत्ति होने से वर्णविन्यास वक्रता है।

7.4.2 पदपूर्वार्ध वक्रता

पद के आरम्भ (प्रकृति या मूल धातु) में उत्पन्न वक्रता को पदपूर्वार्ध वक्रता कहते है। इसके अनेक भेद है जिनका विवेचन प्रस्तुत है -

रूढ़िवैचित्रय वक्रता

जब कवि अपनी प्रतिभा से किसी शब्द के रूढ़ अर्थ को परिवर्तित कर उक्ति में लालित्य ला देता है, तो वहाँ रूढ़िवैचित्र्य वक्रता होती है। ध्वनि सिद्धान्त के अन्तर्गत विवेचित लक्षणामूला ध्वनि के दोनों भेद-अर्थान्तर संक्रमित और अत्यन्त तिरस्कृत इसके अन्तर्गत लिए जाते हैं। उदाहरणार्थ -

सीता हरन तात जनि कहहु पिता सन जाइ।
जौं मैं राम त कुल सहित कहिहि दसानन आइ।।

यहाँ 'राम' का रूढ़ अर्थ 'दशरथ' के पुत्र हैं, परन्तु यहाँ इस शब्द में वीरता, दृढ़प्रतिज्ञा एवं उत्साह का भाव संक्रमित हो गया है। अतः रूढ़िवैचित्र्यवक्रता है।

पर्याय वक्रता

एक ही अर्थ को व्यक्त करने वाले अनेक पर्यायवाची शब्दों में से कवि जब किसी एक का चयन कर उक्ति में लालित्य उत्पन्न करता है, तो वहाँ पर्याय वक्रता होती है। जैसे -

रो रोकर सिसक-सिसक कर कहता मै करुण कहानी
तुम सुमन नोचते फिरते करते जानी अनजानी। (आंसू)

उपर्युक्त उदाहरण में 'सुमन' पद में पर्याय वक्रता है। सुमन का अर्थ फूल है परन्तु उसका वाच्यार्थ मन है। इसके स्थान पर यदि इसका अन्य पर्यायवाची (कुसुम, पुष्प आदि) रख दिया जाए, तो इसका सौन्दर्य नष्ट हो जाएगा।

उपचार वक्रता

उपचार का अर्थ है - भिन्न पदार्थो में सादृश्य के कारण उत्पन्न होने वाली समानता। इस वक्रता में मूर्त उपमेय के लिए अमूर्त उपमान और अमूर्त उपमेय के लिए मूर्त उपमान का प्रयोग किया जाता है। इसमें अचेतन में चेतना का आरोप भी किया जाता है। रूपक, मानवीकरण अलंकार इसी में आते है। उदाहरणार्थ -

हे लाज भरे सौन्दर्य बता दो मौन बने रहते हो क्यों?

प्रसाद जी के गीत की इस पंक्ति में सौन्दर्य पर चेतना का आरोप किया गया है। लज्जा से भरना, मौन बने रहना एवं बतलाना मानव-धर्म है। यहॉ अचेतन पर चेतना के आरोप से उपचार वक्रता है।

विशेषण वक्रता

आचार्य कुन्तक का कहना है -

विशेषणस्य महात्म्यात् क्रियायाः कारकस्य वा।
यत्रोल्लसति लावण्यं सा विशेषणवक्रता।।

अर्थात् जहाँ विशेषण के प्रभाव से क्रिया या कारक का सौन्दर्य उल्लसित होता है, वहाँ विशेषण वक्रता होती है। उदारहणार्थ - शीतल ज्वाला जलती थी ईधन होता दृग जल का
यह व्यर्थ सॉस चल-चल कर करती है काम अनिल का।

यहाँ प्रसाद जी ने ज्वाला के विशेषण के रूप में शीतल का प्रयोग कर अर्थ की रमणीयता में वृद्धि की है।

संवृति-वक्रता

संवृति का अर्थ है- छिपाना या गोपन। जब वैचित्र्य कथन के उद्देश्य से सर्वनाम आदि के द्वारा वस्तु का गोपन या संवरण किया जाता है, तो वहाँ संवृति वक्रता होती है -

अनियारे दीरघ दृगनि किती न तरुनि समान।
वह चितवनि औरै कछू, जेहि बस होत सुजान।।

वृत्ति वक्रता

इस वक्रता में, वृत्ति का तात्पर्य उपनागरिका, परुषा आदि वृत्तियों से न होकर समास, तद्धित, सुब् धातु आदि व्याकरणिक वृत्तियों से है। इसमें समास, तद्धित, या कृदन्त के चमत्कारिक प्रयोग से सौन्दर्य उत्पन्न होता है। उदाहरणार्थ -

आज का तीक्ष्ण-शर-विधृत-क्षिप्र-कर वेग-प्रखर
शतसेल संवरण शील, नील नभ गर्ज्जित-स्वर,
प्रतिपल-परिवर्तित-व्यूह-भेद-कौशल-समूह,
राक्षस-विरुद्ध-प्रत्यूह-क्रुद्ध-कपि-विषम-हूह
विच्छुरित-वह्नि-राजीवनयन-हत लक्ष्य-वाण
लोहितलोचन-रावण-मदमोचन-महीयान

समासयुक्त शैली होने के कारण यहाँ वृत्ति वक्रता है।

लिंग वैचित्र्य वक्रता

जहाँ पर विषिष्ट लिंग के प्रयोग से चमत्कार उत्पन्न हो, तो वहाँ लिंग वैचित्र्य होती है। उदारहणार्थ -

शशि मुख पर घूँघट डाले अंचल में दीप छिपाये।
जीवन की गोधूली में कौतूहल से तुम आये।

'आँसू' के इस छन्द में प्रसाद जी ने नायिका के लिए पुल्लिंग क्रिया का प्रयोग किया है, अतः लिंगवैचित्रय वक्रता है।

क्रियावैचित्र्य वक्रता

जब कविता में क्रिया का चमत्कारपूर्ण प्रयोग किया जाता है, तो वहाँ क्रियावैचित्र्य वक्रता होती है। उदाहरणार्थ-

तिर रही अतृप्ति जलधि में नीलम की नाव निराली।

यहाँ प्रसाद जी ने 'तिरना' क्रिया का चमत्कारपूर्ण प्रयोग किया है। अतः क्रिया वैचित्र्य वक्रता है।

7.4.3 पदपरार्ध वक्रता

पद के परार्ध भाग में प्रत्यय एवं विभक्तियों आदि की गणना की जाती है। इसके अन्तर्गत कालवैचित्र्यवक्रता, कारकवक्रता, संख्या वक्रता, पुरुष वक्रता, प्रत्ययवक्रता आदि की सोदाहरण चर्चा आचार्य कुन्तक ने की है। इनका संक्षिप्त विवरण प्रस्तुत किया जा रहा है-

कालवैचित्र्य वक्रता

जहाँ कवि वर्तमान के धरातल पर अतीत के चित्र अंकित करता है या औचित्य के अनुरूप काल के प्रयोग में चमत्कार होता है, वहाँ कालवैचित्र्य वक्रता होती है। यथा-

जा थल कीन्हें विहार अनेकन ता थल कांकरी बैठि चुन्यो करैं।
जा रसना सो करी बहु बातन ता रसना सो चरित्र गुन्यो करैं।
आलम जौन से कुंजन में करी केलि तहॉ अब सीस धुन्यो करैं।
नैनन में जो सदा रहते तिनकी अब कान कहानी सुन्यौ करैं।।

कारक वक्रता

जब किसी अभिप्राय विषेष की अभिव्यंजना के लिए कवि कारक के प्रयोग में विपर्यय कर देता है, तो वहॉ कारक वक्रता होती है, जैसे -

झींगुर के स्वर का प्रखर तीर, केवल प्रषान्त को रहा चीर।

यहाँ 'तीर' का प्रयोग करण कारक के रूप में न होकर कर्ता कारक के रूप में होने से कारक वक्रता है।

पुरुष वक्रता

जहाँ पुरुषों के विपर्यय से काव्य को अलंकृत किया जाता है, वहाँ पुरुष वक्रता होती है। उदाहरणार्थ -

करके ध्यान आज इस जन निश्चय वे मुसकाये। फूल उठे हैं कमल, अधर से ये बन्धूक सुहाये।

यहाँ स्वयं के लिए उर्मिला ने उत्तम पुरूष का प्रयोग न करके प्रथम पुरूष 'इस जन' का प्रयोग किया है। अतः यहॉ पुरूष वक्रता है।

संख्या वक्रता

इसे वचन वक्रता भी कहा जाता है। जहॉ एक वचन के स्थान पर बहुवचन और बहुवचन के स्थान पर एकवचन के प्रयोग से चमत्कार उत्पन्न किया जाए तो वहॉ संख्या वक्रता होती है। जैसे -

स्वयं सुसज्जित करके क्षण में प्रियतम को प्राणो के पण में,
हमीं भेज देती है रण में क्षात्र धर्म के नाते।

यहाँ एकवचन 'मैं' के स्थान पर बहुवचन 'हमीं' के प्रयोग से संख्या वक्रता है।

उपग्रह वक्रता

उपग्रह का अर्थ धातु होता है। संस्कृत में परस्मैपद एवं आत्मनेपद नामक दोनों धातुओं का प्रयोग होता है परन्तु हिन्दी में सामान्यतया परस्मैपदी धातुओं का ही प्रयोग होता है। फिर भी कभी-कभी काव्य-षोभा की वृद्धि के लिए आत्मनेपदी धातुओं का चमत्कारी प्रयोग होता है। ऐसा कर्मवाच्य में होता है। नीचे की पंक्तियों में प्रसाद जी ने 'तुलना' क्रिया का दोनों रूपों में सुन्दर प्रयोग किया है-

मैं जभी तोलने का करती उपचार स्वयं तुल जाती हूँ।
भुज लता फँसा कर नर तरु से झूले से झोंके खाती हूँ।

प्रत्यय वक्रता

इस वक्रता में प्रत्यय के प्रयोग से चमत्कार उत्पन्न होता है। जैसे -

पिय सों कहेहु सँदेसड़ा हे भौंरा! हे काग।
सो धनि विरहै जरि मुई तेहिक धुँआ हम लाग।।

यहाँ 'संदेसड़ा' में प्रत्यय के कारण प्रत्यय वक्रता है।

उपसर्ग वक्रता

जहाँ उपसर्ग के सुन्दर प्रयोग द्वारा काव्य में सौन्दर्य का विधान किया जाता है, वहाँ उपसर्ग वक्रता होती है। उदाहरणार्थ -

एक दिवस अति मुदित उदधि के बीचि-बिचुम्बित तीरे।
सुख की भॉति मिला प्राणी से आकर धीरे-धीरे।।

निपात वक्रता

निपात अव्यय होते हैं। जहाँ निपातों के कारण कविता को चमत्कार सम्पन्न किया जाता है, वहाँ निपात वक्रता होती है। उदाहरणार्थ -

उसके आशय की थाह मिलेगी किसको
जनकर जननी ही जान न पाई जिसको।

इसमें 'ही' के प्रयोग के कारण निपात वक्रता है।

7.4.4 वाक्य वक्रता

वाक्य-वक्रता को वाच्य-वक्रता और वस्तु-वक्रता भी कहा जाता है। इस वक्रता का आधार सम्पूर्ण वाक्य होता है। जहाँ वस्तु का उत्कर्षयुक्त तथा स्वभाव से सुन्दर रूप में केवल सुन्दर शब्दों द्वारा वर्णन होता है, वहाँ वाक्य-वक्रता होती है। यह वाक्य-वक्रता दो प्रकार की होती है - सहजा एवं आहार्या। आचार्य कुन्तक का कथन है -

सैषा सहजार्यभेदभिन्ना वर्णनीयस्य वस्तुनो द्विप्रकारस्य वक्रता।

(1) सहजा वक्रता

सहजा वक्रता में वस्तु का स्वाभाविक अथवा प्राकृत वर्णन किया जाता है। यह वर्णन कभी स्वभाव-प्रधान होता है तो कभी रसपूर्ण। इसमें अलंकारों का प्रयोग प्रायः नही होता है। यदि अलंकार आ भी जाते है तो वे काव्य की सहजता में बाधा नहीं उत्पन्न करते है। यथा-

मैया मोंहि दाउ बहुत खिझायो।
मों सौ कहत मोल को लीन्हों, तू जसुमति कब जायो।

(2) आहार्या वक्रता

शिक्षा एवं अभ्यास के द्वारा अर्जित कौशल से कवि जब काव्य में रमणीय चित्रांकन करता है, तो वहाँ आहार्या वक्रता होती है। इसमें उपमा, रूपक, मानवीकरण आदि अलंकारों के रम्य प्रयोग द्वारा कविता को सौन्दर्य एवं अर्थगौरव से संयुक्त किया जाता है। 'कामायनी' के आशा सर्ग से यह उदाहरण प्रस्तुत है -

सिन्धु सेज पर धरा वधू अब तनिक संकुचित बैठी-सी।
प्रलय निशा की हलचल स्मृति-सी मान किये सी ऐंठी-सी।

इन पंक्तियों में प्रलयकालीन समुद्र में तैरती हुई पृथ्वी का सुन्दर बिम्ब प्रस्तुत किया गया है। जिस प्रकार कोई नवविवाहिता वधू विगत रात्रि में पति द्वारा किए गये रति सम्बन्धी निर्दय व्यवहार का स्मरण करते हुए, संकोचपूर्वक इठलाकर बैठी हुई होती है। वैसे ही जल से थोड़ा ऊपर उठी हुई पृथ्वी मानवती नायिका के समान आभासित हो रही है। यहाँ उपमा, रूपक, समासोक्ति एवं मानवीकरण आदि के कारण काव्य चमत्कृत एवं प्रभावषाली हो गया है।

7.4.5 प्रकरण-वक्रता

प्रकरण-वक्रता से आचार्य कुन्तक का अभिप्राय वर्णित प्रसिद्ध ऐतिहासिक अथवा पौराणिक इतिवृत्तों में कविकल्पना से प्रसूत अनेक मार्मिक और मौलिक प्रसंगों की उद्भावना से है। कुन्तक ने प्रकरण वक्रता के निम्नलिखित भेद किए है-

(1) भावपूर्ण स्थिति की उद्भावना (2) अविद्यमान की कल्पना और विद्यमान प्रकरण का रसोचित परिष्कार (3) प्रकरणों का उपकार्य-उपकारक भाव (4) एक ही स्थिति का बार-बार नवनवायमान उपस्थापन (5) काव्य को रमणीय बनाने के लिए कथावैचित्र्य सर्जक जलक्रीड़ा आदि प्रसंगो का उद्भावन (6) गर्भांक योजना (7) सन्धि विनिवेष आदि।

'कामायनी' में लज्जा सर्ग अपनी समग्रता में एक भावमय योजना है। निराला के 'तुलसीदास' में नवजागरण की शक्तिवादी मान्यता के अनुरूप कल्मष□ को दूर करने के लिए रत्नावली के रूप में सरस्वती की उद्भावना की गई है, जो अविद्यमान की उद्भावना है। कवियों द्वारा प्रबन्ध काव्य में विस्तार हेतु नगर, समुद्र, ऋतुवर्णन, जलक्रीड़ा आदि का मनोग्राही, मार्मिक एवं रसानुभूति से परिपूर्ण चित्रण करते है।

निष्कर्ष यह है कि कवि अपनी प्रातिभ क्षमता और प्रातिभ स्वतन्त्रता से प्रबन्ध में बाँॅकपन लाने के लिए प्रकरण-वक्रता की योजना करता है।

7.4.6 प्रबन्ध वक्रता

प्रबन्ध प्रकरणों का समुच्चय है। वह खंडकाव्य और महाकाव्य हो सकता है तथा नाटक भी। यह वक्रोक्ति का एक व्यापक रूप है। इसके प्रमुख भेद हैं -

(1) प्रबन्धरस परिवर्तन वक्रता

(2) समापन वक्रता

(3) कथा विच्छेद वक्रता

(4) आनुषंगिक फल वक्रता

(5) नामकरण वक्रता

प्रातिभ कवि प्रबन्ध-वक्रता द्वारा काव्य को प्रभावषाली बनाने में समर्थ होते है। अभिज्ञान शाकुन्तलम, रामचरितमानस, साकेत, प्रियप्रवास, कामायनी आदि प्रबंध वक्रता सम्पन्न श्रेष्ठ रचनायें है।

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि आचार्य कुन्तक ने वक्रोक्ति को अत्यन्त व्यापक स्वरूप प्रदान किया है जिसमें काव्य के सभी प्रचलित सिद्धान्त समाहित हो गये है।

बोध प्रश्न 2

(3) कुन्तक ने वक्रोक्ति के भेद किए है -

(क) 5 (ख) 4 (ग) 9 (घ) 6

(4) उपचार वक्रता उपभेद है -

(क) वर्णविन्यास वक्रता का (ख) पदपूर्वार्ध वक्रता का

(ग) प्रकरण वक्रता का (घ) प्रबन्ध वक्रता का

(5) सुमेल कीजिए

वक्रोक्ति के भेद	वक्रोक्ति के उपभेद
(क) पदपूर्वार्ध वक्रता	(1) भावपूर्ण स्थिति की उद्भावना
(ख) पदपरार्ध वक्रता	(2) आहार्या वक्रता
(ग) वाक्य वक्रता	(3) पर्याय वक्रता
(घ) प्रकरण वक्रता	(4) प्रत्यय वक्रता

(6) जब कविता में समासों के प्रयोग से वक्रता उत्पन्न की जाती है तो वहाँ होती है-

(क) रूढ़िवैचित्र्य वक्रता (ख) वृत्ति वक्रता

(ग) क्रियावैचित्र्य वक्रता (घ) सामासिक वक्रता

7.5 वक्रोक्ति और अभिव्यंजना वाद

हिन्दी में क्रोचे के अभिव्यंजनावाद का उल्लेख आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने अपने ग्रन्थ चिन्तामणि-भाग 2 में किया है। उनका कथन है-'योरप का यह 'अभिव्यंजनावाद' हमारे यहॉ के पुराने 'वक्रोक्तिवाद'- वक्रोक्तिः काव्यजीवितम् - का ही नया रूप या विलायती उत्थान है।' शुक्ल जी के इस कथन के बाद हिन्दी में वक्रोक्तिवाद और अभिव्यंजनावाद की तुलना की परम्परा चल पड़ी। क्रोचे का अभिव्यंजना सिद्धान्त सहजानुभूति अभिव्यंजना पर आधारित है, जो उनके अनुसार चेतना की सबसे महत्वपूर्ण क्रिया है। सहजानुभूति को उन्होंने इण्ट्यूशन (अन्तःप्रज्ञा) कहा है। कलाकार जगत में जो कुछ देखता है, उसके यथार्थ का बोध सहजानुभूति के रूप में उसके मन में उभरता है। यह एक अपूर्व प्रतीति होती है। क्रोचे के विचारानुसार यह सहजानुभूति ही अभिव्यंजना है और मानस के अन्दर सहजानुभूति प्रभावों की अभिव्यंजना ही कला है। संक्षेप में हम कह सकते है-

- अन्तःप्रज्ञा और अभिव्यंजना में भेद नहीं है।
- प्रत्येक अन्तःप्रज्ञा कला है।
- कला का सृजन केवल आन्तरिक है।
- कला रूप में है वस्तु में नहीं।

- कला अखण्ड है।

वस्तुतः इन दोनों सिद्धान्तों में साम्य कम, वैषम्य अधिक है। हम इसे निम्नलिखित रूप में समझ सकते हैं -

(1) 'अभिव्यंजनावाद' सभी कलाओं को दृष्टि में रखकर स्थापनाएं करता है, जबकि 'वक्रोक्तिवाद' मात्र काव्य-कला को ही दृष्टि में रखकर निर्णय देता है।

(2) अभिव्यंजनावाद कला की रचना-प्रक्रिया का विवेचन करता है, जबकि वक्रोक्तिवाद काव्य में 'आस्वाद' पक्ष की व्याख्या भी करता है।

(3) वक्रोक्तिवाद वस्तु और रूप दोनों का महत्व स्वीकार करता है जबकि अभिव्यंजनावाद केवल रूप की ही सत्ता मानता है।

(4) अभिव्यंजनावाद में कला का कोई उद्देश्य नहीं माना गया है, जबकि वक्रोक्ति सिद्धान्त में अर्थ, धर्म, काम, मोक्ष की सिद्धि को काव्य का उद्देष्य माना गया है।

(5) अभिव्यंजनावाद में कला स्वतः स्फूर्त अन्तःप्रज्ञा की देन है।

(6) क्रोचे कला का वर्गीकरण नहीं मानते हैं जबकि कुन्तक का समग्र विवेचन, चाहे वह वक्रोक्ति का हो, गुणों का हो- विभाजन और वर्गीकरण पर ही आधारित है।

इस प्रकार अभिव्यंजनावाद और वक्रोक्ति सिद्धान्त में वैषम्य अधिक है। साम्य मात्र एक या दो बातों में है। प्रथम कुन्तक और क्रोचे दोनो ही उक्ति (अभिव्यंजना) महत्व देते है। दूसरे, दोनो ही अलंकार की बाह्यता का खण्डन करते है। वे मानते है कि अलंकार ऊपर से आरोपित वस्तु नही है। अतः अभिव्यंजनावाद को वक्रोक्तिवाद का विलायती उत्थान नहीं कहा जा सकता है।

7.6 वक्रोक्ति और शैलीविज्ञान

शैलीविज्ञान आधुनिक आलोचना का एक सशक्त प्रतिमान है। इस भाग में हम शैलीविज्ञान एवं वक्रोक्ति सिद्धान्त के सम्बन्ध से परिचित होंगे।

शैली भाषा का विषिष्ट चयन-संयोजन है। काव्य में शैली के इस विषिष्ट चयन-संयोजन का अध्ययन ही शैली विज्ञान कहलाता है। विचलन, चयन, विपथन, ध्वनि, पद, वाक्य एवं अर्थ के स्तर पर होता है। ऊपर प्रत्यय वक्रता के उदाहरण के रूप में जायसी का निम्नलिखित दोहा उद्धृत किया गया हैः पिय सों कहेउ संदेसड़ा, हे भौंरा! हे काग! यहाँ 'ड़ा' प्रत्यय के व्यवहार से प्रत्यय वक्रता है। यह 'ड़' प्रत्यय नागमती की विरह- व्यथा को, जिससे उसका हृदय विदीर्ण हो रहा है, साभिप्राय रूप में प्रकट कर देता है। सामान्य शब्द संदेष है, जिसका विचलित रूप 'संदेसड़ा' है। अतः यहॉ शैलीविज्ञान की दृष्टि से

विचलन है। इसी प्रकार लिंग वैचित्र्य वक्रता में आंसू की निम्नलिखित पंक्तियां उद्धृत की गई हैं-

शशि मुख पर घूँघट डाले अंचल में दीप छिपाये
जीवन की गोधूली में कौतूहल से तुम आये।

यहाँ नारी को सम्बोधित किया है जिसके लिए 'आए' क्रिया का प्रयोग है जो कि पुल्लिंग है। यह लिंगवैचित्र्य वक्रता रूप स्तरीय विचलन पर आधारित है। शैलीविज्ञान में चयन को महत्वपूर्ण स्थान प्राप्त है। वर्ण्य विषय के अनुकूल शब्दों एवं वाक्यों के प्रयोग को चयन कहते हैं। जिस कवि की चयन शक्ति जितनी ही विवेकपूर्ण तथा भाव, प्रकरण एवं प्रसंग के अनुकूल होगी, उसकी शैली उतनी ही प्रौढ़ होगी। आचार्य कुन्तक ने भी शब्द-चयन के विषय में कहा है -

शब्दो विवक्षितार्थैकवाचकोऽन्मेषु सत्स्वपि।
अर्थः सहृदयाह्लादकारिस्वयन्द सुन्दरः।।

निराला का गीत है -

सुमन भर न लिए,
सखि वसन्त गया-

यहाँ सुमन केवल सामान्य पुष्प का अर्थ नहीं होता है। वह रंगों की चमक से युक्त तो है ही, गंध से भी भरा हुआ है। सुमन का अर्थ है- सुन्दर मन वाला। फूल का तन ही सुन्दर नहीं है, मन भी सुन्दर है अर्थात फूल गंधयुक्त है। अतः यहाँ पर्यायवक्रता के साथ-साथ शैली विज्ञान की 'चयन' प्रक्रिया भी सक्रिय है।

'समान्तरता' भी शैली विज्ञान का एक महत्वपूर्ण प्रतिमान है। समान्तरता का आषय है - किसी रचना में समान या विरोधी भाषिक इकाईयों का समान्तर प्रयोग। यह आवृत्ति ध्वनि, शब्द, रूप या वाक्यादि की हो सकती है। कुन्तक की वर्णविन्यास वक्रता का भी पूरा मण्डान आवृत्ति पर ही टिका है। पन्त की निम्नलिखित कविता में वर्णविन्यास वक्रता एवं समान्तरता के गुणों को एक साथ परिलक्षित किया जा सकता है -

मृदु मंद मंद मंथर मंथर
लघु तरणि हंसिनी-सी सुन्दर
तिर रही खोल पालों के पर।

शैलीविज्ञान का एक तत्व है - विपथन। विचनल सदैव नियमों से होता है जबकि विपथन सिद्धान्तों या ढाँचों से होता है। प्रकरण वक्रता का एक भेद है- उत्पाद्य लावण्य वक्रता। इसे अविद्यमान की कल्पना

कहा गया है। यह वक्रता वहाँ होती है जहाँ एकदम नवीन प्रसंग को कथा में गुंफित किया गया हो। 'राम की शक्तिपूजा' में निरालाजी हनुमान को महाकाश में पहुंचाते हैं -

शत घूर्णावर्त तरंग-भंग, उठते पहाड़,
जल-राशि -राशि -जल पर चढ़ता खाता पछाड़,
तोड़ता बंध-प्रति-संध, धरा हो स्फीत वक्ष
दिग्विजय-अर्थ प्रतिपल समर्थ बढ़ता समक्ष।

शैलीवैज्ञानिक दृष्टि से यहाँ प्रोक्ति स्तर का विपथन सक्रिय है, क्योंकि पूर्ववर्ती कथाओं में यह प्रसंग प्राप्त नहीं होता है। इस प्रकार शैली विज्ञान के सभी प्रतिमान- विचलन, विपथन, समान्तरता एवं विरलता आदि किसी न किसी रूप में वक्रोक्ति-सिद्धान्त के भेदों-प्रभेदों में बिखरे रूप में मिल जाते है।

बोध प्रश्न 3

(7) 'अभिव्यंजनावाद' वक्रोक्ति का विलायती उत्थान है - यह किस समीक्षक ने कहा है-

(क) बाबू गुलाबराय (ख) आचार्य रामचन्द्र षुक्ल
(ग) आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी (घ) आचार्य नन्ददुलारे बाजपेयी

(8) 'अभिव्यंजनावाद एवं वक्रोक्तिवाद सिद्धान्त' का साम्य-वैषम्य लगभग 10 पंक्तियों में स्पष्ट कीजिए।

.....
.....
.....
.....
.....
.....
.....

(9) 'शैली विज्ञान एवं वक्रोक्ति सिद्धान्त' पर अपने विचार लगभग 100 शब्दों में व्यक्त कीजिए।

.....
.....
.....
.....
.....

.....

.....

.....

.....

7.7 सारांश

चतुर तथा चमत्कारपूर्ण रचना वक्रोक्ति है- वैदग्ध्यभंगीभणिति। विदग्धता में रमणीयता का भाव निहित है। इस प्रकार रमणीय उक्ति अथवा वक्रोक्ति को काव्य की संज्ञा देने के पश्चात आचार्य कुन्तक ने उसे काव्य का 'जीवित' बताया- वक्रोक्ति काव्यजीवितम्। वर्ण सम्बन्धी सूक्ष्म एवं बाह्य सौन्दर्य से लेकर प्रकरण और प्रबन्धवक्रता तक का विवेचन इस सिद्धान्त में है। कविता के चमत्कार के सूक्ष्म एवं व्यवस्थित विश्लेषण के लिए वक्रोक्ति सिद्धान्त सूक्ष्म, व्यापक एवं सर्वांगीण निकष का काम कर सकता है। यह दुर्भाग्य का विषय है कि परवर्ती आचार्यो ने उसे मात्र शब्दालंकार-काकुवक्रोक्ति एवं श्लेष वक्रोक्ति तक सीमित कर दिया।

7.8 शब्दावली

चारुता	-	सुन्दरता
वाङ्मय	-	साहित्य
जल्पित	-	कहा हुआ
संवरण	-	छिपाना
उद्भावना	-	कल्पना
कल्मष	-	पाप का अंधकार
प्रातिभ	-	प्रतिभा सम्पन्न

7.9 अभ्यासों के उत्तर

बोध प्रश्न 1

(1) (क) काव्यालंकार (ख) स्वभावोक्ति एवं वक्रोक्ति

(ग) सादृष्याल्लक्षणा वक्रोक्तिः (घ) वक्रोक्ति

(2) शब्दार्थौ सहितौ वक्रकविव्यापार शालिनि।

बन्धे व्यवस्थितौ काव्यं तद्विदाह्लदकारिणी।

(3) (ग)

बोध प्रश्न 2

(4) पदपूर्वार्ध वक्रता

(5) क-3, ख-4, ग-2, घ-1

(6) ख

बोध प्रश्न 3

(7) ख

7.10 उपयोगी पाठ्य सामग्री

1. भारतीय एवं पाश्चात्य काव्यशास्त्र - डॉ0 गणपति चन्द्र गुप्त लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद।
2. रीति काव्य की भूमिका - डॉ0 नगेन्द्र, नेशनल पब्लिशिग हाउस, नई दिल्ली।
3. भारतीय काव्य विमर्ष- डॉ0 राममूर्ति त्रिपाठी, वाणी प्रकाषन, नई दिल्ली।

7.11 निबंधात्मक प्रश्न

1. वक्रोक्ति से आप क्या समझते हैं ? भारतीय काव्यशास्त्र के सन्दर्भ में वक्रोक्ति सिद्धांत का विस्तृतविवेचन कीजिए
2. वक्रोक्ति का आशय स्पष्ट करते हुए उसके भेदों का विश्लेषण कीजिए तथा अभिव्यंजनावाद एवं वक्रोक्ति सिद्धांत का संक्षिप्त तुलना कीजिए

इकाई : 8 पाश्चात्य काव्यशास्त्र का परिचय

इकाई की रूपरेखा

8.0 उद्देश्य

8.1 प्रस्तावना

8.2 पाश्चात्य काव्यशास्त्र का परिचय

8.3 प्रमुख पाश्चात्य काव्यशास्त्री एक परिचय

8.4 पाश्चात्य काव्यशास्त्र के प्रमुख सिद्धांत

8.9 सारांश

8.10 बोध प्रश्नों / अभ्यासों के उत्तर

8.11 सन्दर्भ पुस्तकें

8.0 उद्देश्य

•छात्रों को पश्चिमी काव्यशास्त्र के सिद्धांतों से परिचित कराना, जिससे पश्चिमी काव्य-दृष्टि समझ आए।
•भारतीय काव्य शास्त्र से तुलना कर समानताएँ-असमानताएँ समझाना, जिससे आलोचनात्मक समझ को बढ़ाया जाय
•सिद्धांतों का सरल परिचय देकर साहित्य रचना-मूल्यांकन सिखाना

8 .1 प्रस्तावना

पाश्चात्य काव्यशास्त्र पश्चिमी साहित्यिक आलोचना की वह शाखा है जो प्राचीन यूनान से आधुनिक यूरोप तक काव्य के स्वरूप, उद्देश्य, रचना-प्रक्रिया और प्रभाव पर विचार करता है। इसका विकास प्लेटो और अरस्तू से शुरू होकर रोमांटिक, आधुनिक और उत्तर-आधुनिक चिंतकों तक फैला है पाश्चात्य काव्यशास्त्र (वेस्टर्न पोएटिक्स) का उद्भव के साथ ईसा के आठ शताब्दी पूर्व से ही माने जाने लगे हैं। होरेस और लोंगिनस जैसे महाकवियों के काव्य में पाश्चात्य काव्यशास्त्रीय संकेतों के प्रारम्भिक बिंदु गौणदृष्टि से देखे जाते हैं। ईसापूर्व युगीन में वस्तुवस्तुताओं का काव्य में प्रवेश हुआ। लक्षणों की दृष्टि से उस समय की प्रमुख धारा लॉरेन्स और कुछ नाटकों की दृष्टि काफ़ी महत्वपूर्ण और उत्साहजनक है। आगमन से कितना लेखन उस समय बड़ा माना जाता है? यह अब तक चर्चा का विषय बनी जाती है। काव्य में मनोवैज्ञानिक दृष्टियों तथा काव्य मनोविज्ञान के कारण महत्वपूर्ण हैं या आनन्द प्रधान भाव

तथा मनोभाव के कारण? इस तरह से काव्याशास्त्रीय चिंतन-सूत्र अपनी तमाम नई दृष्टियों समेत गौण रहे और आधुनिक काव्य-समालोचन की शुरुआत प्लेटो से हुई।

8.2 पाश्चात्य काव्यशास्त्र का परिचय

8वीं शताब्दी ई.पू. से साक्ष्य मिलते हैं, लेकिन प्लेटो (427-347 ई.पू.) के 'रिपब्लिक' में काव्य को अनुकरण (mimesis) माना गया, जबकि अरस्तू (384-322 ई.पू.) ने 'पोएटिक्स' में त्रासदी और कथानक की श्रेष्ठता बताई। लोंगिनस का 'ऑन द सब्लिम' (उदात्त रस) और होरेस का 'आर्ट ऑफ पोएट्री' ने औचित्य सिद्धांत दिया। पाश्चात्य विद्वानों ने भी साहित्य की विभिन्न परिभाषाएँ की हैं जिनमें से कुछ यहाँ उल्लेखनीय हैं। अरस्तू ने 'शब्दों के माध्यम से प्रस्तुत अनुकृति को काव्य या साहित्य की संज्ञा दी है।' सिडनी के विचार से 'काव्य या साहित्य वह अनुकरणात्मक कला है जिसका लक्ष्य शिक्षा और आनंद प्रदान करता है।' कालरिज के अनुराग 'काव्य रचना का वह विशिष्ट प्रकार है जिसका तात्कालिक लक्ष्य प्रसन्नता प्रदान करना होता है।' शेली के विचार से 'काव्य सर्वाधिक सुखी एवं श्रेष्ठतम हृदयों के श्रेष्ठतम क्षणों का लेखा-जोखा है।' हडसन ने भाषा के माध्यम से जीवन की अभिव्यक्ति को काव्य माना है। इस प्रकार अलग-अलग विद्वानों ने अलग-अलग परिभाषाएँ प्रस्तुत की हैं जिनसे काव्य या साहित्य को अपने अपने तरह से समझा जाता है कठिन है। साहित्य में काव्य या साहित्य क्या है, इसका उत्तर देने के स्थान पर काव्य और कवि, काव्य या पाठक तथा काव्य और जीवन के सम्बन्ध को जोड़ा जाता रहा है पर मूल प्रश्न अपनी जगह बना रहता है। उपरोक्त परिभाषाएं साहित्य के विभिन्न दृष्टिकोणों एवं पक्षों की तरफ संकेत करती है परन्तु किसी को भी साहित्य की एक सर्वाङ्गीण परिभाषा के रूप में स्वीकार करना कठिन है। काव्य शास्त्र को बाद के समय में सभी कलारूपों में शामिल किया साहित्य कला रंगमंच में भी तब बहस आई चल कि कला का उद्देश्य क्या है? विशुद्ध कला या सौन्दर्य को मानने वाले विद्वानों में क्रोचे, आस्कर, वाल्ड, वाल्टर पेटर, जे० ई० स्पिनगार्न आदि प्रमुख हैं। क्रोचे का मत 'अभिव्यंजनावाद' के नाम से प्रसिद्ध है। उन्होंने आत्मा की दो प्रवृत्तियाँ मानी हैं- एक विचारात्मक या सैद्धान्तिक (Theoretic) और दूसरी व्यावहारिक (Practical)। इस विचारात्मक या सैद्धान्तिक प्रवृत्ति के भी दो उपभेद हैं, एक स्वानुभूति से प्रेरित (Intuition), और दूसरी तर्क की क्रिया (Logic) से उत्पन्न। व्यावहारिक प्रवृत्तियों के भी क्रोचे ने दो भेद किये हैं- आर्थिक और नैतिक। इस प्रकार ये चार प्रवृत्तियाँ निश्चित हुई (१) स्वानुभूति से प्रेरित (Intuition), (२) तर्क की क्रिया से उत्पन्न (Logic), (३) आर्थिक (Economic) और (४) नैतिक (Ethical)। कला का संबंध इनमें से प्रथम प्रवृत्ति-स्वानुभूति से ही है, अतः शेष प्रवृत्तियाँ जिनमें नैतिक

प्रवृत्तियाँ भी सम्मिलित हैं, कला से असम्बद्ध हैं। कला-सृष्टि की प्रक्रिया को स्पष्ट करते हुए उन्होंने कहा है जब कोई भी कलाकार स्वानुभूति को सहज स्वाभाविक रूप में अभिव्यक्त कर देता है, तो वही कला का रूप धारण कर लेती है। अतः अभिव्यक्ति की पूर्णता ही कला की पूर्णता है। अभिव्यक्ति ही उसका सौन्दर्य है। इस प्रकार क्रोचे विभिन्न प्रवृत्तियों के वर्गीकरण के द्वारा कला का क्षेत्र नैतिकता से भिन्न मानता है। यदि कलाकार अनैतिक तत्वों की अभिव्यंजना करता है, तो यह दोष स्वयं कलाकार का नहीं है, अपितु उस समाज का है जिसके वातावरण के प्रभाव से उसने ऐसी अनुभूति ग्रहण की। अतः जो आलोचक कला में नैतिकता देखना चाहते हैं, वे पहले समाज के वातावरण में नैतिकता को प्रतिष्ठित करें।

श्री आस्कर वाइल्ड और स्पिनगार्न महोदय ने भी कला का क्षेत्र नैतिकता से भिन्न मानते हुए 'कला कला के लिए' का समर्थन किया है। आस्कर वाइल्ड ने स्पष्ट रूप में घोषित किया है-"समालोचना में सबसे पहली बात यह है कि समालोचक को यह परख हो कि कला और आचार के क्षेत्र पृथक् पृथक् हैं।" जे० ई० स्पिनगार्न के शब्दों में- "शुद्ध काव्य के भीतर सदाचार यादुराचार ढूँढ़ना ऐसा ही है जैसा कि रेखागणित के समत्रिकोण त्रिभुज को सदाचारपूर्ण कहना और समद्विबाहु त्रिभुज को दुराचारपूर्ण।" ब्रेडले ने भी "कला कला के लिए" मत का समर्थन करते हुए कहा है कि कला को सौन्दर्य के माप-दण्ड से ही नापना चाहिए। हाँ, अनैतिकतापूर्ण रचनाओं को नागरिकों की दृष्टि से प्रकाशित न भी किया जाय तो कोई बात नहीं। ब्रेडले ने बतलाया है कि रोसिटी (Rosseti) ने अपनी एक कविता को जिसे मर्यादावादी टेनीसन ने भी पसन्द किया था, लोक-मर्यादा के भय से प्रकाश में नहीं आने दिया। इस सम्बन्ध में ब्रेडले महोदय का कहना था कि उसका यह निर्णय नागरिक की दृष्टि से था, कलाकार की हैसियत से नहीं। आधुनिक मनोविश्लेषकों में भी अनेक ने कलावाद का समर्थन किया है। फ्रायड ने काव्य को अतृप्त वासनाओं की अभिव्यक्ति माना है। ऐसी स्थिति में काव्य में कामुकता और अश्लीलता का आ जाना स्वाभाविक है। इस धारणा से साहित्यकारों को नग्न दृश्यों के चित्रण की छूट मिल गयी। वे कला के आचरण में अपने कृत्सित मन की गन्दगी को प्रस्तुत करने लगे हैं। यदि क्रोचे ने स्वाभाविक अभिव्यक्ति को काव्य का लक्ष्य माना था, तो फ्रायडवादी अश्लील अभिव्यक्ति को ही अपना साध्य मानने लगे हैं। वस्तुतः क्रोचे, स्पिनगार्न, ब्रेडले, फ्रायड आदि सभी कलावाद के समर्थकों के विचार अतिवादी हैं। सर्वप्रथम क्रोचे ने अभिव्यक्ति को ही सौन्दर्य मानकर एक बडी भारी भ्रान्ति का प्रचार किया। प्रत्येक व्यक्ति में थोड़ी-बहुत अनुभूति की मात्रा तो होती ही है और वह किसी-न-किसी रूप में उसे अभिव्यक्त भी करता है, किन्तु प्रत्येक व्यक्ति की प्रत्येक भावाभिव्यक्ति काव्य का रूप धारण नहीं करती। जब दो व्यक्ति परस्पर झगड़ते हैं तो उनकी उक्तियों में क्रोध की सफल अभिव्यक्ति होती है, पर

क्या उसे हम काव्य की संज्ञा दे सकते हैं? अभिव्यक्ति काव्य का साधन है, साध्य नहीं। दूसरे व्यक्ति का चरित्र भी उसकी विकसित भावनाओं पर आधारित होता है, अतः चारित्रिक वृत्तियों- नैतिकता आदि- का हमारी भावनाओं से गहरा सम्बन्ध होता है तथा काव्य की भी मूलाधार भावनाएँ होती हैं। इस दृष्टि से नैतिकता और काव्यात्मकता- दोनों का प्रेरणास्त्रोत एक ही है। अतः कला को नैतिकता से सर्वथा पृथक् मानना उचित नहीं। यह ठीक है कि कला का सर्वोपरि गुण उसका सौन्दर्य है, किन्तु यह सौन्दर्य यदि नैतिकता से शून्य होगा तो उससे प्रभाव में न्यूनता आयेगी। स्वयं सौन्दर्य को सौन्दर्य बनाये रखने के लिए भी नैतिकता की प्रधान रूप में न सही, गौण रूप में आवश्यकता है। जैसा कि हमने प्रारम्भ से प्रतिपादित किया था कि सौन्दर्य का लक्ष्य हमारे जीवन में आनन्द की प्रतिष्ठा करना है, किन्तु जो तत्व ऐसा करने में समर्थ न हो, उसे सौन्दर्य की उपाधि से कैसे विभूषित कर सकते हैं ? टालस्टाय ने भी कला का मानदण्ड नैतिकता को सिद्ध करते हुए लिखा है-

"In every age and in every human society there exists a religious sense of what is good and what is bad common to the whole society and it is this relgious conception that decides the value of the feelings transmitted by art."

आधुनिक युगीन पाश्चात्य विद्वानों में रस्किन ने कला में नैतिकता का समर्थन दृढ़तापूर्वक किया। रस्किन ने सौन्दर्य का सम्बन्ध आध्यात्मिकता से स्थापित करते हुए बताया है कि हमारी सौन्दर्यानुभूति हमारी इन्द्रियों, या हमारी मानसिक शक्तियों पर आधारित नहीं है, अपितु उसका सम्बन्ध हमारी आस्तिक भावनाओं से है। साथ ही उसका यह भी विश्वास है कि सच्चरित्र व्यक्ति ही उच्च कोटि की कला का सृजन और आस्वादन कर सकता है। इसी प्रकार मैथ्यू आर्नल्ड, रिचर्ड्स आदि विद्वानों ने भी नैतिकता का समर्थन किया है। जहाँ कलांवादियों ने सौन्दर्य को इतना अधिक महत्त्व दिया है कि उससे नैतिकता अस्वस्थ हो जाती है तो नैतिकता को इतना बढ़ावा भी दिया है कि उससे सौन्दर्य का दम घुट जाता है। इस तरह से पाश्चात्य काव्य शास्त्र ने काव्य और अन्य काला रूपों को भिन्न भिन्न सन्दर्भों में देखा और समझा।

8.3 प्रमुख पाश्चात्य काव्यशास्त्री एक परिचय

प्लेटो

पाश्चात्य संस्कृति एवं सभ्यता का आदिस्रोत यूनान रहा है। यूनान के दार्शनिकों, विचारकों एवं काव्य-चिन्तकों ने जिन सिद्धान्तों का प्रतिपादन ईसा से चार-पाँच शताब्दियों पूर्व किया था, उन्हीं की अनुगूँज परवर्ती युग में यूरोप के विभिन्न विचारकों की शब्दावली में सुनाई देती है। यूनान के गौरवशाली

चिन्तकों एवं महान् दार्शनिकों में सुकरात के शिष्य प्लेटो (४२८ ई० पू०-३४७ ई० पू०) का नाम सर्वोपरि है। प्लेटो मूलतः दार्शनिक थे- उन्होंने ई० पू० ३८८ में अपनी जन्मभूमि एथेन्स में एक विद्यालय की भी स्थापना की थी तथा अपने अंतिम समय तक उसी में अध्यापन कार्य करते रहे। विद्यालय की स्थापना से पूर्व वे विदेश भ्रमण के लिए चले गये थे। लगभग ग्यारह वर्ष तक उन्होंने एशिया माइनर से लेकर इटली तक विभिन्न देशों की यात्रा करते हुए विभिन्न दार्शनिक सिद्धान्तों एवं विद्याओं का ज्ञान प्राप्त किया। कदाचित यही कारण है कि हम प्लेटो में पूर्ववर्ती यूनानी दार्शनिकों से भिन्न, सर्वथा नूतन एवं मौलिक विचारों का उन्मेष देखते हैं। वैसे वे पूर्ववर्ती यूनानी दार्शनिकों मुख्यतः पाइथागोरस एवं सुकरात के भी पर्याप्त ऋणी हैं। फिर भी प्लेटो का दृष्टिकोण सर्वत्र स्वतन्त्र एवं मौलिक दिखाई पड़ता है जिसका प्रकटीकरण उनके द्वारा रचित विभिन्न दार्शनिक एवं राजनीतिक ग्रन्थों में हुआ। उनके द्वारा रचित ग्रन्थों में 'दि रिपब्लिक' (गणराज्य), 'दि स्टेट्समैन' (राजनेता), 'दि लॉज' (विधि) आदि उल्लेखनीय हैं।

अरस्तू

पाश्चात्य ज्ञान-विज्ञान के क्षेत्र में यूनानी विद्वान अरस्तू (३७४ ई० पू०-३२२ ई० पू०) का स्थान इतना अधिक महत्त्वपूर्ण है कि उन्हें यदि पाश्चात्य विद्याओं का आदि आचार्य भी कह दिया जाय तो अत्युक्ति नहीं होगी। वे एक ओर प्रसिद्ध दार्शनिक प्लेटो के शिष्य थे तो दूसरी ओर विश्व-विजेता सिकन्दर महान् के गुरु होने का गौरव भी उन्हें प्राप्त है। उन्होंने अपने जीवन में लगभग चार सौ ग्रन्थों की रचना की जिनमें तर्क-शास्त्र भौतिकशास्त्र, मनोविज्ञान, ज्येतिर्विज्ञान, राजनीति-शास्त्र, आचार-शास्त्र, काव्य-शास्त्र आदि अनेक विषयों की सारगर्भित विवेचना मिलती है। उनके साहित्य-सम्बन्धी विचार "काव्य-शास्त्र" (Poetics) एवं “भाषण-शास्त्र" (Rhetorics) में उपलब्ध होते हैं। इन्हीं के आधार पर हम यहाँ उनके प्रमुख काव्य-सिद्धान्तों पर प्रकाश डालने का प्रयत्न करेंगे।

लोंजाइनस

यूनान के साहित्य-चिन्तकों की परम्परा में लोंजाइनस (Longinus) का गौरवपूर्ण स्थान है। उनकी एक छोटी-रचना उपलब्ध है- On the Sublime ('औदात्य' पर विचार) जो कि अनेक शताब्दियों तक अज्ञात एवं अप्रकाशित रही। आधुनिक काल के विद्वानों को इसके अस्तित्व का पता सर्वप्रथम १५५४ ई० में चला तथा तदनन्तर १६५२ में इसका अंग्रेजी अनुवाद हुआ जिससे इसका प्रचलन योरप के विभिन्न भागों में हुआ। स्वयं लोंजाइनस के जीवन काल के सम्बन्ध में भी विद्वानों में मतभेद है, कुछ उन्हें पहली शताब्दी का कोई अप्रसिद्ध लेखक मानते हैं, तो दूसरे उन्हें तीसरी शताब्दी के सुप्रसिद्ध लोंजाइनस के रूप में स्वीकार करते हैं, जो कि महारानी जेनोबिया का मंत्री था तथा जिसने अपनी

स्वामि-भक्ति की प्रेरणा से आत्मोत्सर्ग कर दिया था। हमारे विचार से लोंजाइनस का उदात्त चरित्र उन्हें 'औदात्य' ग्रन्थ का रचयिता सिद्ध करने के लिए पर्याप्त है, अतः हम भी उन्हें तीसरी शताब्दी के महान् लोंजाइनस के रूप में स्वीकार करें तो अनुचित न होगा।

क्रोचे

अभिव्यंजना के प्रवर्तक क्रोचे (१८६६-१९५२ ई) का जन्म इटली में हुआ था। वे न केवल एक कला-मीमांसक अपितु एक गम्भीर तत्ववेत्ता दार्शनिक भी थे। उन्होंने इतिहास के स्वरूप, सौन्दर्य-शास्त्र, मार्क्सवादी अर्थ-व्यवस्था, आत्म-दर्शन आदि अनेक विषयों पर नवीन दृष्टिकोण से विचार किया। सन् १९०० में उन्होंने एक गोष्ठी में एक लेख-'Fundamental thesis of an aesthetic as science of expression and general linguistics.' पढ़ा था। यही लेख उनके अभिव्यंजनावादी विचारों का मूलाधार बना। आगे चलकर उन्होंने इस सम्बन्ध में कुछ लेख और लिखे तथा एक लेख 'एनसाइक्लोपीडिया ब्रिटानिका' में भी दिया- इन सबसे उनकी प्रसिद्ध चारों ओर हो गई। उनका कला-सम्बन्धी सर्व-प्रमुख ग्रन्थ 'एस्थेटिक' (सौन्दर्य-शास्त्र) के नाम से प्रकाशित हुआ, जो अब विश्व की अनेक भाषाओं में अनूदित हो चुका है।

मैथ्यू आर्नल्ड

आधुनिक अंग्रेजी समीक्षा के क्षेत्र में मैथ्यू आर्नल्ड (१८२२-१८८८ ई०) का अत्यंत महत्वपूर्ण स्थान है। उन्हें १९ वीं शताब्दी का सबसे बड़ा समीक्षक घोषित करते हुए स्काट जेम्स ने लिखा है- "इस देश में आर्नल्ड की स्थिति लगभग ५० वर्षों तक वैसी ही रही जैसी कि किसी समय यूनान के महान चिन्तक अरस्तू की थी। उन्होंने अपने युग की समीक्षा को उसी गहराई से प्रभावित किया जैसे कभी अरस्तू ने किया था। इसीलिए उनके अनुयायी उनके विचारों को अन्धविश्वास की सीमा तक स्वीकार करते थे। टी० एस० इलियट २०वीं शताब्दी के अंग्रेजी साहित्य के सर्वश्रेष्ठ कवि एवं समीक्षक के रूप में ख्यात हैं। उन्होंने अपनी प्रतिभा, विद्वत्ता एवं चिन्तन क्षमता के बल पर अंग्रेजी-समीक्षा को एक नयी दृष्टि और नयी दिशा दी।

इलियट (Thomas Stearns Eliot)

इलियट का जन्म अमेरिका के सेन्टलुई नगर में २२, सितम्बर सन् १८८८ में हुआ था। उन्होंने हार्वर्ड विश्वविद्यालय से सन् १९१० में एम० ए० किया तथा उसके पश्चात् वहीं उन्होंने संस्कृत एवं पालि भाषाओं के साहित्य का भी अध्ययन किया। तत्पश्चात् वे जर्मनी होते हुए लन्दन पहुँचे और वहीं बस गये। सन् १९२५ में लन्दन के प्रसिद्ध प्रकाशन-संस्थान "फेबर एण्ड फेबर" के निदेशक पद का कार्यभार संभालने के अतिरिक्त उन्होंने 'दी क्राइटीरियन ("The Criterian') त्रैमासिक पत्रिका का सम्पादन भी

सन् १९२२ से १९३९ तक किया। इस पत्रिका के माध्यम से न केवल उनकी कविताएँ अपितु उनके समीक्षात्मक लेख भी समय-समय पर प्रकाशित होते रहे। सन् १९४८ में उन्हें साहित्य-सेवा के उपलक्ष्य में विश्व का सुप्रसिद्ध नोबल पुरस्कार प्राप्त हुआ तथा सन् १९६५ में उनकी जीवनलीला समाप्त हो गयी। इलियट के जीवनवृत्त की उपर्युक्त संक्षिप्त रूप-रेखा से उनके बहुआयामी व्यक्तित्व का पता चलता है। उनका जन्म अमेरिका में हुआ, उनके साहित्यिक व्यक्तित्व का विकास क्रमशः जर्मनी, फ्रांस और इंग्लैंड में हुआ तथा वहीं से उन्होंने अंग्रेजी-भाषा और साहित्य की सर्वोच्च उपाधि प्राप्त की। इसके अतिरिक्त उन्होंने संस्कृत और पालि भाषा के साहित्य का भी अनुशीलन किया। इस प्रकार वे किसी एक देश, एक भाषा और एक साहित्य की सीमाओं में आबद्ध नहीं रहे। उनका दृष्टिकोण जीवन भर सतत् विकासोन्मुख एवं नव- नवोन्मेषकारी बना रहा। ऐसी स्थिति में कहा जा सकता है कि नोबल पुरस्कार-समिति ने उन्हें पुरस्कृत करके इलियट का ही नहीं स्वयं नोबल पुरस्कार के भी गौरव में अभिवृद्धि की।

आई० ए० रिचर्ड्स

आधुनिक युगीन पाश्चात्य समीक्षकों में डॉ० आई० ए० रिचर्ड्स का स्थान अत्यन्त महत्वपूर्ण है। उन्होंने समीक्षा के क्षेत्र में नूतन दृष्टिकोण का परिचय देते हुए अनेक नवीन सिद्धान्तों की स्थापना की है। डॉ० रिचर्ड्स ने पहले मनोविज्ञान एवं अर्थविज्ञान के क्षेत्र में कार्य किया था, अतः साहित्य के क्षेत्र में भी उन्होंने मनोविज्ञान व अर्थ-विज्ञान को अपनी स्थापनाओं से आधार के रूप में ग्रहण किया। उनके समीक्षा-सिद्धान्तों को कतिपय शीर्षकों के अन्तर्गत यहाँ प्रस्तुत किया जाता है।

8.4 पाश्चात्य काव्यशास्त्र के प्रमुख सिद्धांत

प्लेटो का आदर्शवाद :

प्लेटो के दार्शनिक विचार-दर्शन का चरम लक्ष्य सत्य या अन्तिम सत्य की खोज करना होता है, पर अन्तिम सत्य के सम्बन्ध में भी दार्शनिकों के मुख्यतः दो वर्ग रहे हैं- एक, जो किसी सूक्ष्म सत्ता या परोक्ष शक्ति को - जिसे परमात्मा का भी नाम दिया जाता है-अंतिम सत्य या शाश्वत तत्व मानते हैं, जबकि दूसरे वर्ग में वे आते हैं, जो इस स्थूल एवं भौतिक जगत् को ही सृष्टि का आधारभूत तत्व एवं सत्व मानते हैं। इन्हें क्रमशः आदर्शवादी एवं यथार्थवादी कहा जाता है। प्लेटो प्रथम वर्ग में आते हैं। वे मानते थे कि इस भौतिक जगत् के पीछे किसी सूक्ष्म, शाश्वत एवं अलौकिक जगत् का आधार है या यों कहिए कि वह जगत् किसी आध्यात्मिक लोक की प्रतिच्छाया है, अतः यह जगत् और इसके पदार्थ मिथ्या हैं, जबकि उनका वास्तविक रूप विचार (Ideas) रूप में अध्यात्म-लोक में विद्यमान है। इस

सृष्टि का निर्माण किसी अलौकिक शक्ति या परमात्मा के विचारों (Ideas) के अनुसार हुआ-अतः विचार ही मूल तत्व है जबकि वस्तु मिथ्या है। प्लेटो के अनुसार इस संसार में जितनी वस्तुएँ हैं, वे सभी विचाररूप में अलौकिक जगत् में विद्यमान हैं। सांसारिक पदार्थ अपूर्ण, परिवर्तनशील एवं नाशवान् हैं, अतः वे मिथ्या हैं जबकि अलौकिक जगत् में विद्यमान उनका विचार या प्रत्यय अपरिवर्तनीय एवं शाश्वत होने के कारण सत्य है। इस प्रकार वस्तु की अपेक्षा विचार या तत्व (Idea) को ही प्रमुखता देने के कारण ही प्लेटो के विचारों को तत्ववाद या आदर्शवाद (Idealism) कहा जाता है। ध्यान रहे अंग्रेजी का 'आइडियलिज्म' (आदर्शवाद) शब्द भी 'आइडिया' (विचार) से बना है-जो इस तथ्य का सूचक है कि वह वाद पदार्थों की अपेक्षा उनके विचार को अधिक महत्व देता है। आगे चलकर यही 'आदर्शवाद' आध्यात्मिक विचारों, नैतिक सिद्धान्तों एवं उच्च कोटि के मानव-मूल्यों के लिए प्रयुक्त होने लगा। अस्तु, प्लेटो भारतीय अद्वैतवादियों की भाँति जगत् को मिथ्या और विचाररूपी ब्रह्म को सत्य मानता था-उसकी उस धारणा का प्रभाव उसके राजनीतिक एवं साहित्यिक विचारों पर भी पड़ा,

साहित्य सम्बन्धी दृष्टिकोण

प्लेटो के लिए साहित्य का महत्व उसी सीमा तक था, जहाँ तक वह उसके आदर्श-गण-राज्य के नागरिकों में सत्य, न्याय और सदाचार की भावना की प्रतिष्ठा में सहायक सिद्ध होता है। कला और साहित्य से असीम आनन्द प्राप्त होता है-इस तथ्य को प्लेटो महोदय अस्वीकार नहीं करते, किन्तु वे ऐसे आनन्द को जो उपर्युक्त लक्ष्यों की पूर्ति में बाधक सिद्ध हो, कोई महत्व प्रदान नहीं करते। दूसरे शब्दों में, कला और साहित्य की कसौटी उनके लिए सौन्दर्य या आनन्द न होकर उपयोगिता थी। इतना ही नहीं, स्वयं सौन्दर्य के सम्बन्ध में उनकी धारणा थी कि जो वस्तु उपयोगी है वही सुन्दर है। 'एक गोबर से भरी हुई टोकरी भी सुन्दर कही जा सकती है यदि वह अपना कोई उपयोग रखती हो, अन्यथा एक स्वर्णजटित चमचमाती हुई ढाल भी असुन्दर है यदि वह उपयोग की दृष्टि से महत्वशून्य हो।' संक्षेप में उन्होंने शुद्ध उपयोगितावादी दृष्टिकोण से ही साहित्य पर विचार किया। दुर्भाग्य से उस समय का यूनानी साहित्य कामोत्तेजक एवं भावोद्वेलनप्रधान था- अतः सामाजिक हित क्रौ दृष्टि से उपयोगी सिद्ध नहीं होता था; फलतः प्लेटो ने साहित्य के विरुद्ध मोर्चा लगाते हुए उस पर अनेक आक्षेप आरोपित किये,

मिथ्यात्त्व - प्लेटो ने अपने पूर्वोक्त दार्शनिक सिद्धान्त के अनुसार काव्य या साहित्य को मिथ्या जगत् की मिथ्या अनुकृति सिद्ध किया। उनके विचारानुसार साहित्यकार जिन वस्तुओं या व्यक्तियों अथवा क्रिया-कलापों का वर्णन करता है, वे पहले से ही भौतिक जगत् में विद्यमान हैं- जिनकी अनुकृति वह अपनी रचनाओं में प्रस्तुत करता है। पर यह अनुकृति भी दो प्रकार की हो सकती है-एक कुर्सी को

देखकर कुर्सी बनाना अनुकृति के द्वारा दूसरी अनुकृति प्रस्तुत करना है। यह दूसरे प्रकार की अनुकृति एक प्रकार की मिथ्या एवं भ्रामक अनुकृति है तथा चित्रकार, कवि और कथाकार भी ऐसी मिथ्या अनुकृति प्रस्तुत करते हैं। और इससे भी बुरा यह है कि जिन वस्तुओं की अनुकृति प्रस्तुत करते हैं वे स्वयं मिथ्या हैं, क्योंकि उनका सत्य रूप तो केवल विचार (Idea) रूप में अलौकिक जगत् में ही है। ऐसी स्थिति में कलाकार की स्थिति उस नकलची की सी हो जाती है, जो नकल भी झूठ की कर रहा हो। कल्पना कीजिए, परीक्षा-भवन में एक परीक्षार्थी किसी दूसरे परीक्षार्थी की नकल कर रहा है, और उस नकल में भी एक तो बहुत सी अशुद्धियाँ कर रहा है, दूसरे जिस उत्तर की वह नकल कर रहा है, वह भी अपने-आप में गलत हो ! ऐसी स्थिति में वह परीक्षार्थी एक नहीं-तीन प्रकार की गलतियाँ कर रहा है; नकल करना, गलत नकल करना और वस्तु की नकल करना ! प्लेटो के विचार से साहित्यकार की भी स्थिति ऐसी ही है! वह मिथ्या जगत् की मिथ्या अनुकृति प्रस्तुत करता है और इस प्रकार वह सत्य से तिगुना दूर है या यों कहिए कि वह तिगुने झूठ का आविष्कार है अतः वह प्रशंसनीय नहीं दंडनीय है।

अमौलिकता एवं अज्ञानता- कवि या चित्रकार वस्तुतः कृति नहीं, अनुकृति एवं प्रतिकृति मात्र प्रस्तुत करता है, अतः उस पर दूसरा आरोप अमौलिकता एवं अज्ञानता का आरोपित किया जा सकता है। एक मोची के कार्य को देखकर जब दूसरा मोची अनुकृति द्वारा जूतों की जोड़ी बनाता है, तो हम उसे अमौलिक तो कह सकते हैं किन्तु अज्ञानी नहीं, क्योंकि वह जब तक जूता बनाने के सारे ज्ञान को प्राप्त नहीं कर लेता तब तक अनुकृति प्रस्तुत नहीं कर सकता। पर चित्रकार या कवि पर यह बात लागू नहीं होती ! चाहे उन्हें इस बात का भी पता न हो कि जूते में जो चमड़ा लगता है, वह कहाँ से आता है या उसमें गाय की खाल का उपयोग होता है या बकरी की खाल का - पर फिर भी वे उसका प्रतिबिम्ब प्रस्तुत कर सकते हैं! ऐसी स्थिति में कति का ज्ञान मोची के ज्ञान से भी कम होता है! फिर मोची के बनाये जूतों को तो पहनकर आप सड़क पर चल सकते हैं, काँटों से बच सकते हैं, सर्दी-गरमी से बच सकते हैं, पर क्या चित्रकार या कवि के द्वारा प्रतिबिम्बित जूतों से ऐसा कर सकते हैं ? उनका क्या उपयोग है! उपयोग न सही, उनसे तो यह भी, पता नहीं चलता कि जूते कैसे बनाये जाते हैं, या कहाँ मिलते हैं! इस प्रकार प्लेटो के अनुसार तो कवि या चित्रकार का महत्व मोची या बढ़ई जितना भी नहीं है! प्लेटो के शब्दों में- "एक चित्रकार मोची, बढ़ई या अन्य कारीगर की कला से सर्वथा अनभिज्ञ होते हुए भी उनके कार्यों को इस प्रकार चित्रित कर देगा कि उससे सरल प्रकृति के लोगों अथवा बच्चों के मन में उसके वास्तविक कारीगर होने का भ्रम' उत्पन्न हो जायेगा !" इस प्रकार कवि न केवल स्वयं अज्ञानी है, अपितु वह अज्ञान के प्रसार में भी योग देता है।

अनुपयोगिता – कवि या साहित्यकार अनुकृति के बल पर जो रचना प्रस्तुत करता है, वह किसी भी दृष्टि से उपयोगी सिद्ध नहीं होती, अतः प्लेटो के विचार से कलात्मक रचनाएँ, समाज के लिए सर्वथा अनुपयोगी हैं। कवि द्वारा वर्णित विषय से न तो उसकी यथातथ्य जानकारी प्राप्त हो सकती है और न ही उससे हमारे ज्ञान से अभिवृद्धि होती है। और तो और उससे शिक्षा-उपदेश भी प्राप्त नहीं होता। इसलिए प्लेटो ने कवियों को चुनौती देते हुए कहा है कि वे सिद्ध करें कि कविता की समाज के लिए क्या उपयोगिता है। कवियों में सर्वश्रेष्ठ उस युग में होमर माना जाता था तथा प्लेटो भी उसका कम सम्मान नहीं करता था, फिर भी उसकी महानता पर प्रश्नवाचक चिह्न लगाते हुए उसने कहा- "हमें होमर से यह पूछना है क्या Asclepius की भाँति उसने कभी रोगियों को रोग-मुक्त किया है अथवा अपने पीछे अपने द्वारा वर्णित भेषज विद्या तथा अन्य कलाओं की किसी परम्परा को छोड़ा है? युद्ध सम्बन्धी विभिन्न ब्यूह-रचनाओं, राजनीति-शिक्षण विधि आदि जो उनकी कविताओं के सच्चे और श्रेष्ठतम विषय हैं- इसके बारे में हम उससे क्या कोई जानकारी प्राप्त कर सकते हैं ? उसे संबोधित करते हुए हम कह सकते हैं- 'मित्रवर होमर ! यदि तुम इस विवेचन में सक्षम हो कि किन प्रवृत्तियों द्वारा व्यक्ति निजी और सार्वजनिक जीवन में उच्चतर और हेय बनता है तो हमें बताओ कि तुम्हारी सहायता से किस राज्य ने श्रेष्ठ शासन का लाभ उठाया है?

इस प्रकार प्लेटो होमर जैसे कवि की अपेक्षा उस व्यक्ति को अधिक महत्व देता है, जो किसी की चिकित्सा करके उसे रोग-मुक्त कर सके, या युद्धों का ज्ञान प्रदान कर सके अथवा राज्य की शासन-प्रणाली में कोई सुधार कर सके। दूसरे शब्दों में वह कवि में कवि के नहीं, अपितु चिकित्सक, योद्धा, नेता या अध्यापक के गुणों की खोज करता है! उसका यह प्रयास वैसा ही है जैसा कि कोई किसी फिल्म-अभिनेत्री से पूछे कि तुम्हें कमीज में बटन टाँकने आते हैं या नहीं- और उसके 'ना' कहने पर उसे सर्वथा घटिया और बदसूरत करार दे दे !

दुर्बलता एवं अनाचार का पोषक – प्लेटो के विचार से कवि न केवल अनुपयोगी एवं महत्वशून्य है, अपितु वह समाज में दुर्बलता एवं अनाचार का पोषण करने का भी अपराध करता है। प्लेटों के विचार से किसी भी समाज और राज्य में सत्य, न्याय और सदाचार की प्रतिष्ठा तभी संभव है, जबकि उसके सभी व्यक्ति अपनी वासनाओं एवं भावनाओं पर पूरा नियंत्रण रखते हुए विवेक-बुद्धि एवं नीति-ज्ञान के अनुसार चलें। इसके विपरीत कवि अपनी रचनाओं के माध्यम से व्यक्तियों की वासनाओं एवं भावनाओं को उद्वेलित कर देता है-ऐसी स्थिति में उसकी भावनाएँ प्रबल हो जाती हैं और बुद्धि का अंकुश ढीला पड़ जाता है। यह स्थिति व्यक्ति को न केवल दुर्बल एवं अशक्त बनाती है, अपितु उसे कुमार्ग की ओर भी अग्रसर करती है! यह ठीक है कि कविता से आनन्द मिलता है-इसे प्लेटो महोदय

अस्वीकार नहीं करते, पर ऐसे आनन्द से क्या लाभ जो हममें दुर्बलता एवं दुराचार की प्रवृत्ति का संचार करे ! इसीलिए उनकी स्पष्ट घोषणा है कि यदि हम राज्य में सत्य, न्याय और सदाचार की रक्षा करना चाहते हैं तो कविता का बहिष्कार करना होगा। कवियों को राज्य से निकाल देना होगा। उन्हें राज्य में वापस आने की भी छूट दी जा सकती है, बशर्ते कि वे यह सिद्ध कर सकें कि कविता न केवल आनन्ददायक है, अपितु राज्य और मानव-समाज के लिए हितकर भी है। पर ध्यान रहे वह कवियों को अपनी वकालत कविता में नहीं, अपितु गद्य में ही करने की अनुमति देता है; क्योंकि उसे भय है कि कविता में बोलने की छूट दी गयी, तो कदाचित् वे हमें फुसला
लेने में सफल हो जायें !

अरस्तू के काव्य सिद्धांत –

अनुकृति सिद्धान्त- अरस्तू का सबसे अधिक महत्वपूर्ण सिद्धान्त 'अनुकृति-सिद्धान्त' है। वे अनुकृति को ही विभिन्न कलाओं-जिनमें काव्य-कला भी सम्मिलित है— का मूलाधार मानते हैं। यदि भारतीय शब्दावली का प्रयोग करें तो कह सकते हैं कि अरस्तू के विचार से काव्य की आत्मा 'अनुकृति' है। उन्होंने इस अनुकृति के माध्यम, विषय और विधान का विस्तार से विचार किया है। यद्यपि सभी कलाओं का मूल तत्त्व अनुकृति ही है, किन्तु उन सबके माध्यम आदि के पारस्परिक अन्तर के कारण ही वे एक दूसरे से पृथक् की जाती हैं, अतः काव्य के विशिष्ट अध्ययन के लिए उसके माध्यम आदि का ज्ञान अपेक्षित है।

(१) काव्य में अनुकृति का माध्यम-जिस प्रकार संगीत में सामंजस्य और लय का, नृत्य में केवल लय का, उपयोग होता है, उसी प्रकार काव्य-कला में अनुकृति के लिए भाषा का उपयोग किया जाता है। यह भाषा गद्य या पद्य-दोनों में किसी भी रूप में प्रयुक्त हो सकती है। सामान्यतः लोग इस अनुकृति के तत्व को भूलकर केवल छन्द को ही कविता का प्रमुख लक्षण मन लेते हैं, किन्तु अरस्तू ने इस भ्रान्ति का निराकरण करते हुए स्पष्ट शब्दों में लिखा है-"it is the way with people to talk on 'poet' to the name of a metre and talk of elegiac-poets and elegiac thinking that they call them them poets not by reason of the imitative nature of their work but indiscriminately by reason of the metre of their writing. Even if a theory of medicine or physical philosophy be put forth in a metrical form it is usual to describe the writer in this way अर्थात् 'प्रायः लोग 'छन्द' के साथ 'कवि' शब्द इस तरह जोड़ देते हैं, और शोक-गीति-रचयिताओं की चर्चा इस प्रकार करते हैं मानों वे अनुकृति के नहीं, वरन् छन्द के ही आधार पर, निर्विवेक रूप से कविपद के अधिकारी हों। यदि चिकित्सा-शास्त्र या भौतिक-दर्शन

का कोई भी सिद्धान्त छन्दोबद्ध रूप में प्रस्तुत किया जाय तो उसके भी प्रस्तुत कर्ता को प्रथानुसार कवि कहा जायेगा।' वस्तुतः अरस्तू के विचार से साहित्य को भौतिक-शास्त्र से पृथक् करने वाला तत्व छन्द नहीं अपितु 'अनुकृति' है तथा उस अनुकृति के लिए छन्द ही माध्यम हो ऐसा आवश्यक नहीं भाषा का कोई भी रूप काव्यात्मक अनुकृति का माध्यम बन सकता है।

(२) अनुकरण के विषय काव्य में क्रिया-कलापों की अनुकृति प्रस्तुत होती है और इन क्रिया-कलापों के प्रतिनिधि होते हैं मनुष्य। इन मनुष्यों को भी दो वर्गों में बाँटा जा सकता है-अच्छे और बुरे। यह विभाजन मुख्यतः नैतिक आचरण पर आधारित है तथा नैतिक आचरण के विभेदक लक्षण हैं- सवृत्ति और दुर्वृत्ति। इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि काव्य में या तो यथार्थ जीवन से श्रेष्ठतर व्यक्तियों के कार्य प्रस्तुत होते हैं या हीनतर या फिर यथावत रूप में। यह भेद चित्रकारी, नृत्य, संगीत आदि में भी मिलता है। काव्य के त्रासदी और कामदी-दो भेदों में से कामदी का लक्ष्य हीनतर रूप को प्रस्तुत करना होता है, जबकि त्रासदी का लक्ष्य है भव्यतर चित्रण करना। इस प्रकार संक्षेप में कह सकते हैं कि काव्य में मानवीय क्रिया-कलापों का अनुकरण होता है।

(३) अनुकृति की विधि-काव्य के विभिन्न रूपों में अनुकृत विषय एवं उसके माध्यम की समानता होते हुए भी उनमें परस्पर विधि या शैली का अन्तर विद्यमान रहता है। अरस्तू ने सामान्यतः तीन शैलियों का उल्लेख किया है- (१) जहाँ कवि कहीं अपने विषय का वर्णन करता है तथा कहीं अपने पात्रों के मुँह से कुछ कहलवा देता है। उदाहरण के लिए होमर का काव्य देखा जा सकता है। (२) प्रारम्भ से लेकर अन्त तक कवि सर्वत्र एक जैसा ही रूप रखे। (३) कवि स्वयं दूर रहकर समस्त पात्रों को नाटकीय शैली में प्रस्तुत करे। अरस्तू के इस वर्गीकरण को और अधिक स्पष्ट करने के लिए हम कह सकते हैं कि पहली शैली प्रबन्धात्मक है, जिसमें कवि तथा विभिन्न पात्र प्रसंगानुसार कुछ कह सकते हैं। दूसरी आत्माभिव्यंजनात्मक है, जिसमें स्वयं कवि या कोई एक पात्र ही आदि से लेकर अन्त तक सारी विषय-वस्तु प्रस्तुत करता है। तीसरी नाट्य शैली है, जिसमें सभी पात्र वक्ता हो सकते हैं जबकि कवि को मौन हो जाना पड़ता है।

(४) काव्य में अनुकृति का महत्व अरस्तू ने अनुकृति को इतना अधिक महत्व प्रदान किया है कि उनके विचार से काव्य की सृष्टि और उसके आस्वादन का मूल कारण अनुकृति ही है। वे काव्य के उद्भव पर प्रकाश डालते हुए लिखते हैं कि कविता सामान्यतः दो कारणों से प्रस्फुटित हुई प्रतीत होती है। इसमें से पहला कारण है-मानव की सहज स्वाभाविक अनुकरण की प्रवृत्ति। "अनुकरण की प्रवृत्ति मनुष्य में शैशवावस्था से ही विद्यमान रहती है। मनुष्य और अन्य प्राणियों में एक अन्तर यह है कि वह जीवधारियों में सबसे अधिक अनुकरणशील होता है तथा आरम्भ में वह सब कुछ अनुकरण के द्वारा

ही सीखता है।" कविता की उत्पत्ति के दूसरे कारण के रूप में उसने सामंजस्य और लय की प्रवृत्ति का आख्यान किया है। काव्य-सृष्टि के साथ-साथ काव्यास्वादन का रहस्य भी मनुष्य की अनुकरण की प्रवृत्ति में ही निहित है। अरस्तू के विचार से- "अनुकृत वस्तु से प्राप्त आनन्द भी कम सार्वभौम नहीं है। अनुभव इसका प्रमाण है- जिन वस्तुओं के प्रत्यक्ष दर्शन से हमें क्लेश होता है, उन्हीं की यथावत प्रतिकृति को देखकर हम प्रसन्नता का अनुभव करते हैं।" यहाँ एक प्रश्न उपस्थित होता है कि अनुकृति को देखकर हमें प्रसत्तता क्यों होती है? इनका उत्तर देते हुए अरस्तू ने बताया है कि ज्ञान के अर्जन से प्रत्येक व्यक्ति को प्रबल आनन्द प्राप्त होता है। "अतः किसी प्रतिकृति को देखकर मनुष्य के आह्लादित होने का कारण यह है कि उससे वह कुछ ज्ञान प्राप्त करता है, वह वस्तुओं का अर्थ-ग्रहण करता हुआ सोचता है- "अरे, यह तो वह व्यक्ति है." उपर्युक्त मान्यता के विपरीत कई बार हम यह भी देखते हैं कि जिस वस्तु को हमने पहले नहीं देखा, उसे भी देखकर हम प्रसन्नता का अनुभव करते हैं- अतः यह कैसे कहा जा सकता है कि कलाजन्य आनन्द अनुकृति-जन्य आनन्द ही है। अरस्तू भी इसे स्वीकार करता हुआ कहता है कि "यदि आपने मूल वस्तु को नहीं देखा तो आपका आनन्द अनुकरण-जन्य न होगा- वह अंकन, रंग-योजना या किसी अन्य कारण पर आधृत होगा।"

विरेचन सिद्धान्त- अरस्तू का कला सम्बन्धी दूसरा महत्वपूर्ण सिद्धान्त - विरेचन सिद्धान्त है। 'विरेचन' का अर्थ है, विचारों का निष्कासन या शुद्धि । मूलतः इस शब्द का सम्बन्ध चिकित्सा-शास्त्र से है, जिसमें रेचक औषधि के द्वारा शारीरिक विकारों की शुद्धि को विरेचन कहते हैं। अरस्तू से पूर्व भी यह शब्द यूनान में प्रचलित था, किन्तु साहित्य पर इसे लागू करने का श्रेय अरस्तू को ही है। प्लेटो ने कला और काव्य पर यह आक्षेप लगाया था कि इससे हमारी दूषित वासनाएँ और मनोवृत्तियाँ उत्तेजित एवं पुष्ट होती हैं- सम्भवतः इसी का खण्डन करने के लिए अरस्तू ने प्रतिपादित किया कि कला और साहित्य के द्वारा हमारे दूषित मनोविकारों का उचित रूप में विरेचन हो जाता है-अतः वे समाज के लिए हानिकारक नहीं हैं। संगीत के प्रभाव का विश्लेषण करते हुए उसने लिखा- "संगीत सुनते समय हम कार्य और आवेग को अभिव्यक्त करने वाले रागों का भी आनन्द ले सकते हैं, क्योंकि करुणा और त्रास अथवा आवेश कुछ व्यक्तियों में बड़े प्रबल होते हैं और न्यूनाधिक प्रभाव तो प्रायः सभी पर रहता है। कुछ व्यक्ति हाल की दशा में आ जाते हैं; किन्तु हम देखते हैं कि धार्मिक रागों के प्रभाव से-ऐसे रागों के प्रभाव से, जो कि रहस्यात्मक आवेश को उद्बुद्ध करते हैं- वे शान्त हो जाते हैं, मानों उनके आवेश का शमन और विरेचन हो गया हो। करुणा और त्रास से आविष्ट व्यक्ति-प्रत्येक भावुक व्यक्ति इस प्रकार का अनुभव करता है और दूसरे भी अपनी-अपनी संवेदनशक्ति के अनुसार प्रायः सभी - इस विधि से एक प्रकार की शुद्धि का अनुभव करते हैं, उनकी आत्मा विशद और प्रसन्न हो जाती है। इस

प्रकार विरेचन राग मानव-समाज को निर्दोष * आनन्द प्रदान करते हैं।" (अरस्तू का काव्य-शास्त्र : भूमिका, पृ० ८६) इसी प्रकार त्रासदी के प्रंसग में भी अरस्तू ने लिखा कि करुणा तथा त्रास के उद्रेक के द्वारा इन मनोविकारों का उचित विरेचन हो जाता है। अतः स्पष्ट है कि अरस्तू कलाओं का लक्ष्य मनोविकारों का विरेचन मानते हैं।

अरस्तू-परवर्ती विद्वानों ने 'विरेचन' शब्द की व्याख्या करते हुए इसके विभिन्न अर्थ किये हैं, जिन्हें मुख्यतः तीन वर्गों में विभाजित कर सकते हैं- (१) अर्थ-परक अर्थ, (२) नीति-परक-अर्थ, (३) कला-परक-अर्थ। अर्थ-परक-अर्थ के अनुसार विरेचन का अर्थ है- बाह्य विकारों की उत्तेजना और उसके शमन के द्वारा आत्मा की शुद्धि और शांति। नीति- परक-अर्थ है मनोविकारों की उत्तेजना द्वारा विभिन्न अन्तर्वृत्तियों का समन्वय या मन की शान्ति और परिष्कृति। विरेचन सिद्धान्त की कला-परक व्याख्या के सम्बन्ध में विभिन्न विद्वानों में मतभेद है। कुछ विद्वानों के विचार से कलाजन्य आनन्द भी विरेचन की परिधि में आता है तो कुछ इसे अस्वीकार भी करते हैं। उनके विचार से 'विरेचन' केवल अभावात्मक (विकारों को अभाव मात्र) क्रिया है, परितोष या आनन्द का भाव उसी सीमा से बाहर है किन्तु प्रो० बूचर ने इस प्रकार के तर्कों का खंडन करते हुए बताया है कि विरेचन के दो पक्ष हैं- एक अभावात्मक और दूसरा भावात्मक। मनोवेगों के उत्तेजन और तत्पश्चात् उनके शमन से उत्पन्न मनःशान्ति उसका अभावात्मक पक्ष है, इसके उपरान्त कलात्मक परितोष उसका भावात्मक पक्ष है। डॉ० नगेन्द्र ने इस सम्बन्ध में विचार करते हुए बूचर की मान्यता को अस्वीकार करते हुए लिखा है- "हमारा मत है कि विरेचन में कला-स्वाद का साधक तो अवश्य है- समंजित मन कला के आनन्द को अधिक तत्परता से ग्रहण करता है, परन्तु विरेचन में कला-स्वाद का सहज अन्तर्भाव नहीं है, अतएव विरेचन-सिद्धान्त को भावात्मक रूप देना कदाचित् न्याय नहीं है, व्याख्याकार की अपनी धारणा का आरोप है। अरस्तू का अभिप्राय मनोविकारों के उद्रेक और उनके शमन से उत्पन्न मनःशान्ति तक ही सीमित है। 'विरेचन' शब्द से मन की वह विशदता ही अभिप्रेत है, जिसके आधार पर वर्तमान आलोचक रिचर्ड्स ने, "अन्तवृत्तियों के समंजन का सिद्धान्त प्रतिपादित किया है।" इस प्रकार हम देखते हैं कि 'विरेचन' की कला-परक व्याख्या के सम्बन्ध में विद्वानों में पर्याप्त मतभेद हैं। हमारी दृष्टि में इस मतभेद का मूल कारण यह है कि विरेचन एक अपूर्ण एवं सीमित सिद्धान्त है, जो केवल दुखान्त रचनाओं पर ही लागू होता है, किन्तु अरस्तू के व्याख्याता इसे परिपूर्ण सिद्धान्त के रूप में ग्रहण करके व्याख्या करने का प्रयास करते हैं। काव्य और कलाओं द्वारा हमारी सभी प्रकार की भावनाओं की उद्दीप्ति और अभिव्यक्ति होती है जबकि विरेचन का सम्बन्ध केवल 'विकृत' या 'अशुद्ध' भावनाओं से ही है। अशुद्ध एवं कलुषित भावों के रेचन से मन के आनन्द प्राप्त करने की बात मानी जा सकती है, किन्तु पवित्र एवं शुद्ध भावों

के रेचन के संबंध में क्या कहा जायेगा। अवश्य ही इस प्रसंग में विरेचन की बात नहीं कही जा सकती। अस्तु, इस एकांगी सिद्धान्त को सर्वांगीण रूप देना उचित प्रतीत नहीं होता।

लोंजाइनस

'औदात्य' स्वरूप-मीमांसा औदात्य' (Sublime) ग्रन्थ का मूल प्रतिपाद्य औदात्य सिद्धान्त ही है जिसकी विवेचना विस्तार से की गयी है। सबसे पहला प्रश्न उठता है- औदात्य क्या है। इसका समाधान करते हुए लोंजाइनस ने अनेक बातें कही हैं- (१) औदात्य अभिव्यक्ति की उच्चता और उत्कृष्टता का नाम है। (२) अभिव्यक्ति की यह उच्चता (उदात्तता श्रोता के तर्क का समाधान नहीं करती, वरन् उसे पूर्णतया अभिभूत कर लेती है। (३) किसी वस्तु पर विश्वास करें या नहीं, वह अपने वश में है, पर औदात्य अपनी प्रबल एवं दुर्निवार शक्ति के कारण प्रत्येक पाठक को अनायास ही बहा ले जाता है। (४) किसी भी सर्जना के शिल्प; उसकी सुस्पष्ट व्याख्या और तथ्यों के प्रस्तुतीकरण के गुणों का ज्ञान उसके एक या दो अंशों से नहीं, अपितु सम्पूर्ण रचना के शिल्प-विधान से धीरे-धीरे होता है, जबकि उदात्त विचार यदि अवसर के अनुकूल हो तो एकाएक विद्युत की भाँति चमक कर समूची विषय-वस्तु को प्रकाशित कर देता है तथा वक्ता के समस्त वाग्वैभव को एक क्षण में ही प्रकट कर देता है। यदि उपर्युक्त कथनों का विश्लेषण करें तो औदात्य के अनेक लक्षणों पर प्रकाश पड़ता है- (क) औदात्य को अभिव्यक्ति की उच्चता से सम्बन्धित किया गया है, इसका अर्थ है कि वह शैली का कोई विशेष गुण है। (ख) दूसरे उद्धरण से ज्ञात होता है कि औदात्य तर्क का समाधान नहीं करता, अपितु वह श्रोता को अभिभूत कर लेता है, इसका तात्पर्य हुआ कि वह बौद्धिक तत्व न होकर भावोत्पादक गुण है, क्योंकि उसी स्थिति में वह श्रोता को बहा सकेगा। (ग) तीसरे कथन से भी यही स्पष्ट होता है कि औदात्य श्रोता को बलात् बहा ले जाता है अर्थात् वह अत्यन्त प्रभावशाली होता है। (घ) चौथे कथन के अनुसार औदात्य एक ऐसा विचार है, जो कि अवसरानुकूल होकर रचना में एकाएक चमत्कार की भाँति स्फुरित होता है।

सच पूछें तो ये लक्षण परस्पर-विरोधी दिखाई पड़ते हैं, क्योंकि एक स्थान पर औदात्य को शैली का गुण कहा गया है, तो दूसरे स्थान पर उसे भावावेग एवं तीसरे पर उसे चमत्कारिक विचार बताया गया है। ऐसी स्थिति में औदात्य को शैली से सम्बन्धित मानें या भाव अथवा विचार से ? इसका उत्तर जैसा कि लोंजाइनस की अन्य स्थापनाओं से स्पष्ट होता है, यही है कि औदात्य एक भाव भी है, विचार भी और शैली भी ! औदात्य को यहाँ इतने व्यापक रूप में ग्रहण किया गया है कि उनकी सत्ता रचना के वस्तु पक्ष से लेकर शैली पक्ष तक - सर्वत्र व्यापक दिखाई देती है। इतना ही नहीं, लोंजाइनस के विचार से तो यह केवल कला का ही नहीं कलाकार का भी गुण है जब कलाकार के व्यक्तित्व में औदात्य

होता है तो वह उदात्त विषय, उदात्त भाव एवं उदात्त विचारों को अपनाता है, परिणामस्वरूप उसकी शैली में भी औदात्य का संचार हो जाता है तथा अन्त में यही औद्रात्य अपने सुसमन्वित रूप में प्रकट होकर श्रोता या पाठक की आत्मा को झंकृत कर देता है- जिसे हम 'चमत्कार' या 'आनन्द' कहते हैं। इस धारणा का यही स्पष्टीकरण परवर्ती विवेचन से होता है।

औदात्य का मूल आधार - औदात्य का मूल आधार क्या है? क्या वह वक्ता या लेखक की जन्मजात प्रतिभा पर ही आधारित होता है या उसका प्रस्फुटन शिक्षा-दीक्षा से किया जा सकता है ? वह सहज है या अभ्यास पर निर्भर है ? इन प्रश्नों पर विचार करते हुए लोंजाइनस ने मध्य मार्ग का अनुसरण किया है। उसके विचार से औदात्य न तो सर्वथा प्रतिभा-सापेक्ष्य है और न ही पूर्णतः अभ्यास-सापेक्ष्य है। वे औदात्य की मूल प्रेरक शक्ति प्रतिभा को मानते हुए भी यह स्वीकार करते हैं कि नियमों के ज्ञान एवं अभ्यास के द्वारा प्रातिभ ज्ञान का नियमन अपेक्षित है। जिस प्रकार मूल भावों को यदि सर्वथा स्वतंत्र छोड़ दिया जाय तो वे व्यक्ति को भटकाकर सर्वनाश की ओर ले जा सकते हैं, अतः उन पर बुद्धि का नियंत्रण अपेक्षित है, उसी प्रकार औदात्य के लिए भी प्रतिभा के साथ शिक्षा का समन्वय अपेक्षित है। पर इसका यह भी तात्पर्य नहीं कि अलंकारों या शब्दाडम्बर के ज्ञान से औदात्य की उपलब्धि हो सकती है। वस्तुतः औदात्य का आधार व्यक्ति का कोई एक पक्ष, एक गुण या एक प्रवृत्ति नहीं है, अपितु उसके पीछे संपूर्ण व्यक्तित्व की झलक होती है। केवल प्रतिभाशाली व्यक्ति चारित्रिक दृष्टि से हलका छिछोरा हो सकता है, उसकी वासनाएँ अपरिष्कृत एवं प्रवृत्तियाँ क्षुद्र भी हो सकती हैं-ऐसी स्थिति में औदात्य की आशा कैसे की जा सकती है ! इसी प्रकार एक सुपठित विद्वान् महान् शास्त्रों का ज्ञाता होते हुए भी स्वार्थी, अहंवादी एवं दंभी हो सकता है, अतः उससे भी औदात्य सर्जना संभव नहीं। वस्तुतः औदात्य का स्रष्टा तो उदात्त व्यक्तित्व ही हो सकता है। एक महान् प्रतिभाशाली, उच्च विद्वान् एवं यशस्वी चरित्रवान् व्यक्ति ही उदात्त का उद्घोषक हो सकता है। लोंजाइनस के शब्दो में - Sublimity is, so to say, the image of greatness of soul true eloquence can be found only in those whose spirit generous and aspiring. For those whose whole lives are wasted in paltry and liberal thoughts and habits cannot possibly produce any work worthy of the lasting reverence of mankind. It is only natural that their words be full of sublimity whose thoughts are full of majesty." अर्थात् 'औदात्य आत्मा की महानता का प्रतिबिम्ब है। सच्चा औदात्य केवल उन्हीं में प्राप्य है जिनकी चेतना उदात्त एवं विकासोन्मुख है। जिनका सारा जीवन तुच्छ एवं संकीर्ण विचारों के अनुसरण में व्यतीत होता है, वे सम्भवतः कभी भी मानवता के लिए कोई स्थायी महत्व की रचना प्रस्तुत करने में सफल नहीं होते।

सर्वथा स्वाभाविक है कि जिनके मस्तिष्क उदात्त धारणाओं से परिपूर्ण हैं, उन्हीं की वाणी से उदात्त शब्द झंकृत हो सकते हैं।' इस प्रकार औदात्य का सम्बन्ध केवल प्रतिभा, केवल अध्ययन और केवल भाषाभ्यास से नहीं, अपितु व्यक्ति के समूचे व्यक्तित्व से है। लोंजाइनस की यह धारणा उन्हें साहित्य-चिन्तन की परम्परा में एक विशिष्ट स्थान का अधिकारी प्रमाणित करती है। इससे पूर्व कदाचित् किसी भी अन्य आलोचक ने साहित्य का उसके रचयिता के व्यक्तित्व से इतना गहरा सम्बन्ध स्थापित नहीं किया था जितना कि यहाँ किया गया है। इस दृष्टि से उन्हें साहित्य में व्यक्तिवादी दृष्टि का मूल प्रवर्तक कहा जा सकता है।

औदात्य के पाँच स्रोत- यद्यपि औदात्य का मूलाधार साहित्यकार के व्यक्तित्व की ही महानता में निहित है, फिर भी स्पष्टता के लिए वस्तुगत दृष्टि से औदात्य के पाँच ऐसे स्रोतों की भी स्थापना की गई है जिनके द्वारा किसी भी कृति में औदात्य का संचार होता है। वे पाँच स्रोत क्रमशः ये हैं।

(१) उदात्त विचार-काव्यगत औदात्य के स्रोतों के अन्तर्गत सर्वप्रथम उदात्त विचार (grandeur of thought) को लिया गया है। यहाँ यही उदात्त व्यक्तित्व या महान् आत्माओं का प्रतिबिम्ब होता है, अतः इसे सर्वोच्च स्थान दिया गया है। व्यक्ति में औदात्य नैसर्गिक ही होता है, पर फिर भी शिक्षा-दीक्षा एवं संस्कारों से उसका सम्यक् विकास या पोषण सम्भव है। जैसा कि पहले कहा जा चुका है, उदात्त विचार महान् व्यक्तियों की वाणी से स्वतः ध्वनित होते हैं/अतः इसके लिए किसी विशेष बाह्य प्रयास की अपेक्षा नहीं होती। जिस लेखक या वक्ता का निजी व्यक्तित्व उदात्त होगा, वह स्वतः ही उदात्त विषयों, महान् कार्यों एवं महापुरुषों के चित्रण में रुचि लेता हुआ उनका चित्रण उदात्त रूपों में कर सकेगा महापुरुषों एवं महान् क्रिया-कलापों के सम्यक् चित्रण के लिए उनके साथ तादात्म्य स्थापित करना आवश्यक है तथा यह कहने की आवश्यकता नहीं कि वह तादात्म्य केवल उन्हीं व्यक्तियों के द्वारा सम्भव है, जो स्वयं उदात्त व्यक्तित्व के धनी हों। इसका उदाहरण 'ईलियट' के रचयिता होमर के व्यक्तित्व एवं कृतित्व से दिया जा सकता है। होमर की महान धारणाएँ ही उनकी रचनाओं में उस महानता का संचार कर पायी हैं, जिसे दूसरे शब्द में 'औदात्य' कहा गया है।

(२) भावों का उदात्त रूप में चित्रण - काव्यगत औदात्य का दूसरा स्रोत उदात्त भावों का चित्रण है। लोंजाइनस से पूर्व कतिपय लेखकों ने या तो भाव और औदात्य की पृथकता को स्वीकार नहीं किया या फिर उन्होंने भावावेग को औदात्य में बाधक माना है। पर लोंजाइनस ने इस मत का तीव्र रूप में खंडन करते हुए भावावेग को औदात्य का सहायक माना है। "मेरे विचार से जो आवेग उन्माद उत्साह एवं उद्दामता से फूट पड़ता है और एक प्रकार से वक्ता के शब्दों को विक्षेप से परिपूर्ण कर देता है, उसके यथास्थान व्यक्त होने से स्वर में जैसा औदात्य आता है, वैसा अन्यत्र दुर्लभ है।" (ग्रीक साहित्य- शास्त्र,

पृ० १६१) भावावेग की अभिव्यक्ति के विभिन्न साधनों के अन्तर्गत लोंजाइनस ने सर्वाधिक महत्व परिस्थितियों (भारतीय शब्दावली में आलम्बन एवं उद्दीपन के संयोग) को दिया है। उपयुक्त परिस्थितियों का चयन एवं उनका सम्यक् रूप में संघटन ही भावावेग का जनक सिद्ध होता है। इसके अतिरिक्त भावों के चित्रण में विस्तारण एवं बिम्ब-विधान से भी सहायता ली जा सकती है।

(३) अलंकार नियोजन-औदात्य का तीसरा स्रोत अलंकारों का नियोजन है। अलंकारों के सम्बन्ध में लोंजाइनस का विचार है कि उनके सम्यक् प्रयोग से औदात्य की सिद्धि में पर्याप्त सहायता मिलती है। इस प्रसंग में उन्होंने अलंकारों के विभिन्न भेदों का भी निरूपण किया है, जिनमें से प्रमुख ये हैं- १. शपथोक्ति २. प्रश्नालंकार ३. विपर्यय ४. व्यतिक्रम ५. पुनरावृत्ति ६. प्रत्यक्षीकरण ७. संचयन ८. सार ९. रूपपरिवर्तन १०. पर्यायोक्ति ११. रूपक १२. उपमा आदि। (विस्तृत परिचय के लिए द्रष्टव्य - 'ग्रीक साहित्य-शास्त्र') लोंजाइनस के मतानुसार अलंकारों का प्रयोग इस ढंग से होना चाहिए कि श्रोता या पाठक को उनके प्रयोग का पता न चले। दूसरे शब्दों में, अलंकार भावावेग की प्रेरणा से सहज स्वाभाविक रूप में प्रयुक्त होने चाहिए, उसी स्थिति में वे प्रभावशली एवं औदात्य के उत्पादक सिद्ध होते हैं।

(४) उत्कृष्ट भाषा-औदात्य का चतुर्थ स्रोत उत्कृष्ट भाषा है। यह तथ्य है कि उपयुक्त एवं प्रभावोत्पादक शब्दावली श्रोता को आकर्षित करती हुई उसे भावाभिभूत कर लेती है। ऐसी शब्दावली, जिसमें भव्यता, सौन्दर्य, मार्दव, गरिमा, ओज, शक्ति आदि श्रेष्ठ गुणों की अभिव्यक्ति हो, प्रत्येक वक्ता या लेखक के लिए स्पृहणीय है। 'सुन्दर शब्द ही वास्तव में विचारों को विशेष प्रकार का आलोक करते हैं, किन्तु इससे यह तात्पर्य नहीं कि गरिमामयी भाषा ही प्रत्येक अवसर के अनुकूल है, क्योंकि छोटी-मोटी बातों को भारी- भरकम संज्ञा देना किसी छोटे से बालक के मुँह पर पूरे आकारवाला मुखौटा लगा देने के समान है।' उत्कृष्ट भाषा की विभिन्न विशेषताओं के अन्तर्गत सुन्दर शब्दावली के अतिरिक्त ओज, प्रवाहपूर्णता, रूपकों का सीमित प्रयोग, उपमाओं एवं अत्युक्तियों का उचित प्रयोग आदि को स्थान दिया गया है। वस्तुतः भाषा के विभिन्न गुणों की उपयोगिता औदात्य की सृष्टि में है-यदि उसके ये गुण इस लक्ष्य की पूर्ति करते हैं तो स्वीकार्य है, अन्यथा नहीं।

(५) गरिमामय रचना-विधान - औदात्य का पाँचवाँ स्रोत गरिमामय रचना- विधान है। इसके अन्तर्गत सर्वप्रथम सामंजस्य (Harmoney) को स्थान दिया गया है। सामंजस्य का एक प्रकार शब्दों को विशेष क्रम में व्यवस्थित करता है। सामंजस्य में एक ऐसी शक्ति होती है जिससे कि वह न केवल श्रोता को प्रसन्नता प्रदान करता है, अपितु एक सीमा तक वह उसे द्रवित करके बहा भी ले जाता है। बाँसुरी की मधुर तान की भाँति रचना का सामंज्य भी हमारे मन से विभिन्न भावों को उद्वेलित करता हुआ औदात्य

की अनुभूति प्रदान करता है। विभिन्न छन्दों का आविष्कार सामंजस्य की स्थापना के लिए ही हुआ है। इस प्रकार किसी भी रचना में औदात्य की सृष्टि उदात्त विचार, उदात्त भावावेग, सम्यक् अलंकार-नियोजन, उत्कृष्ट भाषा एवं रचनागत सामंजस्य के द्वारा ही होती है। पर ये सभी तो साधन मात्र हैं- इनका साध्य तो केवल औदात्य ही है, अतः इनकी सफलता एवं महत्ता उसी सीमा तक है, जहाँ तक वे साध्य की उपलब्धि में सफल सिद्ध होते हैं। औदात्य के बाधक तत्व-औदात्य के साधक तत्वों की भाँति उसके बाधक तत्व भी हैं, जिन्हें 'दोष' कहा जा सकता है। इनके अन्तर्गत मुख्यतः भाषा की अव्यवस्था, प्रवाह- शून्यता, विषय से अधिक लय की प्रमुखता, उक्ति की अत्यधिक संक्षिप्तता, अस्पष्टता, आडम्बरपूर्ण शैली, अनुचित विचार, अभिव्यक्ति की क्षुद्रता, ग्राम्य पदों का प्रयोग, कर्णकटु भाषा, विषयानुरूप शब्दावली का अभाव आदि दोषों को लिया गया है। इन दोषों से रचना का प्रभाव नष्ट हो जाता है।

मैथ्यू आर्नल्ड

श्रेष्ठ कला एवं काव्य की कसौटी- मैथ्यू आर्नल्ड भी अरस्तू की भाँति कला और काव्य की कसौटी प्रकृति के अनुकरण या चित्रण से प्राप्त आनन्द को ही मानते हैं, किन्तु उन्होंने अरस्तू की अवधारणाओं को इस ढंग से व्याख्यायित किया है कि जिससे वे अपने विचारों एवं सिद्धन्तों की पुष्टि कर सकें। अरस्तू मूलतः यथार्थवादी चिन्तक थे। अतः उन्होंने कलाजन्य ज्ञान या अभिज्ञान को ही आनन्द का मूल आधार माना। आर्नल्ड इसी धारणा को और अधिक विकसित करते हुए लिखते हैं- "अतः हम किसी भी यथार्थ चित्रण के रोचक होने की आशा कर सकते हैं, परन्तु यदि वह काव्यात्मक हो तो इससे भी अधिक की माँग की जा सकती है। वह मनोरंजन करे इतना ही पर्याप्त नहीं, उससे यह भी अपेक्षा की जायेगी कि वह पाठक को स्फूर्ति और आनन्द दे, उसमें मोहकता हो और वह मन को आह्लाद से भर दे।" इस प्रकार आर्नल्ड यहाँ कविता से मानव-ज्ञान की वृद्धि के साथ-साथ मानव के आनन्द की भी अभिवृद्धि को आवश्यक बताते हैं। आगे चलकर वे शिलर के इस कथन के आधार पर कि "सम्पूर्ण कला आनन्द के चरणों पर समर्पित है मानव को कैसे सुखी बनाया जाय - इससे महत्तर एवं गम्भीर समस्या कोई और नहीं है। उपयुक्त कला वही है जो परमानन्द की सृष्टि करे।" यहाँ स्पष्टतः कलाजन्य आनन्द का मानव-जाति के सौख्यवर्धन से सम्बद्ध स्थापित करते हुए उसी को परमानन्द घोषित किया गया है। अस्तु, जहाँ अरस्तू कला से केवल कलात्मक आनन्द की ही अपेक्षा करते थे वहीं शिलर का अनुमोदन करते हुए आर्नल्ड ने भी कला और काव्य का लक्ष्य अन्ततः मानव-जाति को सुखी करके परम आनन्द में अभिवृद्धि करना माना है। दूसरे शब्दों में यह भी कहा जा सकता है कि आर्नल्ड के

दृष्टिकोण के अनुसार काव्य का लक्ष्य केवल व्यक्ति विशेष का मनोरंजन करना नहीं, अपितु समस्त मानवता का हित साधन करते हुए उसे आनन्द प्रदान करना है।

काव्य का विषय-चयन - कला और काव्य का लक्ष्य स्पष्ट करने के साथ-साथ ही आर्नल्ड ने इस प्रश्न पर भी विचार किया है कि वे कौन से तत्व या विषय हैं, जिनके चित्रण से काव्य से आनन्द प्राप्त हो सकता है ? उस युग के स्वच्छन्दतावादी कवि काव्य के विषय को केवल वैयक्तिक अनुभूतियों तक सीमित कर रहे थे। उनके अनुसार काव्य का केवल एक ही विषय है- भाव या अनुभूति जिसे कल्पना के माध्यम से व्यक्त किया जाता है, किन्तु आर्नल्ड इस मत का खण्डन करते हुए स्पष्ट करते हैं कि यदि काव्य में केवल भावों की ही व्यंजना की गयी और उनकी परिणति किसी कार्य या क्रिया-कलाप में न दिखायी गयी तो ऐसी स्थिति में वह हमें आनन्द प्रदान करने की अपेक्षा हमारे हृदय को भाव या वेदना से अभिभूत कर लेगा। स्वयं आर्नल्ड के शब्दों में- "अब प्रश्न यह उठता है कि ऐसी स्थितियाँ कौन-सी होती हैं जिनके यथार्थ चित्रण से भी काव्यानन्द की उपलब्धि न हो ?- वे जिनमें वेदना की परिणति किसी क्रिया में न होती हो, वे जिनमें मानसिक कष्ट की सतत् अवस्था को दूर तक खींचा गया हो और बीच में किसी ऐसी घटना, आशा या संघर्ष का भी विधान न हो जिससे उसका कुछ प्रतिकार होता हो, वे जिनमें सब कुछ सहना ही हो, करना कुछ भी न हो। ऐसी स्थितियों में अनिवार्यतः कुछ विकृति रहती है, उनके वर्णन में एक प्रकार की विरसता होती है। वास्तविक जीवन में जब कभी ऐसी स्थितियाँ आती हैं, तो वे कष्टकर होती हैं, कारुणिक नहीं। काव्य में उनका चित्रण भी कष्टप्रद ही होता है।"

इसी प्रकार उस युग के अनेक आधुनिकतावादी कवि एवं आलोचक इस विचार को भी प्रचारित करने में लगे हुए थे कि यदि कोई भी विषय प्राचीन न होकर आधुनिक या समकालीन होगा तो वह पाठकों को अधिक आनन्द प्रदान" करेगा। आर्नल्ड ने ऐसे ही विचारकों के मत को उद्धृत करते हुए लिखा है- "एक समझदार आलोचक ने कहा है : "जो कवि वास्तव में जनता का ध्यान आकर्षित करना चाहता हो, उसे चाहिए कि वह प्राणहीन अतीत का पल्ला छोड़ दे और महत्वपूर्ण वर्तमान के तथ्यों से- और वर्तमान के महत्व के कारण वे नूतन भी होंगे तथा रोचक भी अपने विषयों का चयन करें।" आर्नल्ड ने उपर्युक्त दोनों ही विचारों को भ्रांतिपूर्ण घोषित करते हुए प्रतिपादित किया कि न तो कोरी भावानुभूतियों के चित्रण से और न ही आधुनिक विषयों के प्रतिपादन से 'कोई काव्य रचना आनन्दप्रद बन सकती है। उन्होंने अपने दृष्टिकोण को स्पष्ट करते हुए कहा- 'मैं इस मत को सर्वथा भ्रान्तिपूर्ण मानता हूँ। इस पर गहराई से विचार होना चाहिए। आज चारों ओर कुछ ऐसी समीक्षात्मक उक्तियाँ प्रचलित हैं, जिनमें दार्शनिकता की ध्वनि और उसका आभास मिलता है जबकि वास्तव में उनका कोई ठोस आधार नहीं होता। उपर्युक्त विचार एवं उक्तियाँ इसी तथ्य को प्रमाणित करती हैं। ऐसी उक्तियाँ एक ओर तो काव्य

के पाठकों के निर्णय को विकृत करती हैं तो दूसरी ओर उनका अनुसरण करने वाले कवियों को भ्रम में डालती हैं। शाश्वत विषय-आर्नल्ड ने अपने युग की प्रचलित भ्रान्तियों का निराकरण करते हुए अन्त में स्पष्ट किया कि कोई भी काव्य-रचना मानव के महत्वपूर्ण क्रियाकलापों या उसके महान् कार्यों के चित्रण से सफल कृति का रूप प्राप्त करता है। इसके लिए हमें केवल आधुनिक काल या काल-विशेष के विषयों तक ही सीमित नहीं रहना चाहिए अपितु हमें उन शाश्वत् विषयों एवं तत्वों की खोज करनी चाहिए जो कि विभिन्न राष्ट्रों की विभिन्न महान् कृतियों में समान रूप से उपलब्ध होते हैं। वे इस दृष्टि से विचार करते हुए इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं- 'सभी राष्ट्रों में और सभी युगों में काव्य के शाश्वत विषय क्या रहे हैं? कार्य-व्यापार या मानव के कार्य, व्यापार; उनमें स्वतः ही रोचकता का गुण होता है किन्तु फिर भी कवि उन्हें एक ऐसी रोचक शैली में प्रस्तुत करता है जिससे कि उनका सम्प्रेषण सभी पाठकों तक हो सके। यदि कोई कवि समझता है कि कार्य या महान् कार्य में क्या रखा है-यह तो केवल उसकी अपनी काव्य शक्ति का वैशिष्ट्य है कि वह तुच्छ से तुच्छ कार्य को भी महान् कृति का रूप दे सकता है।' ऐसा सोचना निश्चय ही आर्नल्ड की दृष्टि में विवेक-शून्यता का प्रमाण है। 'जब रचना का आधारभूत कार्य ही शक्तिहीन और प्रभाव-शून्य होगा तो फिर कवि कितनी ही अपनी कला की करामात दिखाये वह अपनी रचना में आनन्द का संचार नहीं कर सकता। अतः सर्वप्रथम तो कवि को उत्कृष्ट कार्य-व्यापार का चयन कर लेना चाहिए और सबसे उत्कृष्ट कार्य व्यापार कौन से होते हैं? निश्चय ही वे जो मानव के सहज संस्कारों को सबसे अधिक आन्दोलित करें-मूलवर्ती भावनाओं को आन्दोलित करें जिनका अस्तित्व मानव जाति में स्थायी रूप में होता है और जो काल निरपेक्ष होती हैं। ये भावनाएँ स्थायी और अपरिवर्तनशील होती हैं और इनके अनुरंजन के साधन की स्थायी और अपरिवर्तनशील रहते हैं।

आर्नल्ड के विचार से विषय की प्राचीनता या अर्वाचीनता का काव्य की दृष्टि से विशेष महत्व नहीं है-महत्व है उसकी उस रागात्मकता का जो कि मानवजाति की शाश्वत वासनाओं पर आधारित होती है और अन्त में आर्नल्ड का स्पष्ट निर्णय है- "एक सहस्र वर्ष प्राचीन महान् कार्य भी आज के किसी लघुतर कार्य की अपेक्षा अधिक होगा, भले ही इस लघुतर कार्य के चित्रण में अत्यन्त सूक्ष्म काव्य कौशल का प्रयोग किया गया हो और भले ही वह अपनी आधुनिक अभिव्यंजना परिचित आचार-व्यवहार एवं समसामयिक सन्दर्भों के कारण हमारे क्षणिक भावों और रुचियों को अपनी ओर आकर्षित करने की अधिक क्षमता से युक्त हो। फिर भी वे उनके आधार पर यह आशा नहीं कर सकते कि उनकी काव्य-कृति से पूर्ण परितोष प्राप्त होगा, अपितु इसका परिणाम उनकी आशाओं के विपरीत भी हो

सकता है। काव्य कृतियों का सम्बन्ध हमारी शाश्वत् भावनाओं के साम्राज्य से है- यदि वे इन्हें आकर्षित करती हैं तो और सब अपेक्षाएँ स्वतः ही शान्त और मौन हो जाती हैं।

टी० एस० इलियट निवैयक्तिकता का सिद्धान्त-

सामान्यतः यह समझा जाता है कि कवि अपने वैयक्तिक भावों एवं अनुभूतियों की अभिव्यक्ति करता है, किन्तु इलियट ने इन दोनों ही बातों का खंडन किया है। उसके विचार से न तो कविता में कवि की वैयक्तिकता रहती है और न ही भावों की अभिव्यक्ति।१ इस तथ्य को स्पष्ट करने के लिये इलियट ने काव्य की सृजन- प्रक्रिया पर प्रकाश डालते हुए कहा है- "वस्तुतः कवि के मस्तिष्क में अनगिनत भाव, अनुभूतियाँ, शब्दावलियाँ, बिम्ब आदि भरे रहते हैं और जब तक वे काव्य में व्यक्त नहीं हो जाते, वहीं रहते हैं, किन्तु जब वे घुलमिल कर कविता के रूप में व्यक्त हो जाते हैं तो उसका स्वरूप कुछ और ही हो जाता है उन सब तत्वों के मिश्रण से जो नयी वस्तु सृजित होती है वह अपने सभी घटक तत्वों से भिन्न होती है। दूसरे शब्दों में कहा जा सकता है कि कवि के भाव, विचार, अनुभाव, अनुभूतियाँ, बिम्ब एवं प्रतीक आदि अपने मूल रूप में व्यक्त न होकर एक ऐसे नये रूप में व्यक्त होते हैं, जो कि किसी भी घटक तत्व के पूर्ववर्ती रूप से मेल नहीं खाता। जिस प्रकार एक स्वादिष्ट चटनी में नमक, मिर्च, खटाई, पुदीना आदि न जाने कितने पदार्थ मिश्रित रहते हैं किन्तु यदि हमसे पूछा जाये कि इस चटनी का स्वाद नमक जैसा है या मिर्च जैसा अथवा खटाई जैसा तो इन सब प्रश्नों का एक ही उत्तर होगा - उसका स्वाद इन सभी से भिन्न है। वह एक ऐसा नया स्वाद है जो इन सब में से किसी भी एक में से नहीं मिलता। यही बात कविता पर लागू होती है। कविता के घटक तत्व - भाव, विचार, अनुभूति, अनुभाव, बिम्ब, प्रतीक आदि सब कवि के निजी या वैयक्तिक होते हैं किन्तु जब वे कविता के रूप में परिणत हो जाते हैं तो उनका न तो पिछला स्वाद ही रहता है और न ही पिछला सम्बन्ध। दूसरे शब्दों में, अब वे तत्व भाव आदि कवि से सम्बन्धित न रहकर सार्वजनीन हो जाते हैं। कवि उनके भार से मुक्त हो जाता है या कहिये कि वे तत्व कवि की वैयक्तिकता से बहुत दूर चले जाते हैं। इसीलिये इलियट ने कहा है- 'कविता के माध्यम से हम भावों की अभिव्यक्ति नहीं करते, अपितु उनसे मुक्ति प्राप्त करते हैं या उनसे पलायन करते हैं। भाव ही नहीं कविता के माध्यम से कवि अपनी वैयक्तिकता की सीमाओं से भी मुक्त हो जाता है। उसका स्वर एक व्यक्ति का स्वर न रहकर विश्वमानव का सार्वजनीन स्वर बन जाता है।' इलियट की उपर्युक्त धारणाएँ पाश्चात्य जगत में काफी चौंकाने वाली सिद्ध हुईं तथा उनके समकालीन अनेक विद्वान न तो भलीभाँति इनका अर्थ समझ सके और न ही इन्हें स्वीकार कर सके। इतना ही नहीं कुछ लोगों ने तो इन्हें असंगत, हास्यास्पद एवं स्वतो व्याघात दोष से युक्त भी घोषित किया। पश्चिम में साहित्य चिन्तन का जो स्तर है उसे देखते हुए ऐसा होना स्वाभाविक ही था क्योंकि इलियट के निर्वैयक्तिकता

के सिद्धान्त को वही व्यक्ति अधिक गहराई से समझ सकता है जिसने भारतीय आचार्य भट्टनायक के साधारणीकरण एवं अभिनव गुप्त के अभिव्यक्तिवाद का अनुशीलन किया हो। सच पूछें तो रस-सिद्धान्त के अन्तर्गत जो बात साधारणीकरण की प्रक्रिया के अन्तर्गत कही गयी है, वही बात इलियट ने निर्वैयक्तिकता के सिद्धान्त के अन्तर्गत कही है। साधारणीकरण की अवधारणा या सिद्धान्त के अनुसार कवि के भाव एक व्यक्ति के भाव नहीं रहते, अपितु वे सर्वसाधारण व जनसामान्य के भावों में परिणत हो जाते हैं, इसीलिए कवि का प्रेम या विरह, सुख या दुःख, हर्ष या विषाद, हास्य या रुदन, सर्वसाधारण के दुःख-सुख एवं हास्य- रुदन में परिणत हो जाते हैं। यदि हम इलियट की शब्दावली में कहें तो कवि के भाव निर्वैयक्तिक हो जाते हैं। भारतीय रस-सिद्धान्त के द्वारा इस तथ्य पर भी प्रकाश पड़ता है कि किस प्रकार सामान्य जीवन की भावानुभूतियों का आस्वाद काव्य में परिवर्तित हो जाता है। वस्तुतः रस-सिद्धान्त की मूल अवधारणा यही है कि सामान्य जीवन के भय, त्रास, घृणा, क्रोध और शोक जैसे स्थायी भाव भी काव्य के माध्यम से व्यक्त होकर साधारणीकरण की प्रक्रिया के द्वारा रसानुभूति या आनन्दानुभूति में परिणत हो जाते हैं। ऐसी स्थिति में इलियट की यह अवधारणा कि काव्य में व्यक्त भावों, अनुभावों, बिम्बों और प्रतीकों का स्वाद उनके मूल रूप से सर्वथा भिन्न हो जाता है-किसी भी रस-सैद्धान्तिक आचार्य के लिए चौंकाने वाली नहीं है। वस्तुतः साधारणीकरण या निर्वैयक्तिकता की जो खोज भारतीय आचार्यों ने आठवीं-नवीं शताब्दी में कर ली थी उसी की खोज अंग्रेजी साहित्य के क्षेत्र में इलियट के द्वारा २० वीं शताब्दी में हो पायी। ऐसी स्थिति में यदि अंग्रेजी के प्रबुद्ध साहित्यकार भी इलियट की धारणाओं को असंगत या अस्पष्ट घोषित करें तो आश्चर्य नहीं। वस्तुतः अंग्रेजी-समीक्षा की अनेक अवधारणाओं को स्पष्ट एवं पुष्ट करने में भारतीय काव्य-शास्त्र का ज्ञान पर्याप्त सहायक सिद्ध हो सकता है-यहाँ तक कि इलियट द्वारा प्रतिपादित 'वस्तु परक सामंजस्य' (objective correlative) के स्पष्टीकरण में भी रस-पद्धति का बोध उपयोगी सिद्ध हो सकता है।

आई० ए० रिचर्ड्स प्रेषणीयता का सिद्धान्त

रिचर्ड्स का काव्य सम्बन्धी दूसरा महत्वपूर्ण सिद्धान्त 'प्रेषणीयता का सिद्धान्त' (a theory of communication) है। जैसा कि स्वयं रिचर्ड्स ने बताया है, किसी भी काव्य की समीक्षा के लिए मूल्य के वैज्ञानिक आधार एवं प्रेषणीयता - दोनों को आधार बनाना चाहिए। 'प्रेषणीयता' शब्द का प्रचार समीक्षा के क्षेत्र में रिचर्ड्स से बहुत पूर्व हो चुका था, किन्तु इसका अर्थ स्पष्ट नहीं था। इसके सम्बन्ध में अनेक रहस्यात्मक बातें प्रचलित थीं। कुछ लोग ऐसा समझते थे कि प्रेषणीयता में कवि की अनुभूति पाठक के हृदय में इस प्रकार संक्रमित की जाती है, जैसे कि एक सिक्का एक जेब से दूसरी जेब में चला जाता है। रिचर्ड्स ने इन धारणाओं का विरोध करते हुए स्पष्ट रूप में प्रतिपादित किया कि

प्रेषणीयता कोई अद्भुत या रहस्यमय व्यापार नहीं है, अपितु मन की एक सामान्य क्रिया मात्र है। उनके शब्दों में - All that occurs is that under certain conditions, separate minds have closely similar experiences,' अर्थात् प्रेषणीयता में जो कुछ होता है, वह यह है कि कुछ विशेष परिस्थितियों में विभिन्न मस्तिष्क प्रायः एक जैसी अनुभूति प्राप्त करते हैं। यहाँ यह ध्यान देने की बात है कि रिचर्ड्स ने इन विभिन्न अनुभूतियों में आधार की ही एकता मानी है— उन अनुभूतियों का पारस्परिक ऐक्य उसने स्वीकार नहीं किया है। इसका और अधिक स्पष्टीकरण करते हुए उन्होंने लिखा है कि जब किसी वातावरण-विशेष से एक व्यक्ति का मस्तिष्क प्रभावित होता है तथा दूसरा उस व्यक्ति की क्रिया के प्रभाव से ऐसी अनुभूति प्राप्त करता है कि जो पहले व्यक्ति की अनुभूति के समान होती है तो उसे प्रेषणीयता कहते हैं। वस्तुतः किसी अन्य की अनुभूति को अनुभूत करना ही प्रेषणीयता है। प्रेषणीयता के आधारभूत तथ्यों की मीमांसा करते हुए रिचर्ड्स महोदय ने इसका श्रेय मुख्यतः कवि की वर्णन-क्षमता एवं श्रोता या पाठक की ग्रहण-शक्ति को दिया है। किन्तु इन दोनों के अतिरिक्त और भी बहुत से कारण हैं। सामान्यतः (विषय का) दीर्घ एवं घनिष्ठ परिचय, व्यापक जानकारी, जीवन की परिस्थितियों एवं अनुभूतियों की समानता आदि के कारण भी प्रेषणीयता सम्भव है। कुछ विशिष्ट एवं जटिल विषयों में सफल प्रेषणीयता के लिए यह आवश्यक है कि सम्बन्धित व्यक्तियों के अतीत-कालीन संचित अनुभव (या कहिए-संस्कार) बहुत कुछ एक से हों। साथ ही किसी एक विषय की प्रेषणीयता पर इस बात का भी गहरा प्रभाव पड़ता है कि उसे कौन से दूसरे विषयों एवं तत्वों के साथ समन्वित करके प्रस्तुत किया गया है। यही कारण कि रिचर्ड्स के विचार से विचारात्मक एवं विश्लेषणात्मक निबन्धों के भावोद्दीप्ति का समन्वय नहीं होना चाहिए अन्यथा वे अस्पष्ट हो जायेंगे। कला के लिए प्रेषणीयता अत्यन्त आवश्यक है, किन्तु क्या इसके लिए कलाकार को विशेष प्रयत्न करना चाहिए ? यदि कलाकार स्वयं अपनी कला को प्रेषणीय बनाने का प्रयत्न करने लगेगा तो इससे सम्भव है कि उसकी रचना में कृत्रिमता आ जाय, क्योंकि कला में स्वाभाविकता का गुण तभी सम्भव है; जब कि कलाकार उसमें किसी प्रकार का बाह्य प्रयत्न न करे। अतः रिचर्ड्स महोदय ने एक ओर तो यह माना है कि कला में प्रेषणीयता आवश्यक है, किन्तु कलाकार को इसके लिए, विशेष प्रयत्न नहीं करना चाहिए। सही बात तो यह है कि यदि कलाकार तल्लीनतापूर्वक कला की रचना करता है तो उसमें प्रेषणीयता स्वतः ही आ जायेगी।" कलाकार जितना अधिक सामान्य रूप से कार्य करेगा, अपनी अनुभूतियों के ठीक प्रकार से प्रस्तुतीकरण में वह उतना ही अधिक सफल होगा तथा उतने ही अधिक तदनुकूल भाव पाठकों के मन में उत्पन्न होंगे।" प्रेषणीयता का सिद्धान्त कला के इस महत्व की ओर भी संकेत करता है कि उसमें मानव जाति के अतीतकालीन अनुभव संचित हैं या यों कहिए कि "हमारे

अतीतकालीन अनुभव के मूल्यांकन सम्बन्धी महत्वपूर्ण निष्कर्ष हैं।" अतः कलाओं का महत्व कभी न्यून नहीं हो सकता।

काव्य की भाषा

काव्य में प्रेषणीयता की माध्यम मुख्यतः भाषा है, अतः रिचर्ड्स महोदय ने इसका भी सूक्ष्म विवेचन किया है। भाषा का उपयोग मुख्यतः अर्थ को सूचित करने के लिए होता है। रिचर्ड्स ने अपनी प्रसिद्ध पुस्तक "Practical Criticism". में अर्थ के चार भेद किये हैं-

(१) वाच्यार्थ (Sense), (२). भाव (feeling), (३) वक्ता की वाणीगत चेष्टा (tone), और (४) अभिप्राय (Intention)। इन चारों की क्रमशः रिचर्ड्स के दृष्टिकोण से व्याख्या करते हुए कहा जा सकता है कि सेन्स अर्थात् वाच्यार्थ में किसी वस्तु विशेष या किसी विषय को शब्दों के द्वारा सूचित किया जाता है। हम किसी वस्तु की सूचना इसलिए देते हैं कि उससे हमारे किसी न किसी भाव से सम्बन्ध होते हैं। केवल गणित जैसे कुछ विषयों को अपवाद-स्वरूप 'छोड़कर यह कहा जा सकता है कि भाषा का प्रयोग ही भावों की प्रेरणा से होता है। टोन या लहजे के द्वारा हमारा श्रोता के प्रति दृष्टिकोण व्यक्त होता है। किसी से सम्मानपूर्वक बात करते समय हमारा लहजा विनम्रता पूर्ण होगा तो किसी के डाँटते समय वह दूसरे रूप में होगा। रिचर्ड्स के शब्दों में "The tone of his utter ance reflects awareness of this relation," अर्थात उद्‌गारों का लहजा (वक्ता और श्रोता के पारस्परिक) सम्बन्ध का सूचक है। इन तीनों के अतिरिक्त चौथा भेद अभिप्राय (Intention) है। सामान्यतः कोई भी व्यक्ति किसी प्रयोजन से कुछ कहता है, अतः इसका भी भाषा से महत्वपूर्ण सम्बन्ध है। भाषा से सामान्यतः उपर्युक्त चारों प्रकार के अर्थ ही सूचित होते हैं, किन्तु विषय एवं परिस्थिति भेद से इनका अनुपात बदलता रहता है। विज्ञान की पुस्तकों एवं चर्चा में यदि पहले रूप - वाच्यार्थ (Sense) का अधिक प्रयोग होता है तो काव्य में दूसरे रूप या भाव की अतिशयता होती है। फिर भी ये अर्थ परस्पर सर्वथा असम्बद्ध नहीं हैं-वे एक दूसरे से जुड़े हुए हैं। काव्य में भाव (या भावार्थ) की इतनी अधिक महत्ता होती है कि वहाँ वाच्यार्थ या सूक्ष्म तथ्य गौण हो जाते हैं। वहाँ तथ्य साधन होते हैं साध्य नहीं, अतः जो लोग केवल तथ्यों अथवा विचारों के आधार पर ही कविता का मूल्यांकन करते हैं, वे काव्य के साथ न्याय नहीं करते। ऐसे आलोचकों का विरोध करते हुए डॉ० रिचर्ड्स लिखते

"The statements which appear in the poetry are there for the sake of their effects upon feelings, not for their own sake. Hence to challenge their truth or to question whether they deserve serious attention as statements claiming thelr truth, is to mistake their function. The point is that many, if not most, of the statements in

poetry are there as a means to the manipulation and expression of feelings and attitudes not as contribution to any body of doctrine of any type whatever."(Practical Criticism, page 148) अर्थात् जब कविता में किसी प्रकार के विचारों की अभिव्यक्ति होती है तो वहाँ के भावों के प्रभाव के लिए होती है न कि स्वयं अपने के लिए। अतः उनकी सत्यता को ललकारना या उन्हें सत्य के प्रतिपादक मानकर उनकी गम्भीरता पर विचार करना, उनके मूल कार्य को गलत रूप देना। मूल बिन्दु यह है कि यदि अधिकतम नहीं तो अधिकांश विचार काव्य में भावों और दृष्टिकोणों की अभिव्यक्ति के निमित्त होते हैं किसी सिद्धांत विशेष के प्रतिपादक के रूप में नहीं यह सिद्धान्त चाहे कैसा ही क्यों न हो।" अर्थ और भाव के पारस्परिक सम्बन्ध की विवेचना करते हुए रिचर्ड्स ने उसके तीन रूप माने हैं-प्रथम जहाँ अर्थ ही भाव का बोधक हो। द्वितीय, जहाँ अर्थ भाव की अनुभूति का सूचक हो। तृतीय, जहाँ प्रसंग-विशेष के कारण ही अर्थ आया हो, फिर भी इससे अर्थ और भाव के पारस्परिक सम्बन्ध की घनिष्टता पर प्रकाश अवश्य पड़ता है।

काव्यास्वादन की प्रक्रिया- काव्यास्वादन या काव्य-प्रेषण की प्रक्रिया का विश्लेषण करते हुए रिचर्ड्स ने उसे छह अवस्थाओं में बाँटा है- (१) मुद्रित शब्दों का नेत्रों के माध्यम से ग्रहण, (२) नेत्रों द्वारा प्राप्त संवेदनाओं से सम्बन्धित बिम्बों का ग्रहण, (३) स्वतन्त्र बिम्बों का ग्रहण, (४) विभिन्न वस्तुओं का बोध, (५) भावानुभूति, (६) दृष्टिकोण से सामंजस्य। इनमें से प्रत्येक अवस्था का स्पष्टीकरण करते हुए डॉ० रिचर्ड्स ने बताया है कि सर्वप्रथम काव्य के पठन से उसके अक्षरों की छपाई, स्पष्टता, शुद्धता आदि का गहरा प्रभाव पड़ता है। इसी प्रकार मुद्रित अक्षरों के ऐन्द्रियक बोध में कविता के बाह्य-पक्ष या शैली-पक्ष का पर्याप्त महत्व होता है। बिम्बों की स्वतन्त्र कल्पना के सम्बन्ध में उन्होंने एक नवीन तथ्य का उद्घाटन किया है। उनके विचार से किसी कविता को पढ़कर दो पाठकों के मन में एक जैसे ही बिम्ब उत्पन्न नहीं होंगे। सम्भव है कि एक पंक्ति को पढ़कर पचास पाठकों के मन में पचास प्रकार की मूर्तियाँ उदित हों। अतः काव्य के मूर्तिविधान का बहुत अधिक महत्व नहीं है। डॉ० रिचर्ड्स के विचार से मूर्ति-विधानजन्य अनुभूति से भी अधिक महत्वपूर्ण तत्व वे हैं, जिनके कारण विभिन्न पाठकों के अनुभव में समानता आती है। वे तत्व भाव-सम्बन्धी हैं। विभिन्न शब्दों के अर्थ-बोध एवं बिम्ब-ग्रहण से हमें काव्य की सूच्य वस्तु का या उसके अर्थ का बोध होता है। शिक्षा और अभ्यास के कारण ही हम सूच्य वस्तु का बोध कर पाते हैं। सूच्य वस्तु के बोध के फलस्वरूप भावों और भावात्मक दृष्टिकोणों (attitudes) की अनुभूति होती है। काव्यानुभूति के अन्तिम तथा सबसे अधिक महत्वपूर्ण अंग ये ही हैं।

डॉ० रिचड़र्स लिखते हैं- 'Emotions are primarily signs of attitudes and owe their prominence in the theory of art to this For it is the attitudes evoked which are the all important parts of any experience Upon the texture and form of the attitudes Involved its value depends." (Principles of Literary Criticism page 132) अर्थात भाव दृष्टिकोण के चिह्न हैं तथा इसी कारण उनका कला- सम्बन्धी सिद्धान्तों में बहुत महत्व है। किसी की अनुभूति का महत्व उसमें जाग्रत होने वाले दृष्टिकोणों पर निर्भर है। दृष्टिकोणों के आयोजन और उनका रूप ही उनके मूल्यांकन का आधार है।" यहाँ 'दृष्टिकोण' शब्द का प्रयोग वस्तुतः भावना (Sentiment) के अर्थ में किया गया है, जिसे भारतीय रस-सिद्धान्त की शब्दावली में 'स्थायी-भाव' कह सकते हैं। 'इमोशन' और एटीच्यूड' के बीच रिचर्ड्स ने वही सम्बन्ध माना है, जो संचारी भाव और स्थायी भाव के मध्य है। अतः स्थायी भाव की उद्दीप्ति को ही काव्य का लक्ष्य मानना रस-सिद्धान्त के अनुकूल है। किन्तु स्वयं स्थायी भाव की उद्दीप्ति का लक्ष्य क्या है- इसके उत्तर के सम्बन्ध में भारतीय आचार्यों एवं रिचर्ड्स के विचारों में पर्याप्त मतभेद है। भारतीय आचार्य रस या आनन्द की निष्पत्ति को ही लक्ष्य मानते हैं, जबकि रिचर्ड्स इसे सर्वथा गौण मानते हैं। उनके विचार से "It is not the intensity of the conscious experience, its thrill, its pleasure or its poignancy which gives its value, but the organisation of its impluses for freedom and fullness of life." अर्थात् अनुभूति की गहराई या इसकी उत्तेजना या इससे प्राप्त होने वाली प्रसन्नता या इससे प्राप्त होने वाली वेदना आदि पर इसका (काव्यानुभूति का) मूल्य निर्भर नहीं है। अपितु, इससे सम्पन्न होने वाली आवेगों की व्यवस्था, जिससे कि जीवन में मुक्तावस्था एवं परिपूर्णता आती है, ही (मूल्य का) आधार है। अस्तु, रिचर्ड्स महोदय काव्यानुभूति में भावोद्दीप्ति को लक्ष्य मानते हुए भी उसका उद्देश्य हमारे स्थायी आवेगों को सुव्यवस्थित करना बताते हैं। प्रसन्नता या आनन्द को काव्य का उद्देश्य मानना उन्हें स्वीकार्य नहीं है।

8.8 सारांश

पाश्चात्य काव्यशास्त्र प्राचीन यूनान की 8वीं शताब्दी ई.पू. से उत्तर-आधुनिक यूरोप तक साहित्यिक सिद्धांतों का निरंतर विकास दर्शाता है। प्रारंभिक चरण में प्लेटो ने 'रिपब्लिक' में काव्य को मिथ्या अनुकरण माना, जो सत्य से तीन स्तर दूर है—अमौलिक, अनुपयोगी तथा वासनाउद्दीपक होने के कारण आदर्श राज्य से इसका निष्कासन आवश्यक बताया। अरस्तू ने 'पोएटिक्स' में इसका खंडन करते हुए अनुकरणवाद प्रतिपादित किया, जिसमें भाषा माध्यम, मानवीय क्रिया-कलाप विषय तथा

नाट्य शैली विधि है; विरेचन सिद्धांत द्वारा करुणा-भय से मनोविकारों की शुद्धि तथा त्रासदी को कथानक प्रधान श्रेष्ठ रूप घोषित किया। मध्यकालीन चरण में लोंगिनस ने 'ऑन द सब्लिम' में उदात्त रस का वर्णन किया—अभिव्यक्ति की उच्चता, पाँच स्रोतों (उदात्त विचार, भावोत्कण्ठा, वाक्पटुता, नीतिशास्त्र, शिल्पव्यवस्था) सहित, जो कलाकार के व्यक्तित्व पर आधारित है। होरेस के 'आर्ट ऑफ पोएट्री' ने औचित्य सिद्धांत दिया। आधुनिक काल में क्रोचे ने अभिव्यंजनवाद प्रतिपादित—'कला कला के लिए', स्वानुभूति की अभिव्यक्ति नैतिकता से भिन्न; आस्कर वाइल्ड, स्पिनगार्न समर्थक रहे, जबकि रस्किन-टालस्टाय ने नैतिकता पर जोर दिया। काव्य परिभाषाएँ विविध हैं: अरस्तू की शब्दानुकृति, सिडनी की शिक्षा-आनंद, शेली की श्रेष्ठ हृदयों का लेखा-जोखा तथा हडसन की जीवन अभिव्यक्ति। समकालीन चरण में मैथ्यू आर्नल्ड ने उच्चता, टी.एस. इलियट ने परंपरा तथा आई.ए. रिचर्ड्स ने अंतर्वृत्ति समंजन पर बल दिया। प्रमुख बहस उपयोगिता बनाम अभिव्यक्ति रही। भारतीय तुलना में प्लेटो का निषेध रस-विरोधी प्रतीत होता है, जबकि अरस्तू का विरेचन रसानुभूति से समानांतर है।

8.9 बोध प्रश्नों / अभ्यासों के उत्तर

1. प्लेटो ने काव्य को राज्य से निष्कासित करने का मुख्य कारण क्या बताया?

a) अनुकरण की कमी

b) मिथ्या अनुकरण और वासनाउद्दीपक

c) छंदहीनता

d) नैतिकता का अभाव

उत्तर: b) मिथ्या अनुकरण और वासनाउद्दीपक

2. अरस्तू के अनुसार काव्य में अनुकरण का माध्यम क्या है?

a) संगीत और लय

b) भाषा (गद्य/पद्य)

c) चित्रकला

d) नृत्य

उत्तर: b) भाषा (गद्य/पद्य)

3. लोंगिनस के उदात्त रस के पाँच स्रोतों में से कौन सा प्रथम है?

a) वाक्पटुता

b) उदात्त विचार

c) शिल्पव्यवस्था

d) भावोत्कण्ठा

उत्तर: b) उदात्त विचार

4. क्रोचे का अभिव्यंजनवाद किस सिद्धांत पर आधारित है?

a) कला कला के लिए

b) शिक्षा-आनंद

c) नैतिकता प्रधान

d) उपयोगितावाद

उत्तर: a) कला कला के लिए

5. अरस्तू के विरेचन सिद्धांत का संबंध किससे है?

a) मनोविकारों की शुद्धि

b) छंद सौंदर्य

c) कथानक संरचना

d) भाषा शुद्धि

उत्तर: a) मनोविकारों की शुद्धि

6. निम्न में से कौन सा चिंतक 'आर्ट ऑफ पोएट्री' का रचयिता है?

a) प्लेटो

b) अरस्तू

c) होरेस

d) लोंगिनस

उत्तर: c) होरेस

7. टी.एस. इलियट पाश्चात्य काव्यशास्त्र में किस सिद्धांत के लिए प्रसिद्ध हैं?

a) परंपरा

b) विरेचन

c) उदात्त रस

d) अभिव्यंजनवाद

उत्तर: a) परंपरा

8. पाश्चात्य काव्यशास्त्र का प्रारंभिक काल कब माना जाता है?

a) 5वीं शताब्दी ई.

b) 8वीं शताब्दी ई.पू.

c) 1वीं शताब्दी ई.

d) 15वीं शताब्दी ई.

उत्तर: b) 8वीं शताब्दी ई.पू.

निबंधात्मक प्रश्न

1. प्लेटो और अरस्तू के काव्य-सिद्धांतों की तुलना कीजिए। प्लेटो के मिथ्या अनुकरण के आक्षेप का अरस्तू ने किस प्रकार खंडन किया? उदाहरण सहित स्पष्ट कीजिए।

2. लोंगिनस के उदात्त रस सिद्धांत की व्याख्या कीजिए। इसके पाँच स्रोतों का उल्लेख करते हुए बताइए कि यह सिद्धांत कलाकार के व्यक्तित्व से किस प्रकार जुड़ा है। भारतीय रस सिद्धांत से तुलना कीजिए

8-10 सन्दर्भ पुस्तकें

मूल ग्रंथ (प्राथमिक स्रोत)

- प्लेटो: 'रिपब्लिक' (The Republic) - काव्य को मिथ्या अनुकरण का सिद्धांत।
- अरस्तू: 'पोएटिक्स' (Poetics) - अनुकरणवाद, विरेचन, त्रासदी सिद्धांत।
- होरेस: 'आर्ट ऑफ पोएट्री' (Ars Poetica) - औचित्य सिद्धांत।
- लोंगिनस: 'ऑन द सब्लिम' (On the Sublime) - उदात्त रस के पांच स्रोत।

हिंदी संदर्भ ग्रंथ

- साहित्यिक निबन्ध- गुप्त गणपति चन्द्र , लोकभारती प्रकाशन
- पाश्चात्य काव्यशास्त्र - मयूर देवेंद्रनाथ शर्मा
- भारतीय और पाश्चात्य काव्यशास्त्र - डॉ. नगेन्द्र
- पाश्चात्य काव्यशास्त्र: नई प्रवृत्तियाँ - राजनाथ
- पाश्चात्य काव्य शास्त्र अधुनातन संदर्भ - डॉ. सत्यदेव मिश्र

इकाई 9 प्लेटो: परिचय एवं सिद्धांत

इकाई की रूपरेखा

9.1 प्रस्तावना
9.2 उद्देश्य
9.3 प्लेटो
    9.3.1 पृष्ठभूमि
    9.3.2 प्लेटो के काव्य सिद्धांत
9.4 अनुकरण सिद्धांत
    9.4.1 प्रत्यय और विशेष
    9.4.2 कला के तीन स्तर
    9.4.3 अनुकृति का अनुकरण
9.5 आलोचना
    9.5.1 प्लेटो के विचारों की आलोचना
9.6 सारांश
9.7 शब्दावली
9.8 अभ्यासों के उत्तर
9.9 उपयोगी पाठ्य सामग्री
9.10 निबंधात्मक प्रश्न

9.1 प्रस्तावना

पिछली इकाई में आप ने पढ़ा कि मानव संस्कृति के विकास में कला और साहित्य का महत्वपूर्ण योगदान रहा है। मनुष्य के प्रकृत स्वभाव को परिमार्जित करके सुसंस्कृत बनाने में कलाएं किस प्रकार की भूमिका निभाती हैं, इस पर कला और साहित्यशास्त्री प्राचीन काल से ही मंथन और विवेचन करते आ रहे हैं।

प्रस्तुत इकाई में आप पढ़ेंगे कि मनुष्य को सौंदर्य तत्व की अनुभूति कराते हुए आनंद प्रदान करने वाली कलाएं समाज को सुव्यवस्थित रूप से आगे बढ़ाने में कितनी सहायक या बाधक हो सकती हैं; तथा कला के मूल तत्व एवं प्रक्रिया क्या है; इसी के मंथन के साथ पाश्चात्य काव्यशास्त्र का चिंतन आरंभ

हुआ। इस चिंतन में पहला नाम प्लेटो का आता है; जिसने सबसे पहले एक आदर्श राज्य की कल्पना की थी। पाश्चात्य काव्यशास्त्र का प्रारंभ ईसा से लगभग चौथी-पाँचवी शताब्दी पूर्व प्लेटो से ही माना जाता है।

प्रस्तुत इकाई में हम महान विचारक प्लेटो के साहित्यिक सिद्धांतों का परिचय प्राप्त करेंगे।

9.2 उद्देश्य

इस इकाई को पढ़ कर आप जानेंगे कि:

पाश्चात्य काव्यशास्त्र का प्रारंभ कब और किससे हुआ ?

प्लेटो कौन था ?

काव्यशास्त्र में प्लेटो का क्या योगदान है ?

अनुकरण सिद्धांत क्या है ?

प्लेटो के अनुसार श्रेष्ठ काव्य कौन-सा है ?

9.3 प्लेटो

इस भाग में सर्वप्रथम हम प्लेटो के काल, पृष्ठभूमि और कृतित्व का सामान्य परिचय प्राप्त करेंगे।

9.3.1 पृष्ठभूमि

यूरोप की आलोचना-पद्धति का मूल स्रोत प्राचीन ग्रीस का सांस्कृतिक जीवन है। प्लेटो (ई0पू0 428 से 347) और अरस्तू (384-322 ई0पू0) से बहुत पहले से वहाँ रचनात्मक साहित्य की सृष्टि हो रही थी। तत्कालीन ग्रीक कवियों, दार्शनिकों और चिंतकों द्वारा रचे गए दर्शनशास्त्र, भाषण-शास्त्र, नाटक, काव्य तथा इतिहास आदि के स्फुट संदर्भ मिलते हैं; जिनमें साहित्य के आदर्शों और आलोचना सिद्धांतों पर निर्णय दिए गए हैं; जैसे काव्य का जन्म किस प्रकार होता है, उसकी रचना-पद्धति क्या है, काव्य का उद्देश्य क्या है आदि। ईसा पूर्व पाँचवी-छठी शताब्दी में होमर कृत 'इलियड एडं ओडीसी' नामक महाकाव्य के अनेक रूपांतर मिलते हैं। किंतु ई0पू0 चौथी शताब्दी में यूनान की उत्कृष्ट कलाओं और सर्जनात्मकता का एकाएक ह्रास होने लगा। राजनीति, शिक्षा, आचार-विचार आदि में एक प्रकार की अराजकता फैल गई थी। इसके बाद धीरे-धीरे दर्शनशास्त्र तथा वक्तृत्व कला में कुशल पंडितों ने देश की बागडोर संभाली। उन्होंने तर्क विद्या के बल से ज्ञान के नए क्षेत्रों का अवगाहन किया। इसीसे साहित्य-समीक्षा के महत्वपूर्ण सिद्धांतों का भी प्रादुर्भाव हुआ। इन चिंतकों में ही प्रसिद्ध प्राचीन ग्रीक

विद्वान सुक्रात भी थे; जिन्होंने अपने दार्शनिक चिंतन प्रधान भाषणों और संवादों द्वारा तत्कालीन युवाओं पर गहरा प्रभाव डाला था। उनके प्रिय शिष्यों में प्लेटो प्रमुख थे।

सुक्रात के बाद उनके सबसे प्रतिभाशाली शिष्य प्लेटो ने साहित्य, राजनीति एवं समाज-निर्माण का बौद्धिक नेतृत्व संभालकर यूनान में बौद्धिक क्रांति का सूत्रपात किया। प्लेटो एक संभ्रांत कुल में पैदा हुए थे। उनके माता-पिता दोनों का संबंध एथेंस के राजघरानों से था। प्लेटो महान दार्शनिक सुकरात के विचारों तथा तर्क पद्धति से अत्यधिक प्रभावित थे। सुकरात को नवयुवकों को भड़काने और पथभ्रष्ट करने के आरोप में प्राणदंड मिलने के पश्चात् प्लेटो को विश्वास हो गया कि सच्चे और ईमानदार व्यक्ति के लिए राजनीति में कोई स्थान नहीं है। कुछ समय तक अन्य देशों की यात्रा करके पुनः एथेंस लौटकर उन्होंने ई0पू0 387 में अकादमी की स्थापना की; जिसका उद्देश्य दार्शनिक और वैज्ञानिक अनुसंधान करना था। इस अकादमी को यूरोप का प्रथम विश्वविद्यालय माना जाता है। प्लेटो साहित्य, गणित एवं दर्शनशास्त्र के प्रकांड विद्वान थे। उनके विद्यापीठ में दर्शनशास्त्र, गणित, प्राकृतिक विज्ञान, न्याय और कानून की शिक्षा दी जाती थी। सहृदय और दूरदर्शी प्लेटो के आलोचना संबंधी विचारों का परिचय 'गोर्जिपास एडं फ्रीड्रस', 'प्रोटागोरस', 'आयॉन', 'क्रैटिलस', 'रिपब्लिक' और 'लौज' आदि तीस से अधिक संग्रहों में संवादों के रूप में उपलब्ध होता है। इनमें से 'रिपब्लिक' नामक ग्रंथ सबसे अधिक प्रसिद्ध है। इसमें ग्रीक जीवन तथा आचरण के सभी पक्षों पर प्लेटो ने अपनी सूक्ष्म और आदर्शवादी अन्तर्दृष्टि का परिचय दिया है। आगे चलकर इन्हीं के आधार पर यूरोपीय काव्यशास्त्र की रूपरेखा प्रस्तुत हुई। प्लेटो के संवादों में आलोचना सिद्धांतों का कोई व्यवस्थित निरूपण नहीं मिलता। वे जहाँ-तहाँ बिखरे हुए हैं, फिर भी वे इतने मौलिक तथा गंभीर हैं कि पाश्चात्य काव्यशास्त्र के इतिहास का प्रारंभ उन्हीं से माना जाता है।

ईसा की तीसरी से पाँचवी शताब्दी तक प्लेटो के विचारों पर टीका-टिप्पणियाँ लिखी जाती रहीं। उसके बाद दसवीं से बारहवीं शताब्दी तक उन विचारों के मनन, अध्ययन और विवेचन का कार्य चलता रहा। फिर पुनर्जागरण काल और 19वीं शताब्दी के स्वच्छंदतावादी युग (रोमेंटिक पीरियड) के विद्वानों तथा कवियों पर भी प्लेटो ने पूर्ण प्रभाव डाला। विशुद्ध आनंदानुभूति वाली कला और उपयोगिकतापूर्ण कला के विषय में प्लेटो द्वारा प्रारंभ किया गया विवाद बीसवीं शताब्दी तक कवियों-कलाकारों के आंदोलनों का एक प्रमुख बिंदु बना रहा।

9.3.2 प्लेटो के काव्य सिद्धांत

प्लेटो को काव्य और कवियों की निंदा करने वाला माना जाता है। ऐसा क्यों कहा जाता है? यह जानने के लिए इस भाग में हम कला और काव्य-निर्माण के विषय में प्लेटो के विचारों के विषय में पढ़ेंगे।

प्लेटो के काव्य-विषयक विचार- प्लेटो काव्य-साहित्य का गहन अध्येता था तथा अपनी गद्य रचनाओं में कवित्त्वपूर्ण शब्द और पंक्तियाँ उद्धृत करता था, फिर भी उसने कवियों की भर्त्सना की है। हम पूछ सकते हैं कि ऐसा विरोधाभास क्यों? इसीलिए कि प्लेटो का मूल उद्देश्य आदर्श राज्य और आदर्श व्यक्ति का निर्माण करके व्यक्ति के आंतरिक गुणों को विकसित करना था। उसकी विचारधारा में एक ओर समाज तथा राजनीति का उत्थान है, तो दूसरी ओर व्यक्ति का। वह साहित्य और कला में वहीं तक रूचि रखता था जहाँ तक उनसे राजनीतिक उत्थान हो सके और उदात्त नैतिक सिद्धांतों की स्थापना हो सके। वह मानता था कि कवि तर्करहित होकर आवेग और भावना से काव्य रचना करता है, अतः काव्य वैज्ञानिक नहीं होते। वे समाज को उत्तेजित कर उसे अनैतिक तथा अनुशासनहीन बनाते हैं। किसी कवि या काव्य के मात्र सुंदर होने से कोई लाभ नहीं, जब तक कि वह 'रिपब्लिक' के अनुशासन का पालन न करे। वह कहता था कि यदि कवि को काव्य-रचना की स्वतंत्रता दी जाती है तो उसे यह भी बता देना चाहिए कि वह अपने काव्य में सिर्फ 'शुभ' और 'लाभप्रद' चरित्रों का ही चित्रण करे। अशुभ, विलासिता, नीचता और भद्देपन की अनुकृति प्रस्तुत करने की स्वतंत्रता कवि को नहीं देनी चाहिए। ऐसा करने से नागरिकों पर गलत असर पड़ेगा। उनके मन में अशुभ तत्वों की प्रतिमाएं स्थिर हो जाएंगी। प्लेटो ने अपने पूर्ववर्ती कवि होमर और हिसियौड की भी आलोचना की, क्योंकि उन्होंने अपने वीर नायकों को फूट-फूट कर रोते, भद्दी भाषा का प्रयोग करते तथा लड़ते हुए चित्रित किया था। अपने उद्देश्यों के लिए गलत साधनोंं का प्रयोग करने वाले पात्रों के चित्रण युक्त काव्य नागरिकों को भ्रष्ट बना सकते हैं। नैतिकता की रक्षा के लिए देवताओं और योद्धाओं को आदर्श रूप में प्रस्तुत करना चाहिए। ईश्वर को उसी जगत का स्रष्टा बताना चाहिए, जो परम रूप से शुभ हो। दुष्ट लोगों को सुखी नहीं दिखाना चाहिए और दंगा फसाद करने वालों की तारीफ नहीं करनी चाहिए। उसके अनुसार जो देवी-देवता या महापुरुष नागरिकों को प्रभावित करते हैं; उन्हें निष्कृष्ठ रूप में आपस में लड़ते, उच्छृंखल होते अथवा अनैतिक, कामी-अत्याचारी रूप में चित्रित करना देश और समाज के लिए अपमानजनक है। ऐसी कला मनुष्य को हीन, पतित तथा अनैतिक बनाती है। आदर्श राज्य में ऐसे कवियों के लिए कोई स्थान नहीं है। उन्हें फूलों का हार पहनाकर राज्य से कहीं बाहर भेज देना चाहिए। प्लेटो ऐसी काव्य रचनाएं चाहता था; जो मनुष्य को देवोपम गुणों से विभूषित कर सकें, चारित्रिक दृष्टि से उसे लौह पुरुष बना सकें।

प्लेटो ने काव्य-कला का खंडन दो आधारों पर किया; 1. नैतिक दृष्टि से वह अनैतिकता को प्रश्रय देने वाली है, तथा 2. वह मिथ्या या अवास्तविक प्रचार करती है। एक आदर्श नागरिक के रूप

में मनुष्य को नैतिक आदर्श का अनुसरण करना चाहिए। कला उसे दोनों ही दृष्टियों से पथभ्रष्ट करती है, इसलिए वह निंदनीय है।

कवि 'विशेष' का चित्रण करता है, सामान्य का नहीं। उसका ज्ञान ऐन्द्रिय ज्ञान तक ही सीमित रहता है, प्रज्ञा-ज्ञान तक नहीं पहुँच पाता। वह आदर्श जगत की अनुकृति प्रस्तुत नहीं करता, बल्कि उसकी छाया की अनुकृति करता है। प्लेटो के अनुसार उत्कृष्ठ कला वही है जो अपार्थिव एवं अमूर्त सत्य के प्रति मनुष्य को सचेत कर दे। प्लेटो ने सत्य, शिव और सुंदर को स्वीकार किया, किंतु इन तीनों में भी शिव को सर्वाधिक मान्यता दी। वह नैतिकता और सुंदरता का पुजारी था। इसलिए उसी कला को श्रेष्ठ मानता था जो मानव-चरित्र को शिव और उन्नत बनाने में समर्थ हो। उसके मतानुसार दूसरी कलाओं की भाँति कविता को भी समाज के लिए उपयोगी होना चाहिए। काव्य का लाभप्रद और सुंदर होने के साथ-साथ आनंदप्रद होना भी आवश्यक है। यदि वह ऐसा नहीं है तो वह त्याज्य है। चूंकि कविता हमारी सांस्कृतिक और राष्ट्रीय चेतना के साथ ही सामाजिक जीवन की अभिव्यक्ति भी है, इसीलिए उसे अवश्य ही दोष-रहित और शिव स्वरूप होना चाहिए। अश्लील संवेगों को कुरेदने वाली कविता हमारी आत्मा की शत्रु है।

प्लेटो ने कलाओं को दो भागों में बाँटा; ललित कला और उपयोगी कला तथा काव्य की तीन प्रमुख शाखाएं मानीं; गीत, महाकाव्य और नाटक। उसके अनुसार गीत विवरणात्मक होते हैं, नाटक अनुकरणात्मक और महाकाव्य मिश्रित होते हैं; जिसमें कुछ अंश कवि अपनी ओर से व्यक्त करता है, कुछ पात्रों के माध्यम से कहता है। नाटक की चर्चा करते हुए उसने ट्रेजेडी के श्रेष्ठ कवियों को न्यायकर्ताओं और समाजसेवियों के समकक्ष बताया, तथा हास्यास्पद और बेढंगे कार्यों को कॉमेडी का आधार बताया। उसने संगीत का उदाहरण देते हुए समझाया है कि आरोह-अवरोह तथा स्वरों की विभिन्नता के बाद भी संगीत का लक्ष्य सामंजस्य और समन्वय स्थापित करके आनंद की सृष्टि करना होता है। इसी प्रकार काव्य में कथा, पात्र, भाषा आदि विभिन्न तत्वों का प्रयोग करते हुए कवि की दृष्टि भी समन्वय एवं समग्रता पर होनी चाहिए। प्लेटो का एक और अनेक का समन्वय उसके 'कला के अनुकरणात्मक सिद्धांत का मूल है। काव्य के मूल्यांकन के लिए प्लेटो उसके यथार्थ रूप का ज्ञान आवश्यक समझता था तथा मनोविज्ञान और मानव-चरित्र के सूक्ष्म रहस्यों का उद्घाटन करने की शक्ति को प्रमुखता देता था। उसने कल्पना और संवेगों का अर्थ मनोवैज्ञानिक रूप से समझा थ। वह मनोविज्ञान के इस तथ्य से भी अनभिज्ञ नहीं था, कि मनोभावों की स्वतंत्र अभिव्यक्ति से शांति और मुक्ति मिलती है। दूसरी ओर वह ललित कला तथा व्यावहारिक कला में भी भेद करता है; जैसे चित्रकला और खेल। वे मानते हैं कि सच्चे नागरिक को शरीर और मन दोनों की शिक्षा देना जरूरी है।

मन के लिए कला तथा शरीर के लिए व्यायाम। प्लेटो उसी साहित्य और कला को अच्छा समझता था, जो मानव-चरित्र को उन्नत और शिव बनाए। काव्य का उद्देश्य केवल आनंद प्रदान करना ही नहीं है, बल्कि मानव को प्रभावित कर उसके चरित्र में छिपी हुई आत्म-शक्तियों को सामने लाकर उसका चरित्र-निर्माण करना भी है।

प्लेटो की काव्यकला की कसौटी सत्य है। वह कठोर संयम और आत्म नियंत्रण पर आधारित है। प्लेटो के संपूर्ण आलोचना सिद्धांतों के मूल में नैतिकता, संयमित और सीमित कल्पना, अनुशासन, व्यवस्था क्रम और भेदाभेद वाला दर्शन ज्ञान निहित है।

बोध प्रश्न-1

1. प्लेटो का सबसे प्रसिद्ध संवाद संग्रह कौन-सा है?

(क) आयॉन, (ख) प्रोटागोरस, (ग) रिपब्लिक, (घ) क्रैटिलस

2. निम्नलिखित वाक्य में रिक्त स्थान की पूर्ति कीजिए:

'प्लेटो ने कविता का विरोध किया, क्योंकि वह (क).....और (ख).....।

3. प्लेटो कैसी कला को श्रेष्ठ मानता था?

4. प्लेटो आदर्श राज्य से कवियों को क्यों निष्कासित करना चाहता था?

.....

.....

.....

.....

.....

.....

9.4 अनुकरण सिद्धांत

प्लेटो काव्य तथा कलाओं को अनुकरण का अनुकरण कहता था। अनुकरण क्या है और कलाएं अनुकरण की अनुकरण कैसे हुई? इसका विश्लेषण हम प्रस्तुत भाग में पढ़ेंगे।

9.4.1 प्रत्यय और विशेष

प्लेटो कवियों की निंदा करता था, उसका एक प्रमुख कारण उसकी यह मान्यता है कि काव्य अनुकरण का अनुकरण है, और भ्रामक रचना आदर्श राज्य तथा व्यक्ति के निर्माण में बाधक है। इसलिए वह सत्य नहीं है। काव्य अनुकरण का अनुकरण कैसे है? आइए जानते हैं।

प्लेटो मूलतः प्रत्ययवादी (आइडियलिस्ट) दार्शनिक था। प्रत्ययवाद के अनुसार प्रत्यय अर्थात् विचार (आइडिया) ही परम सत्य है। ईश्वर उसका स्रष्टा है। दृश्यमान जगत् उसका अनुकरण है। दर्शन-मीमांसा का मूल उद्देश्य सत्य का अन्वेषण होता है। प्लेटो की तत्व-मीमांसा में दो शब्दों पर विशेष ध्यान देने की आवश्यकता है: 'प्रत्यय' और 'विशेष'। 'प्रत्यय' एक वर्ग का प्रतिनिधि है, फिर भी वह दिखाई नहीं देता। वह अदृश्य, अरूप, अपरिवर्तनीय परम सत्य है। वह इन्द्रियातीत है। उसका ज्ञान सिर्फ प्रज्ञा द्वारा ही संभव है। 'प्रत्यय' का ही वैज्ञानिक ज्ञान संभव है। 'विशेष' वे वस्तुएं हैं; जिनका ज्ञान हम अपनी पाँचों इन्द्रियों से देख, सुन, सूँघ, चख या स्पर्श करके ग्रहण करते हैं; जैसे मनुष्य, घोड़े, फूल इत्यादि। 'विशेषों' का वैज्ञानिक ज्ञान संभव नहीं है, क्योंकि ये (अ) परिवर्तनशील हैं, (आ) इनकी अपनी स्वतंत्र सत्ता नहीं है, (इ) इनका बोध इन्द्रियों से होता है और ऐन्द्रिय ज्ञान प्रामाणिक नहीं होता, (ई) इसलिए ये सत्य नहीं हैं।

तो ये 'विशेष' क्या हैं?

ये 'विशेष' 'प्रत्यय' के प्रतिबिंब हैं, उनकी छाया हैं।

कैसे?

जैसे कि हम बहुत से घोड़े देखते हैं; काले, सफेद, भूरे रंगों के या आकार में छोटे-बड़े अथवा चाल में मंद या तेज। इन समस्त भिन्नताओं के बाद भी हम उन्हें 'घोड़ा' ही कहते हैं। इसीलिए 'घोड़ा' 'प्रत्यय' है और 'घोड़े' 'विशेष' है। 'घोड़े' नश्वर हैं, 'घोड़ा' अनश्वर। एक दिखाई देता है, दूसरा नहीं। यह न दिखाई देने वाला अदृश्य, अरूप घोड़ा ही 'प्रत्यय' अर्थात् परम सत्य है। इसी तरह प्रत्येक वर्ग और जाति का एक-एक परम सत्य अर्थात् 'प्रत्यय' होता है। मनुष्य जाति का प्रत्यय मनुष्य, फूलों का फूल और गायों का गाय। इस तरह ज्ञान प्राप्ति के भी दो रास्ते हैं; इन्द्रियाँ और प्रज्ञा। इन्द्रियाँ वस्तु-जगत का ज्ञान कराती हैं, लेकिन उनका ज्ञान भ्रामक होता है, क्योंकि ये 'प्रत्ययों का ज्ञान नहीं करा पातीं। प्रज्ञा 'प्रत्ययों' का ज्ञान कराती है। उसका ज्ञान सच्चा ज्ञान होता है, क्योंकि वह वस्तुओं के मूल तत्व अर्थात् परम-सत्य का ज्ञान प्राप्त करती है। भारत के प्राचीन दर्शनों में भी यही बात कही गई है कि यह विविध रूपात्मक स्थूल संसार क्षणिक और परिवर्तशील है तथा किसी शाश्वत् अमूर्त सत्ता का बाह्यावरण मात्र है। गोचर जगत क्षणभंगुर है और शाश्वत तत्व अगोचर है। प्लेटो का यह दर्शन भारत के 'ब्रह्म और माया' अथवा पुरुष रूपी परमात्मा की छाया रूपी प्रकृति के दर्शन के निकट प्रतीत होता है।

9.4.2 कला के तीन स्तर

प्राणियों या वस्तुओं की हर जाति का अपना एक 'प्रत्यय' होता है; जैसे अनेक चारपाइयाँ और मेजें होती हैं। उनमें चारपाइयों को हम इसलिए पहचानते हैं, कि वे चारपाई से मिलती-जुलती हैं, जो चारपाई सभी चारपाइयों में अनुस्यूत है। वह उन सब चारपाइयों का मूल तत्व या 'प्रत्यय' है। बढ़ई चारपाई बनाते समय इसी 'प्रत्यय' को ध्यान में रखकर उसका अनुकरण करते हुए लकड़ी की चारपाई बनाता है। वह स्वयं 'प्रत्यय' की रचना नहीं करता, इसलिए उसकी कला अनुकरण है। उसके बाद कलाकार उस चारपाई का चित्र बनाता है, इसलिए वह अनुकरण की अनुकृति बनाता है। अर्थात् छाया की छाया बनाता है। इसलिए उसे सत्य नहीं कहा जा सकता। वह सत्य से तिगुनी दूर है।

इस प्रकार प्लेटो की दृष्टि से कलाकार तीन प्रकार के होते हैं, पहला वह; जो धरती, आकाश तथा देवता-सभी की रचना करता है। उसे ईश्वर कहते हैं। दूसरा कलाकार बढ़ई है; जो चारपाई बनाता है, किंतु उसके द्वारा निर्मित चारपाई वास्तविक चारपाई नहीं। वह वास्तविक चारपाई की छाया मात्र है।

तीसरा कलाकार चित्रकार है। वह बढ़ई द्वारा निर्मित चारपाई की अनुकृति बनाता है। बढ़ई ईश्वर कृत मूल 'प्रत्यय' की छाया निर्मित करता है और चित्रकार उस छाया की अनुकृति तैयार करता है। छाया की छाया सत्य कैसे हो सकती है? उसे तो ईश्वर-रचित चारपाई का ज्ञान भी नहीं। उसके ज्ञान को सच कैसे माना जा सकता है? बढ़ई कृत चारपाई को हम चारों दिशाओं से देख सकते हैं। अनुदृश्य बदल देने पर उसके रूप में भी परिवर्तन हो सकता है। वह कभी चौकोर तो कभी तिकोनी दिख सकती है, परंतु चित्रकार-रचित चारपाई एक ही ओर से देखी जा सकती है। वह बच्चों को बहलाने के लिए काफी हो सकती है, किंतु बुद्धिमान या ज्ञानी के लिए वह सिर्फ भ्रम है।

9.4.3 अनुकृति का अनुकरण

इस तरह कलाकार मात्र अनुकर्ता है। उसकी कला भ्रामक है और सत्य से तीन गुना दूर है। वह सत्य की तीसरी छाया को सत्य मान लेता है। अतः वह छाया-चित्रकार है। वह बढ़ई या मोची को चारपाई बनाते या जूता सीते हुए चित्रित कर सकता है, किंतु उनके पेशे से अनभिज्ञ ही रह सकता है। चारपाई कैसे बनाई जाती है, इसके बारे में उसे कोई ज्ञान नहीं होता। इसी प्रकार कवि जिस वस्तु का अनुकरण करता है, उसकी वास्तविक प्रकृति से परिचित नहीं होता। वह न अपने अनुकार्य की प्रकृति से परिचित होता है और न उसका सच्चा रूप अंकित कर पाता है। इसका आशय यह हुआ कि कला में जिन पदार्थों का चित्रण होता है वे केवल चर्म-चक्षुओं से दिखाई पड़ने वाले विविध-रूपात्मक तथा क्षण-क्षण परिवर्तनशील पदार्थ होते हैं; जबकि सत्य अपरिवर्तनशील, अमूर्त और एक है। निष्कर्षतः

कहा जा सकता है कि काव्य में अनुकरण की प्रक्रिया वस्तुओं को उनके यथार्थ रूप में नहीं; बल्कि आदर्श रूप में प्रस्तुत करती है।

जो कार्य चित्रकार तूलिका और रंगों से करता है वही कार्य कवि शब्दों द्वारा करता है। कवि भले ही अपनी प्रतिभा के बल पर श्रेष्ठ काव्य का सृजन करता हो, किंतु वह जो कुछ भी चित्रित करता है वह प्रकृति के खुले हुए रंगमंच को देखकर उससे प्रेरणा लेकर करता है। अर्थात् कवि की रचना प्रकृति की चित्रशाला की अनुकृति होती है। प्रकृति स्वयं अरूप तत्व की रूपात्मक छवि है। अतः कवि का सत्य यथार्थ से पर्याप्त दूर है। काव्य तथा अन्य कलाओं द्वारा सत्य का निरूपण नहीं हो सकता, यह मानकर ही प्लेटो ने काव्य को देव-स्तुतियों एवं महापुरुषों की प्रशस्तियों तक ही सीमित रखा।

9.5 आलोचना

प्लेटो के सिद्धांतों की पाश्चात्य विद्वानों द्वारा पर्याप्त आलोचना की गई। उसके विचारों में अनेक दोष निकाले गए। उनमें से प्रमुख इस प्रकार हैं-

9.5.1 प्लेटो के विचारों की समालोचना

- प्लेटो का सबसे बड़ा दोष यह है कि उसने अत्यधिक नैतिकता और दर्शन-ज्ञान की वेदी पर कला और सौदर्य का हनन किया।
- कला के क्षेत्र में भावुकता को कुछ मान्यता देते हुए भी उसने श्रव्य कला की भावुकता की तीव्रता का उल्लेख नहीं किया। दृश्यकला में भावुकता की उतनी तीव्रता नहीं होती।
- सौंदर्यशास्त्र की दृष्टि से यह आवश्यक नहीं कि सुंदर वस्तु हमेशा नैतिक ही हो अथवा नैतिक वस्तु हमेशा सुंदर ही हो। अतः कला के सौंदर्य का मानदंड नैतिकता नहीं हो सकती।
- काव्य या चित्र को नकल की नकल कहना अनुचित है।
- जिस आदर्श जगत की बात प्लेटो करते हैं, उस तक सामान्य आदमी की बुद्धि की पहुँच नहीं है।

प्लेटो के काव्य विषयक विचारों को संक्षेप में इन बिंदुओं में प्रस्तुत किया जा सकता है:

1. कवि दैवी प्रेरणा से आवेश में रचना करता है, परंतु उसके वर्णन वास्तविक तथा तर्क आधारित नहीं रहते। वह प्रायः मानव-वासनाओं को उभार कर लोगों को असंयत, अनैतिक, संघर्षशील बनाता है।
2. कवि का वर्णन सत्य न होकर भावुक, काल्पनिक, अतिरंजनापूर्ण होने से समाज को गलत दिशा में ले जाता है।

3. प्लेटो ज्ञान और सत्य की प्रतिष्ठा करने वाले काव्य का स्वागत करता है।

4. वस्तु के तीन रूप होते हैं; आदर्श, वास्तविक और अनुकृत। प्रकृति ईश्वर के आदर्श के आधार पर रची गई सृष्टि है और काव्य तथा कला उसकी अनुकृति हैं, इसलिए सत्य से तीन गुना दूर हैं।

5. अनुकरण के दो रूप हैं; एक वह तत्त्व, जिसका अनुकरण किया जाता है, दूसरा अनुकरण का स्वरूप। यदि तत्त्व मंगलकारी है और अनुकृति उत्तम है तो वह स्वागत् योग्य है। लेकिन प्रायः अनुकृत्य अमंगलकारी तथा अनुकरण अधूरा होता है, इसलिए ऐसी कला हानिकारक होती है।

6. काव्य कला में वस्तु के साथ रूप (फॉर्म) का भी महत्व है। भाषा, लय तथा कला का संगठन तर्कसंगत समीचीन होना चाहिए।

प्लेटो के विचारों में अनेक दोष होते हुए भी दर्शन और काव्यशास्त्र में उसका महत्व कम नहीं होता। पाश्चात्य काव्यशास्त्र की नींव तैयार करने में उसका अमूल्य योगदान है। काव्य तथा कलाओं के संबंध में प्रश्न उठाकर उन्होंने साहित्यालोचन के चिंतन, अध्ययन एवं विवेचन की पृष्ठभूमि तैयार की। अपनी तलस्पर्शी गहन प्रतिभा के बल पर आचार्य प्लेटो पर्ववर्ती आचार्यों के लिए प्रकाश स्तंभ बने। उनकी बहुत-सी बातों से असहमत हुआ जा सकता है, लेकिन उनकी मौलिक उद्भावनाओं को विस्मृत नहीं किया जा सकता। प्लेटो पाश्चात्य साहित्यशास्त्र के प्रथम आलोचक है; जिसने तर्क और कल्पना, संयम और आवेश, ज्ञान और विज्ञान का सामंजस्य स्थापित करते हुए साहित्य के मूल तत्वों को समझने के लिए मनोविज्ञान का सहारा लिया। सर्वप्रथम उन्हीं के प्रयासों से काव्य में आध्यात्मिक तत्वों का समावेश हुआ। उन्होंने कलाकारों के लिए मानव-जीवन के संपूर्ण ज्ञान को आवश्यक बताया तथा तत्कालीन साहित्यकारों का खोखलापन उद्घाटित किया। प्लेटो के बाद उनके शिष्य अरस्तू ने अनुकरण सिद्धांत की पुनर्व्याख्या करते हुए काव्य के नए सिद्धांतों का प्रतिपादन किया।

बोध प्रश्न: 2

5. रिक्त स्थान की पूर्ति कीजिए।

प्लेटो की तत्व मीमांसा में दो शब्दों पर विशेष गौर करने की आवश्यकता है?

(क)..... (ख).....

काव्य भ्रांति है, क्योंकि वह.....का.....है।

6. प्लेटो के काव्य सिद्धांतों का सबसे बड़ा दोष क्या है?

7. चित्रकार द्वारा चित्रित चारपाई असत्य कैसे है?

8. कवि-सत्य यथार्थ के कितना दूर है?

.....

.....

.....

.....

.....

9.6 सारांश

इस इकाई में आपने पढ़ा कि पाश्चात्य काव्यशास्त्र का प्रारंभ ईसा पूर्व चौथी-पांचवी शताब्दी से हुआ था। उसका प्रथम चिंतक और व्याख्याता प्लेटो था। प्लेटो ने अपनी प्रखर प्रतिभा, दार्शनिक चिंतन तथा मानव-जीवन के सूक्ष्म अध्ययन के आधार पर साहित्य, चित्रकला और संगीत आदि के विषय में अपने सिद्धांत स्थिर करके अपने विचार दिए। तब से आज तक ये सिद्धांत काव्यशास्त्र के महत्वपूर्ण विचार बने हुए हैं।प्लेटो एक आदर्श राज्य का निर्माण करना चाहता था। उसके योग्य आदर्श नागरिकों के चरित्र-निर्माण की दृष्टि से वह नैतिकता को सर्वोपरि मानता था। इसलिए उसने साहित्य तथा कला के उन्हीं चित्रणों का समर्थन किया जो देवताओं और योद्धांओं के आदर्श गुणों को प्रस्तुत कर नागरिकों को उस ओर प्रेरित करें। प्लेटो की काव्य-कला की कसौटी सत्य है। वह कठोर संयम तथा आत्म नियंत्रण पर आधारित है। कविता और नाटक में देवताओं तथा वीर नायकों की दुर्बलताएं चित्रित करने वाले तथा अयथार्थ और अतिशयोक्तिपूर्ण अथवा काल्पनिक चित्रण करने वाले कवियों की प्लेटो ने निंदा की है।

9.7 शब्दावली

भर्त्सना	निंदा
अनभिज्ञ त्र	अनजान
ट्रैजेडी	करूणांतक नाटक
अनुकर्त्तात्र	अनुकरण करने वाला
उद्भावना त्र	कल्पना-उत्पत्ति
प्रखर	तीक्ष्ण
अवगाहन	डुबकी लगाना

इन्द्रियातीत जो इन्द्रियों से न जाना जा सके

9.8 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर

बोध प्रश्नों के उत्तर

1. (ग) रिपब्लिक
2. (क) अनैतिकता को प्रश्रय देती है
   (ख) मिथ्या या अवास्तविक प्रचार करती है।
3. जो मानव चरित्र को शिव और उन्नत बनाने में समर्थ हो।
5. (क) 'प्रत्यय' (ख) 'विशेष'
   अनुकरण का अनुकारण
6. नैतिकता और दर्शन-ज्ञान की वेदी पर कला का हनन करना।
7. क्योंकि वह मूल चारपाई के अनुकरण की अनुकृति है।
8. तीन गुना

9.9 उपयोगी पुस्तकें

1. पश्चिमी आलोचना शास्त्र; लक्ष्मी सागर वार्षणेय; हिंदी समिति, सूचना विभाग, लखनऊ
2. साहित्यशास्त्र; रामशरण दास गुप्ता एवं राजकुमार शर्मा; कॉलेज बुक डिपो, जयपुर (राजस्थान)
4. पाश्चात्य काव्यशास्त्र; विजयपाल सिंह; जय भारती प्रकाशन, इलाहाबाद
5. पाश्चात्य काव्यशास्त्र; देवेन्द्रनाथ शर्मा , जय भारती प्रकाशन, इलाहाबाद

9.10 निबंधात्मक प्रश्न

1. प्लेटो के व्यक्तित्व एवं कृतित्त्व का विवरणात्मक परिचय दीजिए . साथ ही उनके प्रमुख काव्य सिद्धांतों का विवेचन कीजिए
2. प्लेटो के अनुकरण सिद्धांत कि समालोचना करते हुए साहित्य के सन्दर्भ में उनका महत्त्व स्पष्ट कीजिए .

इकाई 10 अरस्तू : परिचय एवं सिद्धांत

इकाई की रूपरेखा

10.1 प्रस्तावना
10.2 उद्देश्य
10.3 अरस्तू और उनका काव्यशास्त्र
10.3.1 अरस्तू
10.3.2 अरस्तू का काव्यशास्त्र
10.3.3 अरस्तू की काव्यगत मान्यताएं
10.4 अरस्तू के काव्य सिद्धांत
10.4.1 अनुकरण सिद्धांत
10.4.2 विरेचन सिद्धांत
10.5 प्लेटो और अरस्तू की तुलनात्मक समीक्षा
10.5.1 तुलना
10.5.2 महत्त्व एवं प्रासंगिकता
10.6 सारांश
10.7 शब्दावली
10.8 अभ्यासों के उत्तर
10.9 कुछ उपयोगी पुस्तकें
10.10 निबंधात्मक प्रश्न

10.1 प्रस्तावना

इकाई 9 में आप ने पढ़ा कि पाश्चात्य काव्यशास्त्र के प्रथम सिद्धांतकार यूनान के सुप्रसिद्ध दार्शनिक प्लेटो थे। उन्होंने काव्य की निंदा करते हुए उसके जिन लक्षणों और प्रक्रियाओं की चर्चा की, वे ही आगे जाकर साहित्यालोचन के आधारभूत तत्व बने।

प्रस्तुत इकाई में आप अरस्तू के साहित्य शास्त्र संबंधी विचारों और स्थापनाओं के विषय में ज्ञान प्राप्त करेंगे । प्लेटो के विद्वान शिष्य अरस्तू (ऐरिस्टोटल) ने प्लेटो के बाद उनके काव्य-विरोधी आरोपों का उत्तर देते हुए उन्हीं सिद्धांतों को नए रूप में प्रस्तुत किया। विशेष करके उनके अनुकरण

सिद्धांत को। अनुकरण के साथ-साथ अरस्तू ने विरेचन सिद्धांत एवं काव्य-विषयक कुछ अन्य बातें भी प्रतिपादित कीं।

प्रस्तुत इकाई को पढ़ने के बाद आप महान विचारक अरस्तू के काव्य संबंधी विचारों की प्रासंगिकता एवं उनके महत्त्व को समझ सकेंगे

10.2 उद्देश्य

इस इकाई को पढ़ कर आप जानेंगे कि:

- ☐ अरस्तू कौन था और उसने क्या कार्य किए ?
- ☐ अरस्तू के काव्य सिद्धांत क्या थे ?
- ☐ प्लेटो और अरस्तू के सिद्धांतों में क्या अंतर है ?
- ☐ पश्चिमी आलोचना में अरस्तू का क्या स्थान है ?

10.3 अरस्तू और उनका काव्यशास्त्र

इस भाग में हम अरस्तू के जीवन तथा कार्यों के विषय में संक्षिप्त परिचय प्राप्त करेंगे।

10.3.1 अरस्तू (384 ई0पू0 से 323 ई0पू0)

अरस्तू का जन्म ईसा पूर्व 384 में उत्तरी यूनान के मैसीडोनिया प्रायद्वीप में हुआ था। वे पाश्चात्य दर्शन के व्यवस्थित चिंतन के प्रथम प्रवर्तक, यथार्थवादी, दार्शनिक तथा व्यापक ज्ञान के विश्वकोश माने जाते हैं। इनके पिता 'निकौमैकस' मैसीडोनिया के राजा सिकंदर महान के पितामह के राज चिकित्सक थे। चिकित्सक पिता के पुत्र होने के कारण अरस्तू 200 वर्ष पूर्व से प्रचलित चिकित्सा विज्ञान के जन्मजात उत्तराधिकारी बने।

पिता की मृत्यु के पश्चात् 17 वर्ष की उम्र में अरस्तू को एथेंस स्थित प्लेटो की अकादमी में भेजा गया; जहाँ उन्होंने 20 वर्ष तक प्लेटो के संपर्क में रहकर विभिन्न विषयों का ज्ञान प्राप्त किया। आगे चलकर सुकरात, प्लेटो और अरस्तू पाश्चात्य चिंतनधारा की तीन पीढ़ियों के महान विचारकों के रूप में विख्यात हुए। अरस्तू का लालन-पालन, संपन्न, सुसंस्कृत तथा अभिजात वातावरण में हुआ था। उनकी मेधा विस्मयजनक थी। गुरु (प्लेटो) तथा शिष्य (अरस्तू) अलौकिक बौद्धिक प्रतिभा के धनी थे। उनमें किसी भी विषय पर खूब वाद-विवाद होता था। 347 ई0पू0 में प्लेटो की मृत्यु के समय अरस्तू की उम्र 37 वर्ष थी। प्लेटो के सबसे प्रिय शिष्य तथा सबसे योग्य विद्वान होने के कारण उन्हें विद्यापीठ का आचार्य पद प्राप्त होने की आशा थी, परंतु अलग राज्य के होने के कारण ऐसा न हो

सका। इससे अरस्तू को ठेस लगी। कुछ वर्ष एशिया माइनर में रहने के बाद वे अपने राज्य मकदूनिया चले गए। दोनों राज्यों के राजाओं से उन्हें प्रचुर धन प्राप्त हुआ; जिसे उन्होंने वैज्ञानिक अनुसंधानों में लगाया। उनके एक हजार सहायक विभिन्न स्थानों पर जाकर उनके अनुसंधानों के लिए सामग्री संकलन करते थे। मकदूनिया के राजा 'फिलिप' ने अपने पुत्र सिकंदर (महान) की शिक्षा का भार अरस्तू को सौंपा अरस्तू में अनुसंधान के साथ-साथ अध्यापन की पिपासा भी थी, इसलिए सिकंदर के सिंहासनारूढ़ होने और विश्व-विजय-अभियानों में लगने के बाद वे पुनः एथेंस चले गए। एथेंस उस समय का सर्वश्रेष्ठ बौद्धिक शैक्षिक केंद्र माना जाता था। वहाँ एक स्वतंत्र विद्यापीठ की स्थापना करके वे अपने छात्रों को विभिन्न विषयों की शिक्षा देने लगे। पूर्वाह्न में अध्यापन करते तथा अपराह्न में आम नागरिकों के बीच लोकप्रिय भाषण देते थे। 322 ई0पू0 में अरस्तू की मृत्यु हुई।

10.3.2 अरस्तू का काव्य शास्त्र

अरस्तू के ज्ञान के विषय में प्रसिद्ध है कि उनका जितना अधिकार दर्शनशास्त्र, आचारशास्त्र, राजनीतिशास्त्र, काव्यशास्त्र, भाषणशास्त्र आदि पर था, उतना ही भौतिक विज्ञान, जीव-विज्ञान, वनस्पति-विज्ञान, मौसम-विज्ञान तथा मनोविज्ञान आदि पर भी था। उनके ग्रंथों की कुल संख्या चार सौ बताई जाती है, किंतु वे सभी उपलब्ध नहीं होते। उनके काव्यशास्त्र का यूनानी नाम 'पेरिपोइतिकेस' है; जो अंग्रेजी में अब 'पोइटिक्स' के नाम से प्रसिद्ध है। एथेंस के राजनैतिक पतन के बाद वहाँ के विद्यापीठों का महत्व भी क्षीण हो गया और ज्ञान, विज्ञान, कला आदि की कृतियाँ उपेक्षा के कारण या तो विनष्ट हो गईं अथवा विस्मृत हो गईं। कई शताब्दियों बाद कुछ कृतियों का उद्धार हुआ। संयोग से 1000 वर्षों के बाद 'पेरिपोइएतिकेस' (पोइटिक्स) भी विद्वानों को उपलब्ध हो पाया। अब अंग्रेजी में इसके अनके अनुवाद और व्याख्याएं उपलब्ध हैं, जिनमें एस0एच0 बूचर (1894 ई0) तथा इन ग्रैम वाइकर (1898 ई0) के अनुवाद अधिक प्रामाणिक एवं प्रसिद्ध हैं।

'पैरिपोइएतिकेस' (पोइटिक्स) लगभग पचास पृष्ठों की छोटी-सी पुस्तक है; जिसमें छब्बीस अध्याय हैं। पुस्तक की आकृति तथा विषयों की संक्षिप्त विवेचन पद्धति से ऐसा प्रतीत होता है कि यह अरस्तू द्वारा अध्यापन हेतु तैयार किए गए अथवा उनके छात्रों द्वारा लिखे गए 'नोट' हैं। इस संक्षिप्त, अपूर्ण और खंडित कृति में भी कुछ ऐसी विशेषता है कि यह आज तक उपजीव्य बना हुआ है।

अरस्तू मूलतः वैज्ञानिक, तार्किक तथा दार्शनिक थे, इसलिए वे हमेशा विश्लेषण और युक्तियों के साथ विषय निरूपण करते थे। वे पहले विषय-वस्तु का तटस्थ दृष्टि से सम्यक् निरीक्षण-परीक्षण करते हैं, उसके बाद विवेचन और निष्कर्ष प्रस्तुत करते हैं। उनकी मान्यता है कि किसी वस्तु को ठीक से समझने के लिए उसके प्रयोजन, उपादान कारण, निमित्त कारण तथा तत्व; इन चार बातों

पर ध्यान देना आवश्यक है। बिना प्रयोजन के किसी भी वस्तु का निर्माण नहीं होता। प्रयोजन पूरा करने के लिए उसके उपादान कारण अर्थात् साधन की आवश्यकता पड़ती है। उपादान से प्रयोजन सिद्धि हेतु उसके निष्पादक अर्थात् निमित्त कारण की आवश्यकता होती है और निष्पादक को उस वस्तु के तत्व का ज्ञान होना आवश्यक है। तत्व में उस वस्तु के समस्त लक्षण समाहित हैं। इसे वे घड़े के उदाहरण से समझाते हैं। जल रखने के प्रयोजन हेतु घड़े की आवश्यकता होती है। घड़े के प्रयोजन के ज्ञान के साथ ही मिट्टी रूपी उपादान की आवश्यकता पड़ती है। उसके बाद घड़ा बनाने वाले चाक तथा कुम्हार आदि निष्पादक अथवा निमित्त कारण भी जरूरी होते हैं। इसके साथ ही घड़े के तत्त्व का ज्ञान भी आवश्यक है। तत्त्व में वे सब बातें आ जाती हैं; जिसके कारण घड़ा 'घड़ा' बनता है। इस तत्त्व का ज्ञान कुम्हार से लेकर घड़ा खरीदने तथा उपयोग में लेने वाले तक सबके लिए आवश्यक है। इन चारों तत्वों के सम्यक् ज्ञान के बिना घड़े का सम्यक विवेचन संभव नहीं है। यही मानदंड अरस्तू काव्यशास्त्र पर भी लागू करते हैं। उन्होंने काव्य को प्रयोजन, उपादान, निमित्त और तत्व-निरूपण के रूप में व्याख्यायित किया है।

काव्यशास्त्र की रचना के मूल में अरस्तू के दो उद्देश्य रहे हैं: पहला अपनी दृष्टि से यूनानी काव्य का वस्तुगत विवेचन-विश्लेषण तथा दूसरा अपने गुरु प्लेटो द्वारा काव्य पर लगाए गए आक्षेपों का समाधान। लेकिन इस प्रसंग मंे अरस्तू ने न तो कहीं प्लेटो का नाम लिया है और न खण्डनात्मक तेवर अपनाया है तथा न ही गुरु के विचारों से अपने विचारों की तुलना करते हुए अपने विचारों को श्रेष्ठ सिद्ध करने की कोशिश की है। इसमें उनकी शालीनता प्रदर्शित होती है।

10.3.3 अरस्तू की काव्य विषयक मान्यताएं

काव्यशास्त्र का आरंभ करते हुए अरस्तू कहते हैं: ''काव्य के सामान्य शीर्षक के अंतर्गत केवल काव्य पर ही नहीं; बल्कि काव्य के विविध भेदों, उनके विशिष्ट प्रयोजनों, कथानक की संरचना, उनके घटक खण्डों की संख्या, प्रकृति या इनसे संबंधित अन्य विषयों पर भी मैं विचार करना चाहता हूँ।'' अरस्तू ने कलाओं के तीन भेदक तत्व माने हैं: माध्यम, विषय और पद्धति। माध्यम के रूप में अरस्तू काव्य के लिए छंदों को अनिवार्य नहीं मानते। कोई रचना गद्य में है या पद्य में, यह प्रश्न काव्यत्व के विचार के प्रसंग में महत्वहीन है। देखना यह है कि काव्य का प्रयोजन क्या है। यदि प्रयोजन आनंद है तो वह काव्य है और यदि प्रयोजन सूचना या ज्ञान मात्र है तो वह अकाव्य है। इसे हम भारत के संस्कृत ग्रंथों के उदाहरण से समझ सकते हैं। संस्कृत में आयुर्वेद, ज्योतिष, धर्मशास्त्र आदि ग्रंथों की रचना पद्य में हुई है, लेकिन वे काव्य नहीं माने जाते और बाणभट्ट, दण्डी आदि की गद्य रचनाएं भी काव्य मानी जाती हैं, क्योंकि उनका उद्देश्य आनंद है, सूचना या ज्ञान नहीं।

अनुकरण का विषय मनुष्य है। अरस्तू की दृष्टि में अनुकरण का विषय कर्मरत मनुष्य (मैन इन एक्शन) है। मनुष्य तीन प्रकार के हो सकते हैं; उच्चतर, निम्नतर या बीच के। इसलिए मनुष्य का चित्रण भी तीन प्रकार का हो सकता है: श्रेष्ठतर, निम्नतर अथवा यथावत। श्रेष्ठतर मनुष्यों का चित्रण टे°जेडी (दुःखात्मक) रचनाओं में होता है और निम्नतर का कॉमेडी (प्रहसन) में। इस प्रकार ट्रेजेडी और कॉमेडी का भेद उनमें चित्रित मनुष्यों के आधार पर होता है।

काव्य का तीसरा भेद अनुकरण की पद्धति का है। पद्धति या तो आख्यानात्मक (नैरेटिव) हो सकती है; जिसमें कवि स्वयं कथानक का वर्णन करता है, या नाटकीय (ड्रामैटिक); जिसमें पात्रों को कार्य निरत दिखाया जाता है। तीसरी इन दोनों की मिश्रित पद्धति होती है। होमर के महाकाव्यों में इसी पद्धति का प्रयोग हुआ है।

इस प्रकार माध्यम, विषय और पद्धति ये तीन कलाओं के भेदक तत्व हैं।

अरस्तू कृत 'पोइटिक्स' में काव्य के स्वरूप, भेद और अंगों के बारे में व्यवस्थित विचार किया गया है। बाद के युगों में इसी की अवधारणाओं के आधार पर पश्चिमी देशों में काव्य तथा नाटक विषयक चिंतन का विकास हुआ। काव्यशास्त्र पर व्यवस्थित रूप से विचार करने वाली यह विश्व की प्रथम पुस्तक है।

'पोइटिक्स' के दो भाग हैं। पहले भाग में नाटक (ट्रैजेडी) तथा महाकाव्य (एपिक) पर विचार हुआ है और दूसरे में सुखांत (कॉमेडी) एवं काव्य के अन्य भेदों पर विचार हुआ है। दूसरा भाग अब उपलब्ध नहीं है। अरस्तू की दूसरी महत्वपूर्ण उपलब्ध पुस्तक 'रैटोरिक' है। यह अलंकार और वक्तृत्व कला पर अरस्तू द्वारा दिए गए भाषणों का संकलन है। इसमें काव्य-कला का विवेचन नहीं है।

बोध प्रश्न -

1. अरस्तू ने कलाओं के कितने भेद माने हैं?
2. वस्तु या रचना को ठीक से समझने के लिए अरस्तू किन चार बातों को आवश्यक समझते हैं?
3. अरस्तू के काव्यशास्त्र की रचना के मूल में कौन से दो प्रमुख उद्देश्य थे?
4. निम्नलिखित वाक्यों में रिक्त स्थानों की पूर्ति करें:

   अरस्तू का जन्म ई0पू0.....में हुआ था।

   अरस्तू की काव्यशास्त्र विषयक पुस्तक का नाम.....है।

   अरस्तू के गुरु.....और शिष्य.....थे।

10.4 अरस्तू के काव्य सिद्धांत

अरस्तू ने काव्य के विषय में बहुत-सी बातें कहीं हैं, परंतु उनके प्रमुख काव्य-सिद्धांत दो हैं: अनुकरण सिद्धांत तथा 2. विरेचन सिद्धांत। इस भाग में हम उन्हीं सिद्धांतों के बारे में पढ़ेंगे।

10.4.1 अनुकरण सिद्धांत

इकाई 2 में हमने देखा कि अरस्तू के गुरु तथा पूर्ववर्ती आचार्य प्लेटो कला और अनुकरण का घनिष्ठ संबंध मानते हैं, किंतु अनुकरण में निहित खतरों-अज्ञान, भ्रांति, असावधानी तथा उससे प्राप्त उत्तेजना के कारण उसे त्याज्य मानते हैं। वे ऐसा इसलिए भी मानते हैं कि उन्होंने कला को विशुद्ध दार्शनिक, राजनीतिक तथा नैतिकता की दृष्टि से देखा। इसके विपरीत अरस्तू ने काव्य को दार्शनिक, राजनीतिक, बौद्धिक शास्त्रों आदि से मुक्त करके प्रत्येक कलाकृति को सौंदर्य की वस्तु माना। उन्होंने प्लेटो द्वारा प्रयुक्त मिसैसिस (अनुकरण) शब्द को स्वीकार तो किया, लेकिन उसे नया अर्थ दिया। अरस्तू कला को प्रकृति की अनुकृति मानते हुए कहता है कि कविता सामान्यतः मानवीय प्रकृति की दो सहज प्रवृत्तियों से उद्भूत हुई जान पड़ती है। इनमें से एक है- अनुकरण की प्रवृति और दूसरी सामंजस्य (हारमनी) तथा लय (रिद्म) की प्रवृत्ति।

पशुओं की तुलना में मनुष्य में अनुकरण की क्षमता अधिक होती है। इसी से वह प्रारंभिक ज्ञान अर्जित करता है; जैसे भाषा सीखना। काव्य की उत्पत्ति इन्हीं दो कारणों से होती है। कला प्रकृति का अनुकरण करती है। उन्होंने अपने ग्रंथ 'पोइटिक्स' में लिखा है: ''प्रत्येक वस्तु पूर्ण विकसित होने पर जो होती है उसे ही हम उसकी प्रकृति कहते हैं। प्रकृति इसी आदर्श रूप की उपलब्धि की ओर निरंतर कार्य करती रहती है, परंतु कतिपय कारणों से वह अपने इस लक्ष्य की प्राप्ति में सफल नहीं हो पाती। कवि या कलाकार उन अवरोधक कारणों को हटाकर प्रकृति की सर्जन क्रिया का अनुकरण करता हुआ प्रकृति के अधूरे कार्य को पूरा करता है। वह वस्तु को ऐसा रूप प्रदान करता है कि उससे उस वस्तु के विश्वव्यापक तथा आदर्श रूप का बोध हो जाए। इस संबंध में एवर क्रोम्बे ने लिखा है कि- ''अरस्तू का तर्क था कि यदि कविता प्रकृति का केवल दर्पण होती तो वह हमें उससे कुछ अधिक नहीं दे सकती थी, जो प्रकृति देती है। परंतु तथ्य यह है कि हम कविता का आस्वादन इसलिए करते हैं कि वह हमें वह प्रदान करती है जो प्रकृति नहीं दे सकती।'' वस्तुतः कवि की कल्पना में वस्तु जगत का जो वस्तु रूप प्रस्तुत होता है, कवि उसी को भाषा में प्रस्तुत करता है। यह पुनः प्रस्तुतीकरण ही अनुकरण है। इसलिए अनुकरण का अर्थ हूबहू नकल नहीं; बल्कि संवेदना, अनुभूति, कल्पना, आदर्श आदि के प्रयोग द्वारा अपूर्ण को पूर्ण बनाना है। कवि सर्जन प्रक्रिया में निरत होकर यही करता है।

अनुकरण की वस्तुएं - अरस्तू के अनुसार कवि तीन प्रकार की वस्तुओं में से किसी एक का अनुकरण कर सकता है,- 1. जैसी वे थीं या हैं, 2. जैसी वे कही या समझी जाती हैं तथा 3. जैसी वे होनी चाहिए। अर्थात् वे प्रकृति के प्रतीयमान, सम्भाव्य एवं आदर्श रूप को मानते हैं। कवि प्रकृति को या तो वैसी चित्रित करता है जैसी वह उसकी इन्द्रियों को प्रतीत होती है या जैसी वह भविष्य में प्रतीत हो सकती है अथवा जैसी वह होनी चाहिए। ऐसे चित्रण में कवि की भावना और कल्पना का योगदान तो होगा ही, इसीलिए वह नकल मात्र नहीं होगा। इस प्रकार अरस्तू के अनुकरण का तात्पर्य भावनामय तथा कल्याणमय अनुकरण है, विशुद्ध प्रतिकृति नहीं। इसी कारण वह अपने गुरु प्लेटो से भिन्न भी है और आगे भी। अरस्तू के मतानुसार कविता इतिहास की अपेक्षा अधिक दार्शनिक एवं उच्चत्तर है, क्योंकि इतिहासकार उसका वर्णन करता है; जो घटित हो चुका है और कवि उसका वर्णन करता है; जो घटित हो सकता है। काव्य और इतिहास संबंधी अरस्तू के विवेचन से भी यही निष्कर्ष निकलता है कि अनुकरण से अरस्तू का अभिप्राय भावपरक अनुकरण से था; न कि यथार्थ वस्तुपरक प्रत्यंकन से।

कार्य से अभिप्राय- कार्य शब्द का प्रयोग अरस्तू ने मानव जीवन के चित्र के अर्थ में किया है। इस शब्द के अंतर्गत वह सब कुछ आएगा; जो मानव जीवन के आंतरिक पक्ष को व्यक्त कर सके एवं बुद्धि सम्मत व्यक्तित्व का उद्घाटन करे। कार्य का अर्थ केवल मनुष्य के कर्म ही नहीं; उसके विचार, भाव तथा चारित्रिक गुण भी हैं; जो उसके कर्म के लिए उत्तरदायी हैं। 'कार्य' शब्द के इस व्यापक अर्थ से भी यही व्यक्त होता है कि अनुकरण शब्द का अर्थ नकल नहीं; बल्कि पुनः प्रस्तुत करना है। अरस्तू काव्य में प्रकृति के अंधानुकरण के विरूद्ध थे, क्योंकि उसमें मनुष्य या प्रकृति का चित्रण सामान्य से अच्छा भी हो सकता है, और सामान्य से बुरा भी। ऐसे चित्रण के लिए कल्पना तत्व आवश्यक है। अतः कलात्मक अनुकरण का अभिप्राय कलात्मक पुनः सृजन है, जिसमें कुछ चीजें घटाई जाती हैं, तो कुछ बढ़ाई भी जा सकती हैं। इसी प्रक्रिया के कारण काव्य आनंद भी देता है।

आनंद संबंधी मत - अरस्तू ने लिखा है कि कई बार जिन वस्तुओं का प्रत्यक्ष दर्शन हमें दुःख देता है, उसके अनुकरण द्वारा प्रस्तुत रूप हमें आनंद प्रदान करता है। डरावने जानवर को देखकर हमें भय एवं दुःख होता है, किंतु उनका अनुकृत रूप हमें आनंद देता है। इसका अर्थ यह हुआ कि जो चीजें वास्तविक जीवन में हमें भय या दुःख देती हैं, काव्य में उन्हीं चीजों का अनुकरण इस प्रकार से प्रस्तुत किया जाता है कि उनसे हमें आनंद मिलने लगता है और भय तथा दुःख का निराकरण हो जाता है। अतः ऐसे अनुकरण को यथार्थ वस्तुपरक अनुकरण नहीं कहा जा सकता, वह भावात्मक एवं कल्पनात्मक अनुकरण है। अरस्तु के इस मत में तथा भारतीय काव्यशास्त्र के रस सिद्धांत में समानता

दिखाई देती है। अरस्तू कहता है कि अनुकरण में आत्म तत्व का प्रकाशन अनिवार्य है, वह मात्र वस्तु का यथार्थ अंकन ही नहीं है। यथार्थ अंकन से वास्तविक आनंद की अनुभूति नहीं हो सकती।

अनुकरण के संबंध में अरस्तू के विविध कथनों को पढ़कर आप समझ गए होंगे कि काव्य में भावनापूर्ण अनुकरण होता है, यथार्थ प्रत्यंकन नहीं। यह अनुकरण सुंदर होता है, आनंद प्रदान करने वाला होता है, आदर्श होता है तथा सहृदय के मन को उसकी वास्तविकता के प्रति आश्वस्त भी करता है। व्यष्टि से संबद्ध होते हुए भी वह समष्टिगत सत्य का प्रतिपादन करता है। यही मान्यताएं अरस्तू को प्लेटो से भिन्न तथा महत्वपूर्ण बना देती हैं। उनके इस मत का समर्थन बूचर, प्रो0 गिलबर्ट, मरे तथा आधुनिक टीकाकार पाद्स ने भी किया है। आप सोच रहे होंगे कि अरस्तू का यह सिद्धांत पूर्णतः निर्दोष है, किंतु ऐसा भी नहीं है।

अनुकरण सिद्धांत की विशेषताएं तथा सीमाएं

अरस्तू ने अनुकरण को नया अर्थ देकर कला का स्वतंत्र अस्तित्व स्थापित किया। सुंदर को शिव से अधिक विस्तृत माना और कला पर प्लेटो द्वारा लगाए गए आरोपों को अनुचित बताया, फिर भी उनका अनुकरण सिद्धांत पूर्णतः रूप से निर्दोष भी नहीं है। विद्वानों द्वारा उन पर उठाई गई आपत्तियाँ इस प्रकार हैं,-

1. वह आत्म तत्त्व तथा कल्पना तत्त्व को स्वीकार करते हुए भी व्यक्ति परक भाव तत्व से अधिक महत्व वस्तु तत्व को देता है; जो अनुचित है, क्योंकि भाव तत्व के बिना कविता कविता न रहकर नीतिपरक अथवा उपदेशपरक प्रलाप बनकर रह जाती है।
2. उसकी परिधि संकुचित है। उसमें कवि की अन्तश्चेतना को यथोचित महत्व नहीं दिया गया है।
3. गीति काव्य; जिसकी मात्रा आज विश्व में सबसे अधिक है; उसे अरस्तू ने महत्व नहीं दिया।

इस पर भी अरस्तू के अनुकरण सिद्धांत का महत्व आज तक बना हुआ है। प्लेटो अनुकरण को आदर्श का अनुकरण मानता था, तो अरस्तू ने उसे कल्पनात्मक पुनर्निमाण के रूप में व्याख्यायित किया।

10.4.2 विरेचन सिद्धांत

आपको बता दें कि अरस्तू ने विरेचन की अलग से कोई व्याख्या अथवा परिभाषा किसी ग्रंथ में नहीं दी है। सिर्फ 'पोइटिक्स' में ट्रेजेडी (त्रासदी) की परिभाषा देते हुए उन्होंने इसका उल्लेख इस प्रकार किया है: ''त्रासदी किसी गंभीर स्वतः पूर्ण तथा निश्चित आयाम से युक्त कार्य की अनुकृति का नाम है, जिसका माध्यम नाटक में भिन्न-भिन्न रूप से प्रयुक्त सभी प्रकार के अलंकारों से भूषित भाषा

होती है, जो समाख्यान रूप न होकर कार्य व्यापार रूप में होती है और जिससे करूणा तथा त्रास के उद्रेक द्वारा इन मनोविकारों का उचित विरेचन किया जाता है।''

स्पष्ट है कि त्रासदी के मूल भाव त्रास और करूणा होते हैं। उन भावों को उद्बुद्ध करके विरेचन पद्धति से मानव-मन का परिष्कार करना त्रासदी का मुख्य उद्देश्य होता है। विरेचन शब्द का दूसरा प्रयोग उनके 'राजनीति' नामक ग्रंथ में मिलता है। वे लिखते हैं: ''संगीत का अध्ययन एक नहीं; वरन् अनेक उद्देश्यों की सिद्धि के लिए होना चाहिए जैसे-

1. शिक्षा के लिए, 2. विरेचन शुद्धि के लिए।

विरेचन राग मानव समाज को निर्दोष आनंद प्रदान करते हैं। विरेचन से अरस्तू का अभिप्राय शुद्धि, परिष्कार और मानसिक स्वास्थ्य से है।

विरेचन का अर्थ - अरस्तू ने विरेचन के लिए 'कैथार्सिस' शब्द का प्रयोग किया है। इसका अनुवाद 'रेचन', 'विरेचन' तथा 'परिष्करण' होते हुए भी 'विरेचन' शब्द ही अधिक प्रचलित है। 'कैथार्सिस' शब्द यूनानी चिकित्सा-पद्धति से आया है तथा 'विरेचन' शब्द भारतीय आयुर्वेदिक शास्त्र का है। इन दोनों का एक ही अर्थ है: रेचक औषधियों द्वारा शरीर के मल अथवा अनावश्यक अस्वास्थ्यकर पदार्थों (फौरिन मैटर) को शरीर से बाहर निकालना। अरस्तू ने वैद्यक शास्त्र के इस शब्द को ग्रहण करके काव्यशास्त्र में उसका लाक्षणिक प्रयोग किया। उसका मत है कि त्रासदी करूणा तथा त्रास के कृत्रिम उद्वेग द्वारा मानव के वास्तविक जीवन की करूणा और त्रास भावनाओं का निस्काषण करती है। यह निस्काषण ही 'विरेचन' या उसका कार्य है। परवर्ती व्याख्याकारों ने लक्षणों के आधार पर विरेचन के तीन अर्थ किए; (1) धर्म परक, (2) नीति परक तथा (3) कला परक।

(1) धार्मिक आधार पर इसके लाक्षणिक प्रयोग का अर्थ था: ''बाह्य उत्तेजना और अंत में उसके शमन द्वारा आत्मिक शुद्धि तथा शांति। धार्मिक साहित्य एक प्रकार से यही कार्य करता है।

(2) विरेचन सिद्धांत के 'नीतिपरक' अर्थ की व्याख्या करते हुए जर्मन विद्वान वारनेज ने लिखा है: ''मानव मन में अनेक मनोविकार वासना रूप में स्थित रहते हैं। इनमें करूणा और त्रास नामक मनोवेग मूलतः दुःखद होते हैं। त्रासदी रंगमंच पर त्रास और करूणा से भरे ऐसे दृश्य प्रस्तुत करती है जिनमें ये मनोवेग अतिरंजित रूप में प्रस्तुत किए जाते हैं। प्रेक्षक उन दृश्यों को देखते समय जब मानसिक रूप से उन परिस्थितियों के बीच से गुजरता है तो उसके मन में भी त्रास और करूणा के भाव उद्वेलित होते हैं तथा उसके बाद उपशमित भी हो जाते हैं। अतः विरेचन का नीतिपरक अर्थ हुआ- मनोविकारों के उत्तेजन के बाद उद्वेग का शमन और उससे उत्पन्न शक्ति, शांति और विशदता। साहित्य तथा अन्य ललित कलाएं यही प्रतिपादित करती हैं।

(3) अरस्तू के विरेचन सिद्धांत के 'कलापरक' अर्थ की व्याख्या गेटे तथा अंग्रेजी के स्वच्छंदतावादी कवि आलोचकों ने भी की थी। सर्वाधिक आग्रह पूर्वक प्रतिपादन करने वाले प्रोफेसर वूचर हैं। वे कहते हैं कि अरस्तू का विरेचन केवल मनोविज्ञान अथवा नियमशास्त्र के एक तथ्य विशेष का वाचक न होकर कला सिद्धांत का अभिव्यंजक है। त्रासदी का कर्तव्य कर्म केवल करूणा या त्रास के लिए अभिव्यक्ति का माध्यम प्रस्तुत करना नहीं है, अपितु उन्हें एक सुनिश्चित कलात्मक परितोष प्रदान करना है। वूचर चिकित्सा शास्त्रीय अर्थ को ही अरस्तू का एकमात्र आशय नहीं मानते। उनके अनुसार विरेचन का कलापरक अर्थ है- पहले मानसिक संतुलन और बाद में कलात्मक परिष्कार। कला के संबंध में भारतीय रस वादियों की धारणा भी लगभग ऐसी ही है।

समीक्षा - विरेचन के संबंध में अरस्तू की व्याख्याएं अपर्याप्त हैं, इसलिए बाद में अन्य व्याख्याकारों द्वारा दी गई व्याख्याएं उन्हें अभिप्रेत थीं अथवा नहीं; इस संबंध में कुछ नहीं कहा जा सकता। अरस्तू ने 'राजनीति' नामक ग्रंथ में विरेचन द्वारा मानसिक शुद्धि की बात कही है; जो धार्मिक तथा नैतिक शुद्धि की ओर भी संकेत करती है। अरस्तू का विरेचन सिद्धांत अपने ढंग से त्रासदी के आस्वाद की समस्या का समाधान करता है। वूचर की व्याख्या के अनुसार त्रास तथा करूणा दोनों ही कटु भाव हैं। ट्रेजेडी में मानसिक विरेचन की प्रक्रिया द्वारा यह कटुता नष्ट हो जाती है और प्रेक्षक मनःशक्ति का उपयोग करता है। मन की यह स्थिति सुखद होती है।

इस प्रकार अरस्तू ने दो प्रमुख काव्य सिद्धांत दिए; पहला अनुकरण सिद्धांत और दूसरा विरेचन सिद्धांत। इनके साथ ही उसने काव्य की उत्पत्ति ट्रेजेडी और महाकाव्य इत्यादि के विषय में भी कहीं-कहीं अपना मत व्यक्त किया है। उन पर भी दृष्टिपात कर लें तो अच्छा है।

काव्य की उत्पत्ति - अरस्तू के अनुसार मनुष्य में अनुकरण की सहज प्रवृत्ति बचपन से ही होती है। उसी की सहायता से वह प्रारंभिक ज्ञान अर्जित करता है। भाषा भी अनुकरण द्वारा ही सीखी जाती है। पशुओं की तुलना में मनुष्य की अनुकरण क्षमता अधिक प्रबल है।

अनुकरण की भाँति ही सामंजस्य और लय (हारमनी तथा रिद्म) भी मनुष्य की सहज प्रवृत्ति है। मानव सभ्यता के आरंभिक काल से ही मनुष्य सामंजस्य और लयात्मक प्रतिभा को विकसित करता रहा। प्रारंभिक काल की अनगढ़ रचनाओं से ही आगे जाकर काव्य की उत्पत्ति हुई। बाद के युगों में कवियों के व्यक्तिगत स्वभाव के अनुसार साहित्य दो दिशाओं में विभक्त हो गया। गंभीर प्रकृति के लेखकों ने मनुष्य के उदात्त कार्य कलापों का अनुकरण कर देव-स्तुतियाँ एवं प्रसिद्ध जनों की प्रशस्तियाँ लिखीं तथा हल्की प्रकृति के लेखकों ने निम्न व्यक्तियों के कार्य कलापों का अनुसरण करके व्यंग्य काव्य लिखे।

ट्रेजेडी (त्रासदी) के तत्व - अरस्तू ने ट्रेजेडी के छः तत्व माने हैं: कथावस्तु, चारित्र्य, पदरचना, विचार तत्व, दृश्य विधान और गीत अरस्तू की दृष्टि वस्तुपरक थी। कथावस्तु को उसने सबसे महत्वपूर्ण तत्व माना है, क्योंकि अन्य सभी तत्व कथावस्तु पर ही आधारित होते हैं। चरित्र के अंतर्गत वे पात्रों के गुणों, उनकी रुचि-अरुचि तथा नैतिक प्रयोजन को अनिवार्य मानते हैं। विचार-तत्त्व के अंतर्गत काव्य-द्वारा उत्पन्न प्रत्येक प्रभाव आता है।

शैली- पदरचना, दृश्य विधान और गीत शैली के अंतर्गत आते हैं। शैली की पूर्णतः इसमें है कि वह निम्न हुए बिना स्पष्ट हो। स्पष्टता प्रचलित या उपयुक्त शब्दों के प्रयोग से आती है और गरिमा असामान्य शब्दों के प्रयोग से। गरिमा का प्रमाण लक्षणा है।

महाकाव्य- अरस्तू ने महाकाव्य के लक्षण नहीं बताए हैं तथा इसका विस्तृत विरेचन भी नहीं किया है। केवल स्थूल विशेषताओं का उल्लेख किया है। इसका कारण यह है कि अरस्तू ट्रेजेडी (दुःखान्तक नाटक) की तुलना में अन्य सभी काव्य-स्वरूपों; यहाँ तक कि महाकाव्य को भी निम्न समझते हैं। उनके द्वारा निर्धारित किए गए महाकाव्य के तत्व इस प्रकार हैं:

1. महाकाव्य आख्यानात्मक होता है।
2. उसके कथानक का निर्माण नाट्य सिद्धांतों के आधार पर ही होता है।
3. अधिकतर पात्र उच्च होते हैं।
4. उसमें एक ही छंद प्रयुक्त होता है।
5. विस्तार निर्बन्ध होता है।
6. अंगों की परस्पर अन्विति सभी प्रकार से समान होती है।

काव्य दोष - अरस्तू ने काव्य-दोषों के पाँच आधार माने हैं;- 1. अकर्मक वर्णन, 2. अभुक्त वर्णन, 3. अनैतिक वर्णन, 4. विरूद्ध वर्णन, 5. शिल्प विधात्मक वर्णन।

अरस्तू के काव्यशास्त्र में प्रयुक्त महत्वपूर्ण लाक्षणिक शब्द - अरस्तू ने कुछ शब्दों का लाक्षणिक एवं व्यंजनात्मक प्रयोग भी किया है; जैसे 'अनुकरण', 'विरेचन' तथा 'प्रकृति'। ये शब्द अरस्तू की काव्य मीमांसा समझने के लिए कुंजी का काम करते हैं। 'अनुकरण' तथा 'विरेचन' की चर्चा पिछले पृष्ठों में हो चुकी है। 'प्रकृति' शब्द का प्रयोग अरस्तू ने अनेक अर्थों में किया है। उनके प्रयोगों में प्रकृति का अर्थ केवल वन, वृक्ष, नदी, पर्वत, पहाड़ आदि ही नहीं है; वरन् भौतिकी के आधार पर प्रकृति के अनेक अर्थ किए जा सकते हैं।

बोध प्रश्न

5. प्रस्तुत वाक्य में रिक्त स्थानों की पूर्ति कीजिए:

अनुकरण का ग्रीक नाम.....है।

इतिहासकार उसका वर्णन करता है; जो.....और कवि उसका वर्णन करता है; जो.....

काव्य में प्रकृति का हूबहू अनुकरण नहीं होता; बल्कि.....होता है।

6. अनुकरण के विषय में पाँच वाक्यों में प्लेटो और अरस्तू के मतों का अंतर बताइए।

10.5 प्लेटो और अरस्तू की तुलनात्मक समीक्षा

हमने देखा कि प्लेटो और अरस्तू दोनों ने काव्य और कलाओं पर गहन चिंतन करके उसके विषय में कुछ सिद्धांत बनाए। दोनों आपस में गुरु-शिष्य तथा एक ही परंपरा के होते हुए भी दोनों की बातों में कई जगह अंतर भी दिखाई देता है। वे समान तथा असमान बिंदु क्या और क्यों हैं; आइए देखते हैं:

10.5.1 तुलना

1. मूलतः प्लेटो दार्शनिक थे और अरस्तू वैज्ञानिक, इसलिए दोनों के दृष्टिकोण में अंतर था। प्लेटो 'प्रत्यय' ज्ञान को ही सत्य मानता था; जबकि अरस्तू वस्तु जगत को भी इतना ही सत्य तथा मीमांस्य समझता था।

2. प्लेटो की दृष्टि आदर्शपरक थी, अरस्तू की यथार्थपरक। अरस्तू ने विज्ञान की भाँति ही कला के उपादानों का भी विश्लेषण किया।

3. प्लेटो मानता था कि सुंदरतम कार्य प्रकृति द्वारा निष्पादित होते हैं, और कला द्वारा निष्पादित कार्य लघुतर होते हैं। अरस्तू ने सिद्ध किया कि जो कार्य प्रकृति द्वारा अनिष्पादित रह जाते हैं, कला उन्हें पूर्ण करती है।

4. प्लेटो राजनीतिक एवं नीतिपरक मूल्यों से प्रभावित होकर कला के विषय में विचार करते हैं; जबकि अरस्तू काव्यशास्त्र की सीमा में ही उस पर विचार करते हैं।

5. प्लेटो ने अनुकरण का संबंध वस्तु से जोड़ा था; अरस्तू ने कार्य व्यापार से जोड़ा।

6. प्लेटो ने कवि को अनुकर्त्ता बताया था, अरस्तू ने कवि को 'कर्त्ता' सिद्ध किया।

7. प्लेटो में मताग्रह तथा येनकेन प्रकारेण अपनी बात को प्रमाणित करने की चातुरी थी, अरस्तू में हठधर्मिता नहीं थी। वे निरपेक्ष भाव से अपनी बात रख देते थे।

10.5.2 महत्त्व एवं प्रासंगिकता

1. अरस्तू की 'पोइटिक्स' रचना पर जितना विचार विमर्श हुआ, उतना पिछले 2300 वर्षों में संसार की किसी साहित्यिक कृति पर नहीं हुआ। यह अपूर्णप्राय अति लघु रचना इतने वर्षों के बाद आज तक जीवित ही नहीं; प्रासंगिक भी बनी हुई है।

2. अरस्तू का 'काव्यशास्त्र' प्राचीन ग्रीक काव्य पर आधारित होते हुए भी सार्वदेशिक एवं सार्वकालिक सौंदर्यशास्त्रीय प्रश्नों को उठाने तथा कुछ सीमा तक उनका समाधान करने में भी सफल हुआ है।

3. दार्शनिक की तत्वदर्शिता और वैज्ञानिक की विश्लेषण प्रक्रिया के योग ने अरस्तू की दृष्टि को निष्पक्ष और वस्तुनिष्ठ रखा है। उनका विषय निरूपण तथ्यानुसंधान की भावना से प्रेरित है।

4. अरस्तू की सबसे बड़ी देन काव्य की स्वायत्तता स्थापित करना है। चौथी-पाँचवी सदी ई0पू0 यूनान की शास्त्रीय गतिविधियों में दर्शन की महत्ता सबसे अधिक थी। उसके बाद क्रमशः इतिहास, राजनीतिशास्त्र तथा आधारशास्त्र आदि थे। काव्य को इनमें कोई महत्व प्राप्त नहीं था। प्लेटो जैसे प्रभावशाली आचार्य की स्थापनाओं के विपरीत काव्य को इतिहास से अधिक दार्शनिक घोषित करना बहुत बड़े साहस का काम था। अरस्तू ने तर्कयुक्त प्रभाव से यह संभव कर दिखाया।

5. प्लेटो ने कवि को अनुकर्ता कहकर उसको महत्वहीन दिखाने की कोशिश की। सत्यान्वेषण की प्रक्रिया में वह बढ़ई को कवि से ऊपर मानता है, लेकिन अरस्तू ने कहा कवि अनुकर्ता नहीं; वरन् कर्त्ता है। ईश्वर की तरह कवि भी काव्य जगत का निर्माणकर्त्ता है। यह दृष्टि भारतीय शास्त्रों की इस दृष्टि के समान है: ''अपारे काव्य संसारे कविरेव प्रजापतिः।''

6. प्लेटो का अनुकरण नकल का पर्याय था; अरस्तू ने अनुकरण को 'आदर्शीकृत प्रतिरूप (आइडियलाइज्ड रिप्रेजेंटेशन) माना और कहा कि कवि जीवन का हूबहू चित्रण (नकल) नहीं करता; बल्कि यथार्थ को रमणीयतर बनाकर प्रस्तुत करता है।

7. आनंद को काव्य और कला का प्रयोजन सिद्ध करके अरस्तू ने उसे नैतिक तथा शैक्षिक घेरे से बाहर निकाला। प्लेटो काव्य को समाज सुधार का साधन मानता था; वहीं अरस्तू आनंद प्राप्ति का माध्यम।

8. आज की रूपवादी (फॉर्मेलिस्टिक) आलोचना के यूरोपीय उद्भावक अरस्तू ही हैं। उन्होंने काव्य के विषय के साथ उसकी अभिव्यक्ति के माध्यम तथा पद्धति पर भी विचार किया और कथानक की संरचना से लेकर काव्य के भाषिक पक्ष तक को अपने विवेचन में समाहित किया।

9. अरस्तू के सूत्रों को पकड़कर बीसवीं शताब्दी ई0 में अमेरिका में दो आलोचना संप्रदाय विकसित हुए, जान क्रो रेन्सम आदि की अमेरिकी नव्य आलोचना (न्यू क्रिटिसिज़्म) तथा दूसरी के0जे0एस0क्रेन के नेतृत्व वाली शिकागो स्कूल की आलोचना।

10. अरस्तू की अभिव्यंजना सामान्यतः स्पष्ट, प्रांजल और अर्थ गर्भित है।

11. अरस्तू ने अपनी समीक्षा के आरंभ में सर्वांगीण विवेचन की बात की है, लेकिन उन्होंने केवल दुःखान्तक (ट्रेजेडी) की चर्चा की है। प्रगीत की चर्चा बिल्कुल भी नहीं की। महाकाव्य की चर्चा भी सिर्फ दुःखान्तक की श्रेष्ठता सिद्ध करने प्रसंग में ही की है।

12. अरस्तू के काव्यशास्त्र में काव्य भाषा पर विचार नहीं के बराबर हुआ है। जितना हुआ भी है, उसके आधार पर काव्यालोचन पूर्ण नहीं हो सकता।

बोध प्रश्न

7. निम्नलिखित कथन सत्य हैं या असत्य?

अरस्तू ने विरेचन की परिभाषा अपने किसी ग्रन्थ में नहीं दी। (सत्य/असत्य)

विरेचन या कैथार्सिस शब्द भौतिकशास्त्र से लिया गया है। (सत्य/असत्य)

अरस्तू ने प्रकृति (नेचर) शब्द का प्रयोग एक ही अर्थ में किया है। (सत्य/असत्य)

अरस्तू के अनुसार कवि अनुकर्ता नहीं, कर्त्ता है। (सत्य/असत्य)

8. विरेचन पद्धति से मानव-मन का परिष्कार किस तरह होता है?

.....

.....

.....

.....

.....

.....

10.6 सारांश

इस इकाई को पढ़ने के बाद आप जान चुके होंगे कि -

- o अरस्तू कौन था और उसने क्या कार्य किए .
- o अरस्तू के काव्य सिद्धांत क्या थे .
- o प्लेटो और अरस्तू के सिद्धांतों में क्या अंतर है .
- o पाश्चात्य आलोचना में अरस्तू का महत्त्व एवं उनके विचारों की प्रासंगिकता क्या है .

10.7 शब्दावली

उद्वेग चित्त की व्याकुलता

उपादान	वह साधन; जिससे कोई सामग्री बने
प्रयोजन	उद्देश्य
निष्पादक	व्यवस्थित और नियमबद्ध रूप से किसी कार्य को पूरा करने वाला
अतिरंजित	बढ़ा-चढ़ा कर कहा गया
प्रेक्षक	दर्शक
निष्काषण	बाहर निकालना
उद्बुद्ध	जागृत

10.8 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर

बोध प्रश्नों के उत्तर

1. तीन

2. प्रयोजन, उपादान, निमित्त तथा तत्त्व।

3. अपनी दृष्टि से यूनानी काव्य का वस्तु विवेचन और प्लेटो द्वारा काव्य पर लगाए गए आरोपों का समाधान

4. 384 ई0पू0
   पेरिपोइएतिकेस (पोइटिक्स)
   (क) प्लेटो
   (ख) सिकंदर

5. मिमैसिस
   (क) जो घटित हो चुका है। (ख) घटित हो सकता है।
   उसका पुनर्प्रस्तुतिकरण

7. सत्य
   असत्य
   असत्य
   सत्य

10.9 उपयोगी पाठ्य सामग्री

1. सौंदर्यशास्त्र की पाश्चात्य परंपरा; नीलकांत; देशभूमि प्रकाशन, इलाहाबाद।

2. पाश्चात्य काव्यशास्त्र; विजयपाल सिंह; जयभारती प्रकाशन, इलाहाबाद।

3. साहित्यशास्त्र; रामशरण गुप्ता एवं राजकुमार शर्मा; कॉलेज बुक डिपो, जयपुर।

4. पश्चिमी आलोचना शास्त्र; लक्ष्मी सागर वार्ष्णेय; हिंदी समिति, उत्तर प्रदेश, लखनऊ।

10.10 निबंधात्मक प्रश्न

1. महान विचारक अरस्तू का सम्पूर्ण जीवन वृत्तांत अपने शब्दों ने लिखिए तथ साहित्य के सन्दर्भ में उनका महत्त्व एवं उनकी प्रासंगिकता को स्पष्ट कीजिए .
2. अरस्तू के अनुकरण एवं विरेचन सिद्धांतों को सविस्तार स्पष्ट कीजिए तथा प्लेटो एवं अरस्तू की निष्पक्ष तुलना कीजिए

इकाई 11 मैथ्यू आर्नल्डः परिचय एवं सिद्धान्त

इकाई की रूपरेखा

11.1 प्रस्तावना
11.2 उद्देश्य
11.3 पृष्ठभूमि
11.4 युगीन परिस्थितियाँ
11.5 मैथ्यू आर्नल्ड: जीवन परिचय और महत्वपूर्ण कृतियाँ
11.6 मैथ्यू आर्नल्ड के सिद्धान्त की अन्तर्वस्तु
11.6.1 कविता और जीवन
11.6.1 कविता और समाज
11.7 मैथ्यू आर्नल्ड का महत्व और प्रासंगिकता
11.8 सारांश
11.9 शब्दावली
11.10 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर
11.11 उपयोगी पाठ्य सामग्री
11.12 निबंधात्मक प्रश्न

11.1 प्रस्तावना

इस इकाई को पढ़ने से पूर्व आपने भारतीय एवं पाश्चात्य काव्यशास्त्र के विकास क्रम का अध्ययन किया है . साथ ही साथ आप ने प्राचीन भारतीय एवं पाश्चात्य काव्य शास्त्रीय विचारकों एवं काव्य सिद्धांतों का बी अध्ययन किया है . प्रस्तुत इकाई में आप सुप्रिसिद्ध काव्यालोचक मैथ्यू आर्नल्ड के व्यक्तित्व एवं कृतित्व का अध्ययन करेंगे पाश्चात्य काव्यशास्त्र में मैथ्यू आर्नल्ड को महान् आधुनिक आलोचक कहा गया है। आधुनिक अंग्रेजी आलोचना का प्रारम्भ मैथ्यू आर्नल्ड से ही माना जाता है। आप पर यूनानी साहित्य-चिन्तन, गेटे के साथ-साथ मिल्टन और फ्रेंच लेखक सेण्ट ब्यूव का प्रभाव भी दिखाई पड़ता है। यूनानी साहित्य में जहाँ संस्कृति, धर्म और दर्शन, शौर्य और वीरता के साथ-साथ उच्च चरित्रों तथा जीवन के उदात्त स्वरूप को महत्ता मिली है वहीं सेण्ट ब्यूव का मानना था कि किसी भी कलाकृति के बिना उस कलाकार के सम्बन्ध में पूरी जानकारी का विवेचन संभव नहीं। गेटे कलात्मक

रचना का मूल उस अनुभूति को मानते हैं। इस प्रकार विभिन्न परम्पराओं और समकालीन विचारधाराओं के प्रभाव स्वरूप धार्मिक एवं सांस्कृतिक मान्यताओं, सौन्दर्य-सम्बन्धी धारणाओं और नैतिक दृष्टिकोण की समग्रता ही आर्नल्ड के समीक्षा-सम्बन्धी धारणा के निर्माण में सहयोगी रही।

11.2 उद्देश्य

इस इकाई का अध्ययन करने के बाद आपः

1. पाश्चात्य काव्यशास्त्र के महान आधुनिक आलोचक मैथ्यू आर्नल्ड के जीवन तथा उनकी रचनाओं को प्रभावित करने वाली परिस्थितियों को जान सकेंगे।
2. आधुनिक साहित्य के विकास में मैथ्यू आर्नल्ड के महत्व की सही परख कर सकेंगे।
3. मैथ्यू आर्नल्ड की विषय-वस्तु तथा वैचारिक पृष्ठभूमि को समझ सकेंगे।
4. मैथ्यू आर्नल्ड के युग में परिवर्तित रचना-विधान का प्रमाणिक परीक्षण करते हुए उसकी रचना शक्ति एवं सीमाओं का मूल्यांकन कर सकेंगे।

11.3 पृष्ठभूमि

साहित्य और समाज दोनों का अन्योन्याश्रित सम्बन्ध है। एक सभ्य समाज की महत्ता समझने के लिए तद्युगीन साहित्य को समझना अत्यंत आवश्यक है। इसी के साथ-साथ मानव मूल्यों और अपेक्षाओं का व तद्जनित सिद्धान्त का सुव्यवस्थित विवेचन भी आवश्यक है। मैथ्यू आर्नल्ड को समझने से पहले यह समझना जरूरी है कि उनसे पूर्व कौन-कौन से विचारक और विचारधाराएँ आयीं तथा वे किन-किन से प्रभावित हुए। पाश्चात्य साहित्य-सिद्धान्त-चर्चा के क्रम में मूलतः आत्मवादी(सब्जेक्टिव) या प्रत्ययवादी (आइडियलिस्ट) नजरिये और वस्तुवादी(ऑब्जेक्टिव) या अनुभववादी(एम्पिरिकल) नज़रिये के रूप में हमें दो विरोधी प्रतीत होने वाली दृष्टियाँ मिलती हैं। पाश्चात्य काव्य शास्त्र के विकास का अध्ययन करते हुए एक रोचक तथ्य सामने आता है। वह है, काल के क्रम में एक के बाद एक क्रमशः आत्मवादी विचारधारा और वस्तुवादी विचारधारा का प्राधान्य। यह सही है कि ये प्रवृत्तियाँ सदा स्पष्ट तथा सुनिश्चित नहीं रही हैं किन्तु इनका प्रभाव किसी न किसी रूप में हमेशा दिखाई देता रहा है और आमतौर पर इनका स्परूप काफी स्पष्ट रहा है।

प्लेटो की दृष्टि जहाँ प्रत्यवादी है और वे विश्व की सकल वस्तु को विश्व की विराट चेतना के रूप में देखते हैं अर्थात् उनका मानना है कि संसार में हमें जो कुछ भी दृष्टिगत होता है, वह उस अदृश्य प्रत्यय का मूर्त अनुकरण मात्र है जबकि अरस्तू (प्लेटो के शिष्य) का मत प्लेटो से अधिक वैज्ञानिक और

व्यवस्थित रूप लिये हुए है। मूल रूप से जीवन दृष्टि का अन्तर लिये अरस्तू का दर्शन अनुभववादी तथा मूर्त है। वे प्लेटो के विपरीत कविता को बाह्य अनुकरण न मानकर मानव की आन्तरिक क्रियाओं, भावनाओं तथा चरित्र का अनुकरण मानते हैं।

अरस्तू के बाद होरेस (सबसे पहले रोमन कवि) की कृति आर्क पोएटिका आई, जिसमें साहित्य के मानकों का उल्लेख मिलता है। होरेस कवि में नैसर्गिक प्रतिभा, दैवीय प्रेरणा की आवश्यकता, काव्य में शास्त्र तथा शिल्प के महत्व पर बल देने के साथ उसकी वस्तु परकता पर भी बल देते थे। होरेस ने काव्यालोचन के क्षेत्र में भाषा सम्बन्धी सिद्धान्त दिया जो साहित्य को उनकी महत्वपूर्ण देन है। इस प्रकार अरस्तू तथा होरेस के सिद्धान्त की चर्चा निरन्तर होती रही, जिसे फ्रांस में कॉनील, रासीन, बुअलो आदि ने अपनाया। आपने मुख्य रूप से नाट्य लेखन के नियमों का प्रतिपादन किया।

इसके पश्चात् लौंजाइनस ने उदात्त तत्व का सिद्धान्त दिया। यूनानी कवि अरस्तू की प्रसिद्ध रचना 'पेरि पोइएतिकेस' के बाद 'पेरिइप्सुस' का दूसरा स्थान है। जहाँ लौंजाइनस से पूर्व कवि का मुख्य कर्म पाठक और श्रोता को आनन्द प्रदान करना, शिक्षा देना और बात मनवाना था, वहीं लौंजाइनस इस बात से असंतुष्ट थे। वे ये महसूस करते थे कि काव्य में इससे भी अधिक कुछ होता है। उनका मानना था कि काव्य के लिए भावोत्कर्ष ही मूल तत्व है तथा काव्य साहित्य का मूल उद्देश्य चरमोल्लास प्रदान करना है, तर्क द्वारा बाध्य करना नहीं। लौजाइनस ने स्वच्छन्दतावाद और अभिव्यंजनावाद दोनों के तत्व विद्यमान थे।

लौंजाइनस के स्वच्छन्दतावादी आन्दोलन को वर्ड्सवर्थ और कॉलरिज ने गति दी। कॉलरिज अंग्रेजी कविता की स्वच्छन्दतावादी धारा के प्रमुख कवि थे। कविता में रहस्यात्मक विषय-वस्तु, अतीन्द्रिय वातावरण और छन्दोबद्ध लय के करण अंग्रेजी साहित्य में उनका विशेष योगदान है।

इसके इतर अंग्रेजी साहित्य में शास्त्रीय जड़बद्धता के विरूद्ध सुगबुगाहट विलियम वर्ड्सवर्थ के स्वर में भी सुनाई पड़ती है। दोनों कविता की विषय-वस्तु, शैली तथा विचारधारा में स्पष्ट अंतर था परन्तु दोनों कवियों ने ही जड़, गंभीर रीतिबद्ध शास्त्रीयता से पृथक होकर एक नये पहलू का संधान किया, जिसमें लौकिक, आदर्श और शास्त्र की अपेक्षा कवि ने अपने विचार और अनूभूति को सर्वोच्च माना है। आपने 'कविता को भावनाओं का सहज उच्छलन' कहा है। आपकी कविता का उद्देश्य कृत्रिम भाषा-शैली का बहिष्कार करना था तो वहीं कॉलरिज मैलिकता और गाम्भीर्य' की दृष्टि से महत्वपूर्ण हैं।

आर्नल्ड पर यूनानी साहित्य चिन्तन और गेटे का प्रभाव देखा जाता है। इतना ही नहीं वें मिल्टन और फ्रेंच लेखक सेण्ट ब्यूव से भी प्रभावित हुए। आपने साहित्य को 'जीवन की आलोचना' कहा है। आर्नल्ड लोक-कल्याण को अत्यधिक महत्व देते थे और साहित्य का आदर्श और तथा कसौटी भी

लोक मंगल और संस्कृति के विकास को मानते थे। उनका मानना था कि काव्य का उद्देश्य आनन्द न होकर मानव जीवन की पूर्णता का ज्ञान कराना, मानव का आत्मविश्वास और समाज का उत्थान होना चाहिए। आर्नल्ड जहाँ आधुनिक अंग्रेजी समालोचक के रूप में जाने जाते हैं वहीं आप तद्युगीन औद्योगिक विकास और सांस्कृतिक पतन की स्थिति पर अपनी गहन चिन्ता व्यक्त करते दिखाई देते हैं। आपने अपने वर्तमान से असंतुष्ट होकर काव्य को आधुनिकता के नाम पर पुनजीर्वित करने का प्रयास किया, जिसका माध्यम आपने संस्कृति को बनाया तथा कविता और जीवन एवं कविता और समाज के माध्यम से काव्य जगत को जो सिद्धान्त दिया उसे जीवन की आलोचना के नाम से जाना जाता है।

11.4 युगीन परिस्थितियाँ-

माना जाता है कि कवि हो या कलाकार वह अपने देशकाल और परिस्थितियों से प्रभावित ही नहीं होता अपितु उससे नियंत्रित और निर्देशित भी होता है। महान् आधुनिक आलोचक के रूप में विख्यात आर्नल्ड भी इससे अछूते नहीं रहे। औद्योगिक क्रांति की जो लहर इंग्लैण्ड में उठी उसने एक ओर विज्ञान को अकल्पनीय महत्व प्रदान किया; दूसरी ओर धर्म तथा काव्य पर आघात किया। धर्म को लोग अंधविश्वास समझने लगे और विज्ञान से जीवन-पद्धति में ऐसा परिवर्तन आने लगा जिससे भावुकता कुंठित होने लगी। परिणामतः काव्य के प्रति आकर्षण कम होने लगा। चारों ओर कोलाहल जैसा सुनाई पड़ने लगा कि काव्य का युग समाप्त हो गया; अब तो विज्ञान का युग है। टॉमस ने काव्य की निष्प्रयोजनता प्रमाणित करने के लिए एक पुस्तक ही लिख डाली जिसमें उन्होंने कहा कि ज्ञान और तर्क के युग में काव्य केवल बर्बरता का अवशेष है। इसके उत्तर में प्रसिद्ध रोमांटिक कवि शैली को 'दि डिफेंस ऑफ पोइट्री' नामक प्रसिद्ध निबंध लिखना पड़ा। उन्नीसवीं शताब्दी के आरम्भ से ही इंग्लैण्ड में काव्य और विज्ञान के आपेक्षिक महत्व का विवाद चल पड़ा था और दोनों ने अपने-अपने पक्ष की स्थापना के लिए युक्तियाँ प्रस्तुत करनी प्रारंभ कर दी थीं। विज्ञान का आक्रमण केवल काव्य पर ही नहीं हुआ, धर्म पर भी हुआ और संस्कृति के मूलोच्छेद का उपक्रम किया गया। जो लोग काव्य, धर्म एवं संस्कृति के स्थापित मूल्यों के पक्षधर थे उन्होंने विज्ञान के प्रत्याख्यान का बीड़ा उठाया। आर्नल्ड इस श्रेणी के विचारकों में अन्यतम हैं। आर्नल्ड ने धर्म के स्थानापन्न के रूप में संस्कृति को प्रस्तावित करते हुए उसमें कविता की महत्ता को स्थापित किया। आपकी दृष्टि में काव्य संस्कृति का अन्यतम साधन है।

इस प्रकार उन्नीसवीं सदी के अन्त में विलुप्त हुई आभिजाव्यवादी धारा का फिर से उत्थान हुआ जिसके संवाहक का काम मैथ्यू आर्नल्ड ने किया। आपने समकालीन परिवेश के लिए नैतिक दृष्टि से पतनोन्मुख और अराजक समाज के सुधार के लिए संस्कृति और विशेषकर कविता को आवश्यक माना। आपको महसूस हुआ कि अगर समाज से नैतिक-सामाजिक अराजकता को दूर करना है तो आदर्शवादी नियमों एवं जीवन तथा साहित्य दोनों के मूल्यों को व्यवस्थित करना होगा क्योंकि मूल्यों से अनुप्राणित कविता ही सत्य और सौंदर्य के लिए प्रतिबद्ध होती है। इसीलिए आर्नल्ड ने 'कविता जीवन की आलोचना है' माना तथा आलोचक कर्म को गंभीरता से अपनाते हुए एक सच्चे समालोचक का दायित्व संभाला। एक साहित्यकार और समालोचक को युग-चेतना से जोड़कर अभिजात्यवाद को भी नये सिरे से आपने प्रस्तुत किया।

11.5 मैथ्यू आर्नल्डः जीवन परिचय और महत्वपूर्ण कृतियाँ

महान् आधुनिक आलोचक के रूप में प्रख्यात कवि, निबंधकार मैथ्यू आर्नल्ड का जन्म इग्लैण्ड के शहर ''लैलेहम'' में 24 दिसम्बर सन् 1822 में तथा मृत्यु सन् 1888 लिवरपूल में हुई। मैथ्यू आर्नल्ड रग्बी स्कूल के हैडमास्टर तथा विख्यात इतिहासविद् डॉ.टॉमस आर्नल्ड के ज्येष्ठ पुत्र थे। इनकी शिक्षा-दीक्षा लैलेहम, एबी तथा वैलियम कॉलेज (ऑक्सफोर्ड) में सम्पन्न हुई।

सन् 1844 में स्नातक उपाधि प्राप्त करने के बाद आपने कुछ समय रग्बी में पढ़ाया तथा इसके बाद लैंसडाउन के मार्क्विस के निजी सचिव भी रहे। विशेष पुरस्कार से सम्मानित आप सन् 1845 में 'फेलो' भी चुने गए। इतना ही नहीं निरन्तर कार्यरत रहते हुए आपने कुछ समय तक लॉर्ड लैन्सडाउन के प्राइवेट सेक्रेटरी का कार्य भार भी संभाला। सन् 1857 में आपकी नियुक्ति ऑक्सफोर्ड विश्वविद्यालय में 'प्रोफेसर ऑफ पोएट्री' के सम्मानित पद के लिए हुई, जहाँ आप न केवल दस वर्ष तक कार्यरत रहे वरन् 1883 तक आप 'इंस्पेक्टर' ऑफ स्कूल' भी रहे। मैथ्यू आर्नल्ड के साहित्यिक जीवन का आरंभ काव्य-रचना से हुआ। सन् 1849 में आपका पहला काव्य-संग्रह प्रकाश में आया। इससे पूर्व सन् 1840 और सन् 1843 में अपनी काव्य-कृतियों के लिए आपको पुरस्कार भी मिले। सन् 1853 में प्रकाशित कविता-संग्रह 'पोयम्स बाई मैथ्यू आर्नल्ड' में संकलित 'द डोबर बीच', 'द स्कॉलर जिप्सी' और 'सोहराब एंड रूस्तम' जैसी प्रसिद्ध कविताएँ एक सीमा तक आर्नल्ड के अपने काव्य-सिद्धान्तों का मानक रूप प्रस्तुत करती हैं। कविताओं के अतिरिक्त मैथ्यू आर्नल्ड ने गद्य-लेखन भी किया। सन् 1865 में आपके आलोचनात्मक निबन्धों का संग्रह 'एसेज़ इन क्रिटिसिज्म' प्रकाश में आया। इसी के साथ इनकी कुछ महत्वपूर्ण आलोचनात्मक रचनाएँ और भी हैं जैसे-'कल्चर एंड अनार्की' (1869),

'लिट्रेचर एंड ड्रामा' (1873), एसेज ऑन चर्च एंड स्टेट' (1877), एसेज इन क्रिटिसिज्म' सीरीज प् एंड सीरीज (1888, मरणोपरांत प्रकाशित) आदि। मैथ्यू आर्नल्ड सन् 1883 में सेवा निवृत्त हुए और अप्रैल सन् 1888 में अंग्रेजी आलोचना की शुरूआत करने वाले इस महान् आलोचक का निधन हो गया। पाश्चात्य साहित्य में आलोचना को महत्वपूर्ण स्थान प्रदान करने वाले शिष्ट, सुसंस्कृत, व्यवहारिक, मृदुभाषी विद्वान मैथ्यू आर्नल्ड साहित्य के आलोचना जगत में महत्वपूर्ण रहेंगे तथा आलोचक वर्ग के लिए सदैव प्रेरणा-स्रोत रहेंगे।

11.6 मैथ्यू आर्नल्ड के सिद्धान्त की अन्तर्वस्तु-

मैथ्यू आर्नल्ड 19 वीं शताब्दी के एक महान् आलाचेक माने जाते है। इतना ही नहीं आधुनिक अंग्रेजी आलोचना का शुभारम्भ करने का श्रेय भी मैथ्यू आर्नल्ड को ही जाता है। आप कविता को 'जीवन की आलोचना' कहकर एक विशिष्ट युग बोध को प्रस्तुत करते हैं। मैथ्यू आर्नल्ड की काव्य दृष्टि जितनी समसामायिक परिस्थितियों से प्रभावित है उतनी ही उस युग के कवियों तथा पूर्व के कवियों की अंतर्दृष्टि से भी प्रेरित है। मैथ्यू आर्नल्ड की धारणा थी कि महान् काव्य के लिए उसकी विषय-वस्तु उदात्त और शैली भव्य होना चाहिए। यूँ तो आप अरस्तू की भाँति ही कला और काव्य की कसौटी प्रकृति के अनुकरण या चित्रण से प्राप्त आनन्द को ही मानते हैं लेकिन इन अवधारणाओं को उन्होंने अपने विचारों एवं सिद्धान्तों के आधार पर व्याख्यायित किया। कला जन्य ज्ञान को ही आनन्द का मूल आधार मानते हुए आपने उक्त विचारों को और अधिक विकसित रूप में प्रस्तुत किया है। वे लिखते हैं- 'हम किसी भी यथार्थ चित्रण के रोचक होने की आशा कर सकते हैं परन्तु यदि वह काव्यात्मक हो तो इससे भी अधिक की माँग की जा सकती है; परन्तु वह मनोरंजन हो इतना ही पर्याप्त नहीं, उससे यह भी अपेक्षा की जाएगी की वह पाठक को स्फूर्ति और आनन्द दे. . . उसमें मोहकता हो और वह मन को आह्लाद से भर दे।' इस प्रकार मैथ्यू आर्नल्ड के 'जीवन की आलोचना' सिद्धान्त को मुख्य दो बिन्दुओं के अन्तर्गत देखा जा सकता है।

1. कविता और जीवन
2. कविता और समाज

11.6.1 कविता और जीवन

मैथ्यू आर्नल्ड ने कविता का लक्ष्य जीवन की आलोचना माना। वह काव्यगत आलोचना को समान्य आलोचना से भिन्न रूप में देखते थे तथा मानते थे कि उनकी रचना काव्य-सत्य और काव्य-सौन्दर्य के नियमों से प्रेरित है। सत्य और सौन्दर्य के नियमों के प्रति यही प्रतिबद्धता कविता को वाचिक

अभिव्यक्ति के अन्य रूपों से (गद्य से भी) भिन्न करती है, वरना हमारे समग्र साहित्य का- वह गद्य में हो या पद्य में चरम लक्ष्य जीवन की आलोचना है। काव्य-सत्य से मैथ्यू आर्नल्ड का तात्पर्य विषय-वस्तु की मूल्यवत्ता से है, और सौन्दर्य से उनका अभिप्रायः अभिव्यंजनागत चारुता और लालित्य से है। मैथ्यू आर्नल्ड ने माना कि साहित्यिक प्रतिभा का भव्य कार्य संश्लेषण और अभिव्यक्ति का है विश्लेषण और अन्वेषण का नहीं। उसका प्रदेय बौद्धिक और आध्यात्मिक वातावरण या विचार-क्रम से (जो उसमें प्राप्त होता हो) स्फूर्ति और प्रेरणा ग्रहण करने में देखा जा सकता है, जिसकी परिणति उनसे दिव्य और सुन्दर रूप में होती है। आलोचक मैथ्यू आर्नल्ड कविता से आलोचना का काम लेकर वस्तुतः उसमें विचार पक्ष और उपदेशात्मक वृत्ति पर बल देना चाहते थे। मैथ्यू आर्नल्ड के विचार तंत्र में जीवन नैतिक विचारों का पर्याय है। नैतिक विचारों के विरुद्ध विद्रोह करने वाली कविता वस्तुतः जीवन-द्रोही होती है और नैतिक विचारों के प्रति उदासीन कविता जीवन के प्रति उदासीन होती है। वैचारिक नैतिकता के प्रति इस गहन सरोकार के कारण ही मैथ्यू आर्नल्ड को उपदेशक कहा गया। उनकी आलोचना का आधार बौद्धिकता और विवेक रहा।

मैथ्यू आर्नल्ड जिस युग में रहे वह कहीं न कहीं औद्योगिक क्रांति से प्रभावित रहा। ऐसे में भला युग का साहित्यकार वर्ग कैसे शान्त बैठ सकता है? कैसे वह नैतिकता से दूर रहकर लोकमंगल में सहायक हो सकता है? उनका मानना था कि हम जिस युग में जीवनयापन कर रहे हैं वह किस प्रकार औद्योगिक विकास होने पर भी नैतिक समृद्धि से विमुख होता जा रहा है। अतः वह लोकमंगल के प्रति नैतिक और सामाजिक उत्साह को एक आलोचक के लिए अनिवार्य आवश्यकता मानते थे अर्थात् मैथ्यू आर्नल्ड का मानना था कि उत्तम कविता वह है जैसा हम उसे चाहते हैं। उसमें केवल साधारण मनोरंजन नहीं, वरन् रुप-सर्जना, स्थायित्व और हमें आनन्द प्रदान करने की शक्ति भी होनी चाहिए।

11.6.2 कविता और समाज

मैथ्यू आर्नल्ड 'कविता क्या है?' की अपेक्षा 'कविता क्या करती है?' पर अधिक चिंतन करते थे। शायद इसीलिए कुछ लोगों ने उन्हें 'पैंफ्लेटियर' तथा आलोचक की अपेक्षा 'आलोचना का प्रचारक' (इलियट ने) तक कह डाला। व्यापक अर्थ में देखा जाए तो आपकी कविता का मूल उद्देश्य 'संस्कृति का उन्नयन' था। संस्कृति का अर्थ है- मनोगत वस्तुओं की उद्देश्यमुक्त जिज्ञासा अर्थात् ऐसी जिज्ञासा जो स्वयं साध्य हो, किसी अन्य प्रयोजन का साधन नहीं। आलोचना और संस्कृति को अभिन्न अंग मानने वाले मैथ्यू आर्नल्ड आलोचना को निष्पक्षता या निस्संगता का पर्याय मानते है। संस्कृति और आलोचना दोनों का लक्ष्य पूर्णता साध्य जिज्ञासा या धर्म निस्संगता है। फलतः मैथ्यू आर्नल्ड साहित्य के आलोचक का कार्य संस्कृति के उस भाग का उन्नयन करना मानता है जो साहित्य पर आश्रित रहते

हुए समाज को उन्नत करता है, व दृष्टि प्रदान करता है। मैथ्यू आर्नल्ड की आलोचना का प्रमुख उद्देश्य मध्यवर्ग का रूचि परिष्कार करना है। उन्होंने तद्युगीन समाज के अभिजात वर्ग की बर्बरता और निष्प्रभाव को तो देखा है, साथ ही निम्न वर्ग की स्थिति को भी देखा, परखा है। ऐसी स्थिति में आशा की किरण उन्हें मध्यवर्ग में ही परिलक्षित हुई है लेकिन वह भी जब तद्युगीन औद्योगिक क्रांति से लब्ध आर्थिक सम्पन्नता में विषय सशक्त और भोगलीन हो गया तो उन्होंने सोचा कि यदि काव्य और उसके साथ संस्कृति को बचाना है तो मध्यवर्ग को सुधारना होगा, उसकी रुचि को परिमार्जित और परिष्कृत करना होगा। देखा जाए तो मैथ्यू आर्नल्ड ने आलोचना पर जनता(समाज) को इस प्रकार व्याख्यायित किया कि आलोचक प्रचारक के रूप में सामने आया तथा उसका कर्त्तव्य ऐसे वातावरण का निर्माण करना हो गया जो कलाकार या कवि को उत्तेजित कर सके, जनता को सर्वोत्तम लेखन के लिए प्रेरित सके। मैथ्यू की यह आलोचना समाज-सुधार के लिए एक आशा की किरण बन गई।

11.7 मैथ्यू आर्नल्ड का महत्व और प्रासंगिकता

मैथ्यू आर्नल्ड 19वीं शताब्दी के महान् समीक्षक के रूप विख्यात थे। हम मैथ्यू आर्नल्ड का अंग्रेजी साहित्य में वही स्थान मानते हैं जो हिन्दी साहित्य मे आचार्य रामचन्द्र शुक्ल का है। आप दोनों ने ही मानव जीवन की गहराइयों में उतरकर साहित्य-समीक्षा और समाज को परस्पर प्रगाढ़ रूप में आबद्ध करने वाले सिद्धान्तों को प्रस्तुत किया। शिक्षा और साहित्य दोनों ही क्षेत्रों में असाधारण माने जाने वाले मैथ्यू आर्नल्ड ने साहित्य और उनकी समस्याओं को समाज से आबद्ध किया और 'साहित्य को जीवन की आलोचना कहा'। आपकी विचार धारा लोककल्याण की आदर्श भावना की इतनी प्रबल समर्थक थी कि आपने साहित्य का प्रयोजन आनन्द प्रदान करना नहीं वरन् मानव का आत्म विकास और सामाजिक उत्थान माना। मैथ्यू आर्नल्ड ने साहित्यालोचन में साम्प्रदायिकता और संकीर्णता को जहाँ काव्य और समाज के लिए दुर्गुण माना वहीं ऐतिहासिक तथा साहित्यिक गुणों की स्थापना को आवश्यक माना। आप भौतिकता और यंत्र पूजा के कट्टर विरोधी थे तथा व्यवहारगत क्रूरता तथा कुरूपता के निवारण के लिये साहित्य और संस्कृति में मानवमूल्यों की पुनः स्थापना चाहते थे। इतना ही नहीं आप साहित्य को समाज के धरातल पर धर्म के समकक्ष देखना चाहते थे। जीवन को एक पहेली के रूप में देखने वाले मैथ्यू आर्नल्ड में शुक्ल जी की भाँति महान् प्रतिभा और व्यक्तित्व की विराटता परिलक्षित होती है। आपके साहित्यिक और सामाजिक महत्व को देखा जाये तो आपने जीवन से जुड़े हर पहलू (सामाजिक, शैक्षणिक, धार्मिक) पर दृष्टिपात करते हुए साहित्य पर विचार किया। समग्र जीवन पर दृष्टिपात करते हुए जीवन के वास्तिवक लक्ष्य को समझकर उसे साहित्य से

जोड़ने का प्रयास किया। वर्तमान परिप्रेक्ष्य में उनकी प्रासंगिकता पर विचार करने पर यह तथ्य उभरकर आता है कि मैथ्यू आर्नल्ड की आलोचना केवल काव्य तक ही सीमित नहीं है, उसकी सीमा का विस्तार संस्कृति, धर्म, शिक्षा आदि तक है। शायद इसीलिए उनके सिद्धान्त को जीवन की आलोचना माना जाता है, जिसका सीधा सा अभिप्राय है जीवन के किसी भी पक्ष की उपेक्षा न करना। वैसे तो मैथ्यू आर्नल्ड द्वारा आलोचना का सिद्धान्त परक कोई ग्रन्थ नहीं लिखा गया और न ही उन्होने कॉलरिज एवं अरस्तू के समान कोई मौलिक उद्भावना दी लेकिन आलोचना की स्वायत्तता स्थापित करने और उसे व्यवस्थित करने का श्रेय उन्हें ही जाएगा। मैथ्यू आर्नल्ड ने न केवल व्याख्यात्मक और सैद्धान्तिक आलोचना पद्धति की विकास किया वरन् आालोचक के कर्त्तव्य और आलोचक के प्रतिमानों को भी निर्धारित किया। अरस्तू ने जहाँ आलोचक को कला के परिप्रेक्ष्य में निरूपित किया वहीं आर्नल्ड ने आलोचक को जनता के सामाजिक परिप्रेक्ष्य में प्रस्तुत किया। उनकी प्रासंगिकता इस बात से और स्पष्ट हो जाती है कि आर्नल्ड का महत्व एक कवि और समीक्षक के रूप में ही नहीं अपितु एक ऐसे समाजशास्त्री एवं संस्कृतिक चिन्तक के रूप में भी है जिन्होंने कविता, समाज और संस्कृति को एक दूसरे से विच्छिन्न होने से बचाया और तीनों के बीच घनिष्ठ सम्बन्ध स्थापित करके अपने युग को एक नई दृष्टि और दिशा प्रदान की। इसीलिए वे वर्तमान में तो क्या भविष्य में भी प्रासंगिक बने रहेंगे।

बोध प्रश्न

1. दो-तीन पंक्तियों में उत्तर दीजिए:

मैथ्यू आर्नल्ड अन्य विचारकों से अलग क्यों माने जाते है?

.....

.....

.....

मैथ्यू आर्नल्ड की कविता का क्या उद्देश्य था?

.....

.....

.....

मैथ्यू आर्नल्ड ने कविता को जीवन की आलोचना क्यों कहा है?

.....

.....

.....

.....

2. नीचे दिए गए कथनों में से कुछ सहीं है कुछ गलत। उपर्युक्त चिन्ह लगाकर स्पष्ट कीजिए।

आधुनिक अंग्रेजी आलोचना का प्रारम्भ मैथ्यू आर्नल्ड से ही होता है। ( )

मैथ्यू आर्नल्ड 1845 में फैलो चुने गये। ( )

मैथ्यू आर्नल्ड की मृत्यु 1889 में हुई। ( )

जीवन की आलोचना का सिद्धान्त मैथ्यू आर्नल्ड की देन है। ( )

'ऐसेज इन क्रिटिसिज्म' मैथ्यू आर्नल्ड के आलोचनात्मक निबन्धों का संग्रह है ( )

3. केवल पाँच-छः पंक्तियों में उत्तर दीजिएः

मैथ्यू आर्नल्ड के समय की युगीन परिस्थितियाँ क्या थीं?

.....

.....

.....

.....

.....

.....

आर्नल्ड के सिद्धान्त के अर्थ-विस्तार तथा उसकी व्यापकता पर प्रकाश डालिए।

.....

.....

.....

.....

.....

4. रिक्त स्थानों की पूर्ति कीजिएः

मैथ्यू आर्नल्ड का जन्म..... तथा मृत्यु ..... में हुई।

''पोयम्स बाई मैथ्यू आर्नल्ड '' कविता संग्रह..... में प्रकाशित हुआ।

मैथ्यू आर्नल्ड के आलोचक जीवन का आरंभ .....के लगभग ऑक्सफोर्ड में हुआ।

मैथ्यू आर्नल्ड यूनानी साहित्य-चिन्तन और लेखक .....के मत से प्रभावित थे।

11.8 सारांश

पूर्व वर्णित पूरे विवेचन के बाद यह स्पष्ट हो जाता है कि मैथ्यू आर्नल्ड ने पाश्चात्य-काव्यशास्त्र को एक विशेष दृष्टि दी है। पाश्चात्य साहित्य के विकास में मैथ्यू आर्नल्ड के योगदान को देखा जाय तो हिन्दी साहित्य में जो कार्य रामचन्द्र शुक्ल ने किया वही आर्नल्ड ने भी किया। आपने 'जीवन की आलोचना' का सिद्धान्त देकर एक ऐसे साहित्यकार, समाजशास्त्री, सांस्कृतिक चितंक, आलोचक की छवि प्रस्तुत की जिसने तद्युगीन परिस्थितियों को ही विच्छिन्न होने से ही नहीं बचाया वरन् समाज को एक नवदृष्टि और दिशा प्रदान की। अन्ततः कहा जा सकता है कि आलोचना और साहित्य के क्षेत्र में तद्युगीन समाज और वर्तमान परिवेश में जिस अंग्रेजी आलोचक की आवश्यकता थी वह मैथ्यू आर्नल्ड ही है।

11.9 शब्दावली

1. उद्भावना- प्रस्तुति, उत्पत्ति।
2. परिप्रेक्ष्य- संदर्भ में।
3. विच्छिन्न- अलग होते हुए।
4. व्यंजनागत चारुता- अभिव्यक्तिगत सौंदर्य
5. संश्लेषण- जुड़ाव
6. प्रदेय- देन
7. निस्संगता- तटस्थता

11.10 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर

बोध प्रश्न के उत्तर -1

उत्तर-1. आधुनिक अंग्रेजी आलोचना का शुभारम्भ करने के कारण मैथ्यू आर्नल्ड को अन्य विचारकों से अलग माने जाते है।

उत्तर-2. मैथ्यू आर्नल्ड की कविता का मूल उद्देश्य 'संस्कृति का उन्नयन' था। एक ऐसा उन्नयन जो साहित्य पर आश्रित होकर समाज को उन्नत करे।

उत्तर -3. मैथ्यू आर्नल्ड कविता से आलोचना का काम लेकर वस्तुतः उसमें विचार पक्ष और उपदेशात्मक वृत्ति पर बल देते हुए कविता को जीवन की आलोचना कहते हैं।

बोध प्रश्न 2 . √

√

×

√

√

बोध प्रश्न 4 . सन् 1822 , सन् 1888

सन् 1853,

सन् 1857

गेटे

11.11 उपयोगी पुस्तकें-

1. पाश्चात्य काव्यशास्त्र- डॉ. विजयपाल सिंह, प्र.स. 1999 , जय भारती प्रकाशन, इलाहाबाद।
2. पाश्चात्य काव्यशास्त्र- देवेन्द्र नाथ शर्मा, प्र.स.1984, नेशनल पब्लिंशिग हाउस, नयी दिल्ली।
3. पाश्चात्य साहित्य चिंतन- निर्मला जैन/कुसुम बाँठिया, सं.2000, राधाकृष्ण, प्रकाशन दिल्ली।

11.12 निबंधात्मक प्रश्न

1. मैथ्यू आर्नल्ड के सम्पूर्ण व्यक्तित्व एवं कृतित्त्व का विस्तार से परिचय दीजिए तथा उनके प्रमुख साहित्य सिद्धांतों का संक्षिप्त उल्लेख कीजिए .
2. मैथ्यू आर्नल्ड के साहित्य सिद्धान्तों का समीक्षात्मक विवेचन करते हुए उनका महत्त्व स्पष्ट कीजिए .

इकाई 12 आई0ए0 रिचर्ड्स परिचय एवं सिद्धान्त

इकाई की रूपरेखा

12.1 प्रस्तावना
12.2 उद्देश्य
12.3 युगीन परिस्थितियाँ साहित्यिक परिवेश
12.4 आई0ए0 रिचर्ड्स: जीवन परिचय और महत्वपूर्ण कृतियाँ
12.5 आई0ए0 रिचर्ड्स के सिद्धान्त की अन्तर्वस्तु
12.5.1 मूल्य सिद्धान्त
12.5.2 सम्प्रेषण का सिद्धान्त
12.5.3 व्यावहारिक समीक्षा सम्बन्धी सिद्धान्त
12.6 आई0ए0 रिचर्ड्स का महत्व और प्रासंगिकता
12.7 सारांश
12.8 शब्दावली
12.9 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर
12.10 उपयोगी पाठ्य सामग्री
12.11 निबंधात्मक प्रश्न

12.1 प्रस्तावना

इस इकाई के अध्ययन के पूर्व आपने पाश्चात्य काव्य शास्त्र के उद्भव एवं विकास का क्रमबद्ध ऐतिहासिक अध्ययन किया। प्रस्तुत इकाई के अध्ययन द्वारा आप अपने समय के महान साहित्यालोचक एवं साहित्यशास्त्री आई0ए0 रिचर्ड्स के व्यक्तित्व, कृतित्व एवं उनके महत्वपूर्ण साहित्यिक सिद्धान्तों का अध्ययन विस्तारपूर्वक करेंगे। इस इकाई के अध्ययन के बाद आप आई0ए0 रिचर्ड्स के महत्व तथा प्राचीन एवं समकालीन साहित्य के संदर्भ में उनकी महत्ता एवं प्रासांगिकता का ज्ञान प्राप्त कर सकेंगे।

12.2 उद्देश्य

इस इकाई का अध्ययन करने के पश्चात् -

1. आप जान सकेंगे कि रिचर्ड्स ने कौन सा सिद्धान्त प्रतिपादित किया और उनके समय की परिस्थितियाँ क्या थीं ?
2. रिचर्ड्स की विषयवस्तु तथा वैचारिक पृष्ठभूमि को समझ सकेंगे।
3. रिचर्ड्स के जीवन और कृतियों से परिचित हो सकेंगे।
4. रिचर्ड्स के ऐतिहासिक महत्व और प्रासंगिकता को जान सकेंगे।

12.3 युगीन परिस्थितियाँ साहित्यिक परिवेश

इलियट से प्रारम्भ होकर आई0ए0 रिचर्ड्स, जॉन क्रो रैनसम, क्लीन्थ ब्रुक्स, विलियम एम्पसन, एफ0आर0लीविस, एलेन टेटे, आर0पी0ब्लैकमर, केनेथ वर्क, डब्ल्यू0के0विमसाट आदि आलोचकों की रचनाओं में नयी समीक्षा परवान चढ़ी। बीस वर्ष तक नयी समीक्षा का विकास इस हद तक हुआ कि सन् 1940 के आसपास द कीनियन रिव्यू और द सिवानी रिव्यू जैसी आलोचनात्मक पत्रिकाओं पर इस समीक्षा-दृष्टि का पूर्ण प्रभुत्व हो गया। कुल मिलाकर नयी समीक्षा के उदय और विकास का काल दो विश्वयुद्धों के बीच का काल है।

रिचर्ड्स का युग विज्ञान और भौतिकवादी जीवन-दृष्टि के चरम प्रकर्ष का समय था। ऐसे वातावरण में कविता की उपयोगिता और सार्थकता के विषय में उनकी चिंता स्वाभाविक थी। ऐसे में बहुत सी बातों के आलावा रिचर्ड्स ने दो समस्याओं पर मुख्य रूप से विचार किया। इनमें से एक थी काव्य के मनोवैज्ञानिक प्रभाव की मूल्यपरकता और दूसरी काव्य-भाषा की प्रकृति की पहचान। इन प्रश्नों पर विचार करते समय उन्होंने मनोविज्ञान और वैज्ञानिक पद्धति का सहारा लिया।

आधुनिक जीवन में कविता के सन्दर्भ पर प्रकाश डालते हुए रिचर्ड्स ने सम्पूर्ण और स्वस्थ मानव-जीवन में काव्य के महत्व और मूल्य पर भी विचार किया है। आई0ए0 रिचर्ड्स ने कविता की सार्थकता पर विचार करते हुए टॉमस लव पीकॉक का स्मरण करना जरूरी समझा। पीकॉक ने वैज्ञानिक और दार्शनिक दृष्टि द्वारा यथार्थ के तर्कपूर्ण और क्रमबद्ध विवेचन को तरजीह देते हुए सवाल उठाया था कि 'क्या कवि इस सभ्य समाज में अर्ध-बर्बर नहीं प्रतीत होता?' उन्हें कवि बीते हुए जमाने का प्राणी नज़र आया। काव्य की उपयोगिता उन्हें नागरिक समाज की आदिम अवस्था में ही परिलक्षित हुई। जो लोग अच्छे काम कर सकते हैं, उन्हें 'लक्ष्यहीन बौद्धिक व्यायाम' करते देखकर उन्होंनें खेद प्रकट किया। इस पर विचार करते हुए रिचर्ड्स ने पीकॉक के मत को प्रस्तुत कर उसके विरोध में तर्क देने की आवश्यकता समझी। इससे यही सिद्ध होता है कि विज्ञान के समकक्ष काव्य की उपयोगिता की पड़ताल करना रिचर्ड्स को जरूरी लगा।

ऐसा नहीं है कि रिचर्ड्स से पूर्व किसी विचारक ने यह दबाव महसूस नहीं किया। अगर रिचर्ड्स से पहले मैथ्यू आर्नल्ड की बात करें तो उन्होंने भी इस दबाव को महसूस करते हुए काव्य की उपयोगिता को मूल्यों से संबद्ध करके सिद्ध किया था लेकिन रिचर्ड्स उनसे महत्वपूर्ण इस रूप में सामने आते हैं कि उन्होंने काव्य की मूल्यवत्ता और उपयोगिता का केवल गुणानुवाद नहीं किया और न ही उसके पक्ष में भावोद्गारों की अभिव्यक्ति की जिसका प्रमाण उनकी रचनाएँ और वे सिद्धान्त है जिन्होंने पाश्चात्य साहित्य में योगदान दिया।

12.4 आई0ए0 रिचर्ड्स: जीवन परिचय और महत्वपूर्ण कृतियाँ

नयी समीक्षा के प्रसिद्ध सिद्धान्तकार आइवर आर्मस्ट्राँग रिचर्ड्स का जन्म 26 फरवरी 1893 में इंग्लैण्ड के चेशायर में तथा मृत्यु 7 सितम्बर, 1979 को हुई। उनका नाम पाश्चात्य साहित्य जगत में नयी समीक्षा के अग्रगणनीय आलोचकों में से एक के रूप में लिया जाता है। टी0एस0.इलियट के समकालीन रिचर्ड्स की ख्याति एक व्याख्याकार और सिद्धान्त-निर्माता के रूप में अधिक रही है। अगाध ज्ञान के स्वामी रिचर्ड्स साहित्य के अतिरिक्त अर्थशास्त्र, मनोविज्ञान, मानव विज्ञान, सौन्दर्य शास्त्र आदि विषयों में समान रूप से पैठ रखते थे। अपनी इसी बहुज्ञता और असाधारण क्षमता का परिचय उन्होंने अपने सिद्धान्त-निरूपण में दिया है।

इनकी शिक्षा क्लिफ्टन और कैम्ब्रिज में हुई थी। इन्हें केम्ब्रिज और पेकिंग(चीन) के विश्वविद्यालयों में नियुक्ति मिली थी। कुछ समय कार्य करने के उपरान्त सन् 1944 से सन् 1963 तक आप हार्वर्ड विश्वविद्यलय में अंग्रेजी के प्रोफेसर रहे। इनके अध्यापन में कैम्ब्रिज विश्वविद्यालय के अध्यापन का प्रभाव पड़ा। इनके अध्यापन में मनोविज्ञान एवं अर्थविज्ञान का विशेष योगदान था।

रिचर्ड्स का रचना काल पूरी आधी शताब्दी तक फैला है। सी0के0ऑडन और जेम्स वुड के साथ सहयोगी लेखन के रूप में उनकी पहली आलोचनात्मक कृति 'द फाउंडेशन ऑफ एस्थेथिटक्स' सन् 1922 में प्रकाशित हुई तथा मृत्यु से पाँच वर्ष पहले उनकी अंतिम रचना 'बियोंड' सन् 1974 में।

आपकी सर्वाधिक चर्चित कृतियों में 'प्रिंसिपल ऑफ लिटरेरी किटिसिज्म' (1924) 'कॉलरिज ऑन इमेजिनेशन' (1934) है। लगभग अर्द्ध शताब्दी तक लेखन में सक्रिय इनकी लगभग बारह आलोचनात्मक कृतियाँ और एक काव्य संकलन प्रकाश में आया। इसके अतिरिक्त 'मेन्सियस ऑफ द माइन्ड', (1931), 'एक्सपेरिमेंट्स इन मल्टिपिल डेफिनीशन'(1932), 'बेसिक रूल्ज ऑफ रीजन'(1933), 'द फिलॉसफी ऑफ रेटरिक'(1936), 'इंटरप्रिटेशन इन टीचिंग'(1938), 'द

स्पेक्युलेटिव इंस्ट्रूमेन्टस'(1955), 'पोएट्रीज: देयर मीडिया एंड ऐड्स'(1973), 'हाउ टु रीड ए पेज'(1942) इत्यादि इनकी चर्चित कृति रही हैं।

बोध प्रश्न-1

टिप्पणी- (1) अपने उत्तर के लिए नीचे दिए गए स्थान का प्रयोग कीजिए।

(1) दो-तीन पंक्तियों में उत्तर दीजिए।

प्रश्न-1. रिचर्ड्स की पहचान अन्य समीक्षकों से भिन्न कैसे थी?

.....

.....

.....

.....

12.5 आई0ए0 रिचर्ड्स के सिद्धान्त की अन्तर्वस्तु

रिचर्ड्स ने मनोविज्ञान के संदर्भ में कविता और कला की सार्थकता स्वीकार की। ब्रेडले के 'कला, कला के लिए' के सिद्धान्त के विरोध में इन्होंने मूल्य-सिद्धान्त की स्थापना की। इनका मानना था कि साहित्यालोचना का सिद्धान्त 'मूल्य और सम्प्रेषणीयता' पर आधारित होना चाहिए।

12.5.1 मूल्य सिद्धान्त

रिचर्ड्स की काव्य सम्बन्धी मान्यताएँ मनोवैज्ञानिक धरातल से उद्भूत हैं। आज के ह्रान्सोन्मुख जीवन-मूल्यों के युग में काव्य-कला मूल्य-उद्बोधन के निकष पर परखी जानी चाहिए। उनके अनुसार जो कविता पाठक के मानस को जितना प्रभावित करने में सक्षम हो, उतनी ही उत्कृष्ट होगी।

रिचर्ड्स के अनुसार मानव-मन में संवेगों का आरोह-अवरोह बना रहता है। काव्य और अन्य कलाएँ इन आवेगों से सुसंगति व सन्तुलन बनाये रखने का प्रयत्न करती हैं। एक सभ्य सुशिक्षित समाज कविता के माध्यम से अपने मानस का सन्तुलन बनाये रखने में समर्थ होता है। मानव मन के आवेगों की दो कोटियाँ निर्धारित हैं-1. काम्य(वांछनीय) और 2. अकाम्य (अवांछनीय)। ये दोनों ही आवेग मानव-मन में सन्तुलित रूप में विद्यमान रहते हैं। काम्य आवेग मानव मन में स्थिरता, सन्तुलन और व्यवस्था बनाये रखते हैं और बिना किसी को हानि पहुँचाए विकासोन्मुख रहते हैं। मन की सर्वोत्तम अवस्था ही वही है जहाँ समस्त मानसिक व्यापार परस्पर ताल-मेल बैठाते हुए मन के तनाव व विघटन को समाप्त कर देते हैं। कविता या अन्य कलात्मक विधाएँ मनुष्य के विशिष्ट, सीमित अनुभव को व्यवस्थित रूप में विकसित करने में सहायक सिद्ध होती है। कविताएँ मानव-मन की संवेदनाओं और अनुभूतियों को

व्यापक फलक प्रदान करती हैं और उनमें संवेदनात्मक एकता प्रदान करती हैं। रिचर्ड्स के मतानुसार काव्य और कला का प्रमुख गुण सन्तुलन और समन्वय करना ही है। दूसरे शब्दों में कहें तो कविता मानव मनोवेगों को सन्तुलित करती है। दार्शनिक 'सन्तायन' की मानें तो कला में अभिव्यक्त सौन्दर्य भी यही कार्य करता है जिससे उद्वेलित मन शान्त हो जाता है।

सन्तुलन की प्रक्रिया को रिचर्ड्स ने सिनेस्थीसिस नाम दिया है और यह भी माना कि काव्य द्वारा सम्पन्न 'सिनेस्थीसिस' की प्रक्रिया पाठक को ताज़गी प्रदान करती है। रिचर्ड्स के इस सिद्वान्त को 'सिनेस्थीसिस', सामंजस्य या सन्तुलन का सिद्धान्त या मूल्य-बोध का सिद्धान्त कह सकते हैं। मानव मन अनेक काम्य-अकाम्य मनोवगों का भण्डार है। जीवन में यह द्वन्द्व एक सामान्य अवस्था है। यह सर्वाधिक महत्वपूर्ण तथ्य है कि सभी आवेगों के स्वतंत्र निष्पन्न होते हुए भी इनमें अद्भुत संतुलन बना रहे। कविता और कला इस संदर्भ में सर्वाधिक मूल्यवान मानव क्रियाएँ हैं क्योंकि ये ही मानव मनोवेगों में अपना सर्वाधिक प्रभाव ड़ालती हैं और संतुलन तथा व्यवस्था बनाये रखने में समर्थ होती हैं। किसी भी काव्य-कृति की उत्कृष्टता व निकृष्टता भी मानव-मन को प्रभावित करने की क्षमता पर ही निर्भर है। सामान्य जीवन की अनुभूति और काव्य की अनुभूति में केवल मात्रा का अंतर है। काव्यानुभूति अधिक जटिल और वैविध्य पूर्ण है इसलिए मनोवेगों के क्रमशः उद्दीपन, प्रकटन और संवर्धन से गुणात्मक भिन्नता नहीं आती।

रिचर्ड्स का स्पष्ट मानना था कि सौन्दर्य शास्त्रीय प्रसंग में मूल्य की सर्वथा उपेक्षा करना उचित नहीं है। कला-सम्बन्धी अनुभव कई अर्थो में मूल्यवान होते हैं। सभी प्रकार के अनुभव कला-मूल्यों से सायुज्य हैं। किसी भी कृति में उपस्थित सौन्दर्य का अनुभव-मूल्य के साथ जुड़ा रहता है। कला हमारे सम्बन्धित मूल्यों का ही कोष है। कला के द्वारा ही हम यह जान पाते हैं कि कौन से अनुभव अधिक मूल्यवान हैं। असाधारण पुरुषों के जीवन-क्षणों में उद्भूत अनुभव मानव में उत्पन्न उलझन और किंकर्त्तव्यविमूढ़ता के स्थान पर एक स्वच्छ व स्पष्ट दृष्टि देते हैं। अनुभव के मूल्यों के संदर्भ में प्राप्त हमारे निर्णयों का कला लेखा-जोखा रखती है।

रिचर्ड्स काव्य में 'मूल्य और नैतिकता' को समान महत्व प्रदान करते हैं। उनकी दृष्टि में नैतिकता का सम्बन्ध न स्वीकार करने वाले विचार अविवेकी, फूहड़ और व्यर्थ हैं। रिचर्ड्स का यह भी मानना था कि मनुष्य के अन्तःकरण का विकास अव्यवस्था से व्यवस्था की ओर होता है। जबकि हम उनके तरीकों के बारे में नहीं जानते। नैतिकता को उन्होंने गतिशील मूल्य के रूप में स्वीकारा। परम्परा और नवीनता, संस्कार और आवश्यकता, अतीत और वर्तमान ये सब मिलकर नैतिक मानदण्डों की स्थापना करते हैं। अजय तिवारी ने अपनी मार्क्सवादी धारणा के अनुरुप रिचर्ड्स के मूल्य सम्बन्धी सिद्धान्तों

को इस रूप में स्वीकृति दी है, ''शाश्वत सत्य और चिंरतन नैतिकता वाले आर्थिक ढाँचे को तोड़कर आधुनिक पूँजीवादी समाज की गतिशील प्रक्रिया के अनुरूप साहित्य और नैतिकता के पुर्नगठन की आवश्यकता रिचर्ड्स के सिद्धान्तों की मूल प्रेरणा है। जहाँ तक वह मध्यकालीन सनातन ढाँचों के विरुद्ध है, वहाँ तक उसकी भूमिका सकारात्मक है। जहाँ वह आधुनिक समाज के प्रति आलोचनात्मक रूख अपनाने के बदले संतुलन लाने का प्रयास करता है, वहाँ वह पूंजीवादी हितों का अनुमोदन करता है। विरोधी वृत्तियों का संतुलन कला में सौन्दर्य मूल्य है; कला और जीवन के अनुभव में अंतर नहीं है, कला में जो मूल्य है, समाज में वही नैतिकता है; विरोधी हितों में संतुलन नैतिक मूल्य है।

रिचर्ड्स के मूल्य सिद्धान्त की गहन आलोचना भी हुई है। एलेंसियों वाइवास ने तर्क किया कि रिचर्ड्स ने अपने सिद्धान्त को किसी भी प्रकार के उदाहरणों को देकर स्पष्ट नहीं किया है कि कोई भी रचना कितने और किन मनोवेगों का सामंजस्य करती है। फलतः यह सिद्धान्त बेहद अमूर्त है। रिचर्ड्स का सिद्धान्त अच्छी और बुरी कविता का अंतर बताता है। रिचर्ड्स के सिद्धान्त में दुरूहता होते हुए भी कविता में नैतिकता और श्रेष्ठता का समावेश है।

12.5.2 सम्प्रेषण का सिद्धान्त

आई0ए0 रिचर्ड्स का द्वितीय आलोचना सिद्धान्त सम्प्रेषण-सिद्धान्त के नाम से जाना जाता है। मानव एक सामाजिक प्राणी है। वह बचपन से ही अनुभवों का आदान-प्रदान सम्प्रेषण के माध्यम से करता है। सम्प्रेषण के माध्यम से ही मनुष्य समाज का भौतिक विकास सम्भव हुआ है। रिचर्ड्स के अनुसार मनुष्य सम्प्रेषण क्रिया का सर्वाधिक उपयोग कला के माध्यम से ही कर पाता है। यद्यपि कलाकार को प्रत्यक्ष रूप से इसकी जानकारी नहीं रहती। कलाकार अपनी कृति की रचना में जितना तन्मय होता है उतनी ही उसकी सम्प्रेषण क्षमता बढ़ जाती है। कवि अपनी सम्प्रेषण क्षमता के माध्यम से ही पाठकों में संवेदना को जगाता है। रिचर्ड्स के अनुसार कविता सर्वाधिक सम्प्रेषणीय माध्यम है।

रिचर्ड्स के अनुसार सम्प्रेषण तभी सम्भव है जबकि अनुभूति-प्रदाता और अनुभूति ग्रहण कर्ता की मानसिक अवस्था समान हो। इस प्रकार से यह एक जटिल प्रक्रिया भी है लेकिन कवि की परीक्षा भी इसमें निहित है। उनके अनुसार सम्प्रेषण तब होता है जब किन्हीं परिस्थितियों को कोई मन इस तरह लिया करता है कि दूसरा मन प्रभावित हो जाए और जब उस दूसरे मन में पहले वाले मन जैसा अनुभव घटित हो और वह उस अनुभव से कुछ हद तक अनुप्राणित हो। दोनों अनुभव थोड़ी बहुत मात्रा में समान हो सकते हैं और दूसरा अनुभव पहले पर कमोबेश निर्भर हो सकता है।' किसी भी कृतिकार की क्षमता की कसौटी भी यही है कि वह अपनी अनुभूतियों को पूरा का पूरा या उसके अंश को पाठकों तक उसी रूप में पहुँचा सके। एक अच्छे सम्प्रेषण के लिए आवश्यक है कि कवि की अनुभूति व्यापक

और विस्तृत हो, उसमें वस्तु-आकलन की भरपूर क्षमता हो तथा सामाजिक अनुभवों से तारतम्य स्थापित होने की क्षमता हो। रिचर्ड्स के अनुसार 'कलाकृति जितनी सुसंगत होती है, वह कलाकार की अनुभूति से मेल खाती है, उतना ही पाठक के लिए सम्प्रेष्य होती है यानि उसमें अपने जैसा भाव जगा पाती है। कविता में यदि लय, छन्द और स्वर-समायोजन उचित हो तो सम्प्रेषण क्षमता बढ़ जाती है। कविता का आनन्द पाठक या श्रोता तभी ले सकता है जबकि वह कवि के विशिष्ट अनुभवों को हृदयंगम कर पा रहा हो। रिचर्ड्स के अनुसार सम्प्रेषण के माध्यम से ही समाज में ज्ञान और संस्कृति का विकास होता है और मानव संवेदनाएँ परिष्कृत-परमार्जित होती हुई अपने व्यापक और उदात्त रूप में प्रकट होती हैं।

12.5.3 व्यावहारिक समीक्षा सम्बन्धी सिद्धान्त

रिचर्ड्स ने अपने एक ग्रंथ 'प्रेक्टिकल क्रिटिसिज्म' में अपने आलोचना के निष्कर्ष स्वरूप विचारों को रखा है। इस ग्रंथ में उन्होंने अपने विचारों का आधार भारतीय काव्य-साहित्य को भी दृष्टि-पटल पर रखकर किया है। रिचर्ड्स का उद्देश्य यहाँ शिक्षा पद्धति के नूतन मार्ग को दृष्टि देना और साहित्य और संस्कृति की समकालीन स्थिति को उजागर करना भी रहा है।

व्यवहारिक समीक्षा हेतु उन्होंने 'काव्य' का चयन किया है। उनकी दृष्टि में गणित, विज्ञान, व्यापार, कानून, उद्योग आदि विषय सभी व्यक्तियों की रुचि के अनुरूप नहीं होते। इसी प्रकार धर्म, दर्शन, आध्यात्म, नीति, अचार, सौन्दर्य शास्त्र के प्रति अनेक व्यक्ति आकर्षित तो होते हैं किंतु उनके शास्त्रीय स्वरूप के प्रति उनका कोई रुझान नहीं होता। केवल काव्य ही ऐसा है जो व्यापक जन समुदाय को आकर्षित करता है।

व्यावहारिक समीक्षा के प्रयोग के द्वारा रिचर्ड्स ने समीक्षा के क्षेत्र में अनेक कठिनाइयों का उल्लेख किया है। 1. रिचर्ड्स ने पाया कि अधिकांश व्यक्ति वास्तविक अर्थ ग्रहण करने में असमर्थ रहते हैं। वे कविता का अर्थ और वास्तविक तात्पर्य नहीं समझ पाते। 2. अधिकांश पाठकों में ऐन्द्रिय बोध की न्यूनता रहती है जिस कारण वे कविता के ध्वन्यात्मक प्रभाव को ग्रहण करने में असमर्थ होते हुए काव्यानन्द व उसके वास्तविक प्रभाव से वंचित रह जाते हैं। यही नहीं बिम्ब-ग्रहण करने की क्षमता का अभाव होने के कारण वे पंक्तियों का वास्तविक रसास्वादन नहीं कर पाते। 3. समीक्षा के क्षेत्र में एक जटिलता यह भी है कि कभी-कभी आलोचक कवि की भाव दशा से अपनी भाव दशा का तादात्म्यीकरण कर लेता है। ऐसी अवस्था में यह वस्तुनिष्ठ नहीं रह पाता। 4. अतिशय भावुकता भी समीक्षा के क्षेत्र में कठिनाई उत्पन्न करती है।

काव्याभिव्यक्ति के चार प्रमुख चरण हैं- अर्थ, भावानुभूति, ध्वनि और उद्देश्य। एक समीक्षक को इन सभी तत्वों का सम्यक् ज्ञान आपेक्षित है। काव्य एक पूर्ण अभिव्यक्ति है अतः इसमें शब्द, अर्थ, भाव, कल्पना, बुद्धि तत्व- सभी का सामंजस्यपूर्ण संतुलन रहता है। अन्य विषय जैसे वैज्ञानिक उक्तियों में अर्थ और बुद्धितत्व का प्राधान्य है। दार्शनिक उक्तियों में अर्थ, बुद्धि और कल्पना तत्व का समावेश है, वहीं काव्योक्ति उक्त सभी पाँचों तत्वों का सम्यक् समन्वय कर सजीव और प्रभावपूर्ण अभिव्यक्ति दर्ज कराती है। काव्य में शब्दों का नीरस उपयोग नहीं वरन् एक अद्भुत आकर्षण है। ध्वन्यात्मकता, अलंकृत प्रयोग और छन्दोबद्धता से काव्य में प्रयुक्त शब्द केवल उपकरण मात्र न रहकर एक प्रभावशाली व सशक्त माध्यम बन जाता है। इसी प्रकार अर्थ तत्व, कल्पना और अनुभूति के उद्बोधन में सहायक बनता है। कारण यह है कि काव्य में व्यंग्यार्थ अभीप्सित है। यहाँ सामान्य अर्थ कोई मायने नहीं रखता। कल्पना और भाव तत्व काव्य की एक अन्य बड़ी विशेषता है। भावों के उद्बोधन हेतु कृति का अलंकारिक होना स्वाभाविक है, जो कवि-कल्पना से प्रेरित होता है। काव्य केवल कोरा तर्क नहीं है अतः प्रसंग परम्परा और प्रयोग के आधार पर हम काव्य का मूल्यांकन करते है और अलंकरित उक्तियों को कल्पना-चमत्कार व भाव बोधन का उत्स मानते हैं। कल्पना शक्ति के माध्यम से अलंकारिक अभिव्यक्ति के द्वारा कवि सूक्ष्म से सूक्ष्म अनुभूतियों को प्रकट कर सकता है। अन्ततः हम कह सकते हैं कि नित्य नये सिद्धान्तों के क्रम में रिचर्ड्स का व्यावहारिक समीक्षा सम्बन्धी सिद्धान्त एक नवीन प्रयत्न है, जो एक नयी दृष्टि रखता है।

बोध प्रश्न 2

क. रिचर्ड्स की कविता का क्या उद्देश्य था?

.....

.....

.....

.....

.....

ख. रिचर्ड्स ने कौन-कौन से सिद्धान्त दिये। नामोल्लेख कीजिए।

.....

.....

.....

.....

ग. नीचे दिए गए कथनों में से कुछ सही है, कुछ गलत। उपयुक्त चिह्न लगाकर स्पष्ट कीजिए।

1. रिचर्ड्स ने कला कला के लिए का सिद्धान्त प्रस्तुत किया। ( )
2. किलफ्टन और कैम्ब्रिज नामक शहर में रिचर्ड्स की शिक्षा सम्पन्न हुई।( )
3. सी0के ऑडन और जेम्स वुड के साथ सहयोगी लेखन के रूप में उनकी पहली आलोचनात्मक कृति 'द फाउडेशन ऑफ एस्थेथिटक्स' थी।( )
4. रिचर्ड्स ने काव्य के संवेग की दो कोटियाँ बताई है- 1. काम्य 2. अकाम्य। ( )
5. रिचर्ड्स का निधन 1990 में हुआ।( )

12.6 आई0ए0 रिचर्ड्स का महत्व और प्रासंगिकता

अंग्रेजी साहित्य में पहली बार व्यापक और व्यवस्थित सौन्दर्य शास्त्र(काव्य शास्त्र) के निर्माण का श्रेय रिचर्ड्स को है। रिचर्ड्स ने आधुनिक जीवन में कविता के सन्दर्भ पर प्रकाश डालते हुए सम्पूर्ण और स्वस्थ मानव-जीवन में काव्य के महत्व और मूल्य पर भी विचार किया। इनका व्यक्तित्व मूलतः एक महान् शिक्षक का था। ये सुप्रसिद्ध समालोचक, कवि एवं भाषाविद् थे। समीक्षा के क्षेत्र में इनका महत्वपूर्ण स्थान है।

मनोविज्ञान के परिप्रेक्ष्य में कविता की सार्थकता और महत्ता पर इनके मौलिक विचार हैं जैसे रिचर्ड्स ने पाश्चात्य काव्यशास्त्र में पहली बार कविता के संप्रेषण और पाठकों पर पड़ने वाले प्रभाव के बारे में प्रयोगशाला पद्धति से कुछ निष्कर्ष प्राप्त किये। भले ही उनके यह निष्कर्ष मान्य न रहे हों लेकिन संप्रेषण और आस्वाद के विषय में कुछ अत्यन्त महत्वपूर्ण और उपयोगी सामान्य सिद्धान्त अप्रतिम हैं। अगर उदाहरण के रूप में देखा जाए तो पाठकीय प्रतिक्रिया के विश्लेषण के आधार पर आस्वाद में दस प्रकार के विघ्नों की चर्चा हो या कवि की आस्था के साथ सहमति और असहमति का प्रश्न हो, एक महत्वपूर्ण विचार है।

रिचर्ड्स का मत था कि आज के युग में जब प्राचीन परम्परायें और जीवन-मूल्य विघटित हो रहे हैं, तब कविता का मूल्य, उसकी मन को प्रभावित करने की क्षमता पर निर्भर करता है। जिस कविता में जितनी अधिक सम्प्रेषणीयता होगी, वह उतनी ही उत्कृष्ट होगी। इनके विचार से स्नायु विषयक व्यवस्था और उसकी आंशिक क्रियाशीलता ही मन है। जो कविता इस व्यवस्था के उपयुक्त होगी, वही कल्याणकारी होगी।

अतः रिचर्ड्स की इस बात को श्रेय देना ही होगा कि उन्होंने विज्ञान के युग में साहित्यालोचन को वैज्ञानिक निश्चितता और वस्तुनिष्ठता प्रदान करने की दिशा में पहल की। साथ ही पाठक पर पड़ने वाले प्रभाव और प्रतिक्रिया को कमोबेश नापने का एक पैमाना प्रस्तुत करने का प्रयास किया।

इस दौर में सौंदर्यवादियों के 'कला कला के लिए' सिद्धान्त पर अंतिम आक्रामक वार करने का हौसला रिचर्ड्स ने ही दिखाया। आलोचना के वाग्जाल की निरर्थकता समाप्त करते हुए कला के संदर्भ में सहजानुभूति, अभिव्यंजना जैसे शब्दजाल की निरर्थकता को उद्घाटित करते हुए आलोचना से उन्हें खारिज करने की वकालत की। कलानुभव की अलौकिकता और सौंदर्य और सौंदर्यानुभव की अतींद्रियता के प्रभामंडल को समाप्त करते हुए रिचर्ड्स ने उसे जीवनानुभव की ठोस जमीन दी। इसी के साथ रिचर्ड्स ने नयी आलोचना की भाषा को बहुत से शब्द भी दिये। पाश्चात्य क्षेत्र में अपनी अप्रतिम देन के बावजूद कुछ त्रुटियाँ भी उनके सिद्धान्तों में दिखाई देती हैं लेकिन इसके बावजूद भी अंग्रेजी भाषी जगत में रिचर्ड्स का बहुत मान और प्रभाव रहा है। बीसवीं शताब्दी में एक इलियट को छोड़कर यशस्विता में उनका कोई प्रतिस्पर्धी नहीं है। उनकी आलोचना पद्धति के सूत्र को पकड़कर इंग्लैण्ड में विलियम एंपसन ने शायद ठीक ही कहा था कि रिचर्ड्स जहाँ गलती करते थे वहाँ भी सोचने के लिए कोई नयी चीज देते थे। उनका 'न्यू क्रिटिसिज़्म' नामक आलोचना-संप्रदाय का विकास इसी का प्रतिफल है।

बोध प्रश्न 3

क. रिक्त स्थानों की पूर्ति कीजिए-

1. रिचर्ड्स की सर्वप्रथम आलोचना कृति..... थी।
2. लगभग अर्द्ध शताब्दी तक लेखन में सक्रिय रहे रिचर्ड्स की अनुमानत..... आलोचना कृतियाँ और..... काव्य संकलन प्रकाश में अया।
3. एक्सपेरिमेंट्स इन मल्टिपिल डेफिनीशन सन्..... में प्रकाशित हुई। (1932)
4. रिचर्ड्स .....से.....तक हार्वर्ड विश्वविद्यालय में अंग्रेजी विषय के प्रोफेसर रहे।
5. रिचर्ड्स का मुख्य सिद्धान्त.....का है।

12.7 सारांश

प्रस्तुत इकाई के अध्ययन के पश्चात् आप जान चुके हैं कि बीसवीं शताब्दी के आलोचकों में रिचर्ड्स का गौरवशाली स्थान है। रिचर्ड्सने मनोविज्ञान के आधार पर अपने सिद्धान्तों को प्रस्तुत किया। उन्होंने

सम्प्रेषण का सिद्धान्त, मूल्य का सिद्धान्त और व्यावहारिक समीक्षा आदि का सिद्धान्त देकर साहित्य की सेवा मे अमूल्य योगदान दिया। रिचर्ड्स के आलोचना सिद्धान्त मूलतः अरस्तू और कॉलरिज के सिद्धान्तों पर आधारित हैं। मनोविज्ञान का जामा पहनाकर रिचर्ड्स ने उन्हें नये रूप में प्रस्तुत करने का प्रयास किया। विषयान्तर विरोध का चमकदार तर्क, कथ्य के स्पष्टीकरण के लिये उदाहरणों का अभाव या स्वल्पता, अनावश्यक शुष्कता, साहित्य प्रदर्शन की प्रवृत्ति रिचर्ड्स के लेखन की विशेषताएँ है। अन्ततः हम कह सकते हैं कि पाश्चात्य साहित्य में आर्नल्ड ने जिस प्रकार आलोचना को रचनाकार से अधिक महत्व दिया उसी प्रकार रिचर्ड्स ने भी भी आलोचक को रचनाकार की अपेक्षा अधिक महत्व दिया।

12.8 शब्दावली

1. स्वल्पता- कमी
2. अतींद्रियता- इन्द्रियों से परे
3. क्रिटिसिज्म- आलोचना
4. तादात्म्यीकरण- तल्लीनता
5. अलंकारिक - सजा हुआ
6. फूहड़ - गंदा, भद्दा
7. विघटित - खत्म होना, कम होना
8. खारिज - नकारना
9. किंकर्त्तव्यविमूढ़ता - आश्चर्यचकित होना

12.9 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर

2 (ग) का उत्तर -

1. (×)
2. (√)
3. (√)
4. (√)
5. (×)

3 (क) का उत्तर -

1. द फाउण्डेशन ऑफ एस्थेटिक्स
2. बारह/एक
3. सन् 1932
4. सन् 1944/ सन् 1963
5. सम्प्रेषणीयता

12.10 उपयोगी पाठ्य सामग्री

1. पश्चात्य काव्यानुशीलन, डॉ0 मृदुल जोशी, प्रस0-2010 प्र0-सत्यम् पब्लिशिंग हाउस, एन-3/25 मोहन गार्डन उत्तम, नगर, नई दिल्ली
2. पाश्चात्य काव्यशास्त्र, डॉ0 विजयपाल सिंह, प्र0स0 1999, प्र0 जयभारती प्रकाशन, इलाहाबाद
3. पाश्चात्य साहित्य-चिंतन, निर्मला जैन/कुसुम बाँठिया, प्र0सं0-1990, प्र0 राधाकृष्ण प्रकाशन, प्राइवेट लिमिटेड जी-17, जगतपुरी, दिल्ली
4. पाश्चात्य काव्यशास्त्र (इतिहास सिद्धान्त और वाद) डा0 भगीरथ मिश्र, सं0-1999, प्र0 विश्वविद्यालय, प्रकाशन चौक, वाराणसी

12.11 निबंधात्मक प्रश्न

1. आई0ए0 रिचर्ड्स का जीवन एवं साहित्यिक परिचय लिखिए तथा उनके प्रमुख साहित्य-सिद्धान्तों का आलोचनात्मक विवेचन कीजिए।
2. रिचर्ड्स के 'मूल्य' एवं 'सम्प्रेषण' सिद्धान्तों की आलोचनात्मक व्याख्या कीजिए तथा वर्तमान में रिचर्ड्स के सिद्धान्तों का महत्व एवं प्रासंगिकता समझाइए।

इकाई 13 बेनेदेतो क्रोचे : परिचय एवं सिद्धांत

इकाई की रूपरेखा

13.1 प्रस्तावना

13.2 उद्देश्य

13.3 बेनेदेतो क्रोचे: तत्कालीन परिस्थितियाँ और साहित्यिक परिवेश

13.4 बेनेदेतो क्रोचे: जीवन परिचय और महत्वपूर्ण कृतियाँ

13.5 बेनेदेतो क्रोचे के सिद्धान्त की अन्तर्वस्तु

13.6 बेनेदेतो क्रोचे का अभिव्यंजनावाद

- 13.6.1सहजानुभूति
- 13.6.2 सहजानुभूति और कला
- 13.6.3 सहजानुभूति और कल्पना
- 13.6.4 कला की अखण्डता
- 13.6.5 विषय और शैली में अभिन्नता
- 13.6.6 कलाकार के गुण
- 13.6.7 सामाजिक के संबंध में विचार
- 13.6.8 सामान्य अनुभूति और कलाजन्य अनुभूति
- 13.6.9 अभिव्यंजनावादन की विशेषताएँ
- 13.6.10 अभिव्यंजनावाद की सीमाएँ
- 13.6.11 अभिव्यंजनावाद और वक्रोक्तिवाद में साम्य और वैषम्य

13.7 बेनेदेतो क्रोचे का महत्व और प्रासंगिकता

13.8 सारांश

13.9 शब्दावली

13.10 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर

13.11 उपयोगी पाठ्य सामग्री

13.12 निबंधात्मक प्रश्न

13.1 प्रस्तावना

इस इकाई के अध्ययन के पूर्व आपने पाश्चात्य काव्य शास्त्र के उद्भव एवं विकास का क्रमबद्ध ऐतिहासिक अध्ययन किया। प्रस्तुत इकाई में आप 'कला कला के लिए' (art for art sake) सिद्धान्त के जन्मदाता कहे जाने वाले बेनेदेतो क्रोचे के व्यक्तित्व एवं कृत्तित्व के साथ-साथ उनके प्रमुख साहित्य सिद्धान्तों का विश्लेषण परक अध्ययन करेंगे।

इस इकाई के अध्ययन से आप ऐतिहासिक रूप से क्रोचे एवं उनके सिद्धान्तों का महत्व जान सकेंगे तथा आधुनिक एवं समकालीन साहित्य के परिप्रेक्ष्य में उसकी प्रासंगिकता को समझ सकेंगे।

13.2 उद्देश्य

इस इकाई का अध्ययन करने के बाद आप-

1. बेनेदेतो क्रोचे के जीवन एवं उनके सिद्धान्तों का निर्माण करने वाली तत्कालीन परिस्थितियों को जान सकेंगे।
2. आधुनिक पाश्चात्य साहित्य के विकास में क्रोचे के सिद्धान्तों की सही परख और पहचान कर सकेंगे।
3. बेनेदेतो क्रोचे के महत्व और प्रासंगिकता का ज्ञान प्राप्त कर सकेंगे।

13.3 बेनेदेतो क्रोचे: तत्कालीन परिस्थितियाँ और साहित्यिक परिवेश

अभिव्यंजनावाद सिद्धान्त के प्रतिपादक बेनेदेतो क्रोचे साहित्य शास्त्री न होकर मूलतः दार्शनिक तथा सौन्दर्य शास्त्री थे। आधुनिक युग में औद्योगिक क्रांति तथा तकनीकी एवं वैज्ञानिक विकास के फलस्वरूप कला और साहित्य के सम्बन्ध में क्रांतिकारी एवं मौलिक विचार सामने आये। अनेक क्षेत्रों के विचारों ने कला और साहित्य को भी अतिशय प्रभावित किया। मनोविज्ञान के क्षेत्र में फ्रायड़, एडलर और जुंग ने काव्य और कला को प्रभावित किया। सामाजिक और आर्थिक क्षेत्र में मार्क्सवाद की विचारधारा का गहराई के साथ प्रभाव पड़ा तथा डेनमार्क के सोरेन कीर्केगार्द और फ्रान्स के ज्याँ पॉल सार्त्र की अस्तित्ववादी विचार धारा ने भी विश्व-साहित्य को प्रक्षेपित किया। इन सभी परिस्थितियों और प्रभावों ने साहित्य-चिन्तन को विविध दिशाओं की और मोड़ दिया।

आधुनिक युग के दर्शन, साहित्य तथा कला और साहित्य चिंतन ने विश्व को अनेक भागों में बाँट दिया। एक तो मार्क्सवादी साहित्य-चिंतन का साम्राज्यवादी विश्व बन गया, दूसरा यूरोपीय परम्परा का कलावादी संसार जिसमें इटली, फ्रांस और इंग्लैण्ड विशेष रूप से सम्मिलित थे और जिसका प्रभाव एशिया के देशों और भारत पर पड़ा।

उन्नींसवी सदी के अंतिम दौर से लेकर अब तक साहित्य तथा समालोचना संबन्धी कई सिद्धांन्त तथा आंदोलन सामने आये। जिनमें कुछ जल्दी ही समाप्त हो गये किंतु कुछ का असर काफी समय तक बना रहा, जैसे-अरस्तू का अनुकरण-सिद्धान्त, कॉलरिज का जैववादी सिद्धान्त, आर्नल्ड का आलोचना-सिद्धांत आदि। इस धारा में अभिव्यजंनावाद के जनक बेनेदेतो क्रोचे भी आते है। इनके अतिरिक्त रस्किन, ज्याँपाल सात्र, कीर्केगार्द, अलबर्ट कामू, हर्बर्ट, जेम्स ज्वायस, हेनरी जेम्स, एजरा पाउंड, केन्त्रैन्सम आदि पाश्चात्य जगत के ऐसे साहित्यकार विचारक और समीक्षक हैं जिन्होंने समीक्षा को नई-नई दिशाएँ प्रदान की हैं। इन लोंगों ने अपने साहित्य और समीक्षा द्वारा यूरोपीय साहित्य को समृद्ध किया। इसका आरंम्भिक रूप आदर्शवादी और वस्तुपरक था। पन्द्रहवी शताब्दी में नव-जागरण की नई लहर के साथ ही यूरोपीय साहित्य और समीक्षा द्रुतगति से विकास करती हुई बहुमुखी रूप धारण करके मानव के चिन्तन को अत्यधिक सशक्त और व्यापक बनाती चली गई। अभिव्यंजनावाद भी इसी विचारधारा में से निकली एक विचारधारा है जिसका मूल स्रोत वस्तुतः स्वच्छदतावाद की उस प्रवृत्ति से है जो परम्परा, रूढ़ि, नियम आदि का विरोध करती है। आरम्भ में यह एक अत्यन्त शक्तिशाली और स्वस्थ-आन्दोलन था, जिसने परम्परावादिता का विरोध कर व्यक्तिवाद पर बल दिया।

13.4 बेनेदेतो क्रोचे: जीवन परिचय और महत्वपूर्ण कृतियाँ

'अभिव्यंजनावाद सिद्धान्त' के प्रतिपादक बेनेदेतो क्रोचे का जन्म सन् 1866 में इटली के नेपल्स शहर में तथा मृत्यु इसी शहर में सन् 1952 में हुई। बाल्यवस्था से ही इनकी धर्म से आस्था चली गयी परन्तु बाद में रोम विश्वविद्यालय में नीति शास्त्र तथा दर्शन के अध्ययन के दौरान आदर्शमूलक दृष्टिकोण के विवेचन के क्रम मे जीवन में आस्था पुनः लौटी। संभवतः इसी कारण बेनेदेतो क्रोचे बाह्य सांसारिक यथार्थ की अपेक्षा चेतना के आंतरिक सत्य पर अधिक विश्वास करने लगे थे। सम्पन्न परिवार में जन्म लेने के कारण उनकी आर्थिक स्थिति अच्छी थी। शायद यही वजह रही कि जो समय लोगों का जीवकोपार्जन में जाता है, वह बेनेदेतो क्रोचे का साहित्यिक और शोध के प्रति समर्पित रहा। मार्क्सवाद के कट्टर आलोचक बेनेदेतो क्रोचे राजनीतिक अर्थशास्त्र के गहन अध्ययन के साथ दर्शन, तर्कशास्त्र, सौंदर्यशास्त्र, इतिहास तथा सात्यिालोचन संबधी विषयों पर बराबर लिखते रहें।

एक उच्चकोटि के दार्शनिक और कला मीमांसक बेनेदेतो क्रोचे ने सन् 1900 में 'फन्डामेन्टल थीसिस ऑफ एन ऐस्थेटिक एज़ साइंस ऑफ एक्सप्रेशन एण्ड जनरल लिग्विस्टिक्स' शीर्षक से पढ़े गये एक लेख में अपनी अभिव्यंजनावादी विचारधारा के सूत्र रखे। काव्य और कला की मीमांसा करते हुए बेनेदेतो क्रोचे ने अभिव्यंजनावाद की विस्तृत व्याख्या की। इनका कला सम्बन्धी मूल ग्रंथ

'इस्टिटिका' सन् 1901 में प्रकाशित हुआ जिसका अनुवाद (सौन्दर्य सिद्धान्त या सौन्दर्य शास्त्र) एक विश्व प्रसिद्ध ग्रंथ है। यह सन् 1912 में प्रकाश में आया। इस ग्रंथ में बेनेदेतो क्रोचे ने कला की आन्तरिक प्रक्रिया का सामान्य विवेचन करते हुए कला को विशिष्ट अभिव्यंजना माना। उनके विचार से कला आन्तरिक अभिव्यंजना है, जो सहजानुभूति के रूप में पूर्ण होती है।

सन् 1902 में 'ला क्रितीका' पत्रिका निकालने वाले बेनेदेतो क्रोचे इटली तथा यूरोप के इतिहास के अलावा अन्य कई देशों के इतिहास तथा साहित्य पर भी लेखन करते रहे। सन् 1933 में ऑक्सफोर्ड विश्वविद्यालय में कविता पर दिये गये प्रसिद्ध भाषण 'डिफेंस ऑफ पोएट्री' में कविता तथा साहित्य सम्बन्धी इनकी परवर्ती मान्यताएँ व्यक्त हुई हैं। अभिव्यंजनावाद सिद्धान्त मूलतः सौन्दर्य शास्त्र से सम्बद्ध है। सन् 1912 में बेनेदेतो क्रोचे ने सौंन्दर्यशास्त्र संबन्धी चार आलेख राइस इंस्टीट्यूट में पढ़े और 'एन्साइक्लोपीडिया ब्रिटैनिका' के लिए इसी विषय पर एक लेख लिखा। 'न्यू एसेज़ ऑन एस्थेटिक' सन् 1920 में प्रकाशित इनके सौन्दर्यशास्त्रीय निबंधों का संग्रह है। इपनी आत्मकथा में क्रोचे ने बताया कि किस तरह शास्त्रीय विद्याओं के अध्ययन के क्रम में वे अपनी विचारधारा में क्रमशः अमूर्तता की और बढ़ते गये और अंततः इस निष्कर्ष पर पहुँचे कि स्पिरिट या चेतना या मानस ही 'चरम सत्य' है। चेतना के स्तर पर ही समस्त क्रियाएँ होती है तथा वाह्य संसार की घटनाएँ गौण तथा महत्वहीन है। निरन्तर अध्ययनरत रहे क्रोचे के विचारों में स्वाभाविक रूप से ही कुछ परिवर्तन आते रहे, जिसके फलस्वरूप उनकी अवधारणाओं का स्वरूप बदला और कुछ विशष्ट मुद्दों पर विचार धारा बदली। परन्तु उनकी मूल प्रत्यवादी दृष्ट यथावत् बनी रही है। इटली के शिक्षामंत्री रहे क्रोचे की गणना मृत्यु के बाद आज भी प्लेटो, भरत, अरस्तू, दण्डी, कुन्तक, डीडेरोट, जानसन, वाल्टेयर, कांट, शिलर, हीगेल, मार्क्स तथा फ्रायड के साथ की जाती है।

13.5 बेनेदेतो क्रोचे के सिद्धान्त की अन्तर्वस्तु

बेनेदेतो क्रोचे मूलतः आत्मवादी दार्शनिक था। उन्होंने मानसिक क्रियाओं को ही मान्यता प्रदान की और बाह्य उपकरणों को केवल गौण साधन माना। श्री सत्यदेव मिश्र ने बेनेदेतो क्रोचे द्वारा बताये गये चार स्तरों को आत्मसंवेदन, अभिव्यंजना, आनन्द व अभिव्यक्ति के रूप में प्रस्तुत किया। बेनेदेतो क्रोचे के अनुसार आनन्द अनुभूति में तो है ही, पूर्ण आनन्द अभिव्यंजना में भी है। जब तक आत्मसंवेदन, सहजानुभूमि या अन्तःसंस्कारों का उद्बोधन अभिव्यक्ति के रूप में नहीं होगा वह पूर्ण अभिव्यंजना न होकर अभिव्यंजना से पूर्व की स्थिति होगी।

बेनेदेतो क्रोचे के सिद्धान्त का मूल विचार सभी प्रकार की कलाओं, सौन्दर्य और आत्मानन्द पर आधारित है। उनका मानना है कि कलारूपी सहजानुभूति (आन्तरिक अभिव्यंजना) का बिम्बात्मक होना ही सफल है, जो कलाकार को भीतर ही भीतर मिलने वाले आनन्द के साथ जोड़ता है। बेनेदेतो क्रोचे कलावादी हैं, इसीलिए कला को अपने मूल उद्देश्य में नैतिकता या उपयोगिता से मुक्त रखते हैं। उन्होंने किसी भी प्रकार की कलात्मक अभिव्यक्ति को स्वान्तः सुखाय मानते हुए आन्तरिक अभिव्यंजना का उद्देश्य माना है।

बेनेदेतो क्रोचे, हीगेल से अत्यन्त प्रभावित थे, परन्तु उन्होंने हीगेल को पूर्ण रूप से नहीं स्वीकारा। हीगेल जहाँ कला को पक्ष, धर्म को विपक्ष और दर्शन को दोनों का समन्वित पख मातने हैं वहीं बेनेदेतों क्रोचे, हीगेल के कला सम्बन्धी विचारों को त्रुटिपूर्ण मानते हैं। हीगेल ने आत्मा की तीन प्रवृत्तियाँ (ज्ञानात्मक प्रवृत्ति(पक्ष), व्यवहारिक प्रवृत्ति(विपक्ष), आध्यात्मिक प्रवृत्ति(समन्वय) मानी थी जबकि बेनेदेतो क्रोचे ने अपने प्रसिद्ध ग्रंथ 'ऐस्थेटिक' में मानव की आत्मा को ही चरम यथार्थ मानते हुए आत्मा की केवल दो मूल क्रियायें मानीं' 1. सैद्धान्तिक 2. व्यावहारिक क्रिया। सैद्धान्तिक क्रिया के भी दो भेद सहजानुभूति और विचार क्रिया और व्यावहारिक क्रिया के भी दो भेद आर्थिक या निजी योग-क्षेम से सम्बन्धित और नैतिक माने। सहजानुभूति को बेनेदेतो क्रोचे ने स्वयं प्रकाशमान ज्ञान माना और उनके अनुसार यह अभिव्यंजना है। सहजानुभूति मनुष्य की पूर्ण स्वतंत्र क्रिया है। जिसे स्वयं प्रकाश्य या प्रातिभ क्रिया भी कह सकते है। वैचारिक यथार्थ को उन्होंने प्रत्ययात्मक यथार्थ कहा है। यह प्रत्ययात्मक यथार्थ या व्यवहारिक क्रियाएँ सैद्धान्तिक क्रियाओं पर आधारित रहती है क्योंकि इन व्यवहारिक क्रियाओं के मूल में मानवीय इच्छा कार्य करती है और इच्छा के लिए वस्तुओं का सहज ज्ञान आवश्यक है। तृतीय क्रिया सामान्य रूप में संकट या इच्छा शक्ति पर आधारित है। जीवन के लिए उपयोगी ये क्रियाएँ आर्थिक सिद्धान्तों पर आधारित है। बेनेदेतो क्रोचे की अन्तिम प्रक्रिया संकल्प या इच्छा शक्ति पर आधारित है जिसका उद्देश्य नैतिक है। बेनेदेतो क्रोचे ने सौन्दर्यशास्त्र, तर्कशास्त्र, अर्थशास्त्र तथा नीतिशास्त्र को इन चार यथार्थ से जोड़ा है।

बोध प्रश्न-1

टिप्पणी-क. अपने उत्तर के लिए नीचे दिए स्थान का प्रयोग किजिए।

(1) दो-तीन पंक्तियों में उत्तर दीजिए-

1. बेनेदेतों क्रोचे का जन्म और मृत्यु कब हुई?

.....

2. क्रोचे के किस निबंध के माध्यम से उनकी 'अभिव्यंजनावादी विचारधारा का पता चलता है?'

.....

.....

.....

3. क्रोचे के सौंदर्यशास्त्रीय निबंधों के संग्रह का नाम व प्रकाशन वर्ष बताइए?

.....

4. क्रोचे के सिद्धान्त का मूल विचार किस पर आधारित है?

.....

13.6 बेनेदेतो क्रोचे का अभिव्यंजनावाद

बेनेदेतो क्रोचे का अभिव्यंजनावाद- बेनेदेतो क्रोचे के सिद्धान्त को अभिव्यंजनावाद के नाम से जाना जाता है जिसके महत्वपूर्ण बिन्दु निम्नवत् हैं-

13.6.1 सहजानुभूति

बेनेदेतो क्रोचे सौन्दर्य को सहज ज्ञान की अभिव्यक्ति मानते हैं। उनके अनुसार काव्यात्मक अभिव्यक्ति संवेगों की सीधी अभिव्यक्ति न होकर सहज ज्ञान की अभिव्यक्ति है। सहजज्ञान से बेनेदेतो क्रोचे का तात्पर्य किसी वस्तु का पूर्ण रूप से गढ़ा हुआ एक मानसिक चित्र है। सहजज्ञान अपने आप में प्रतिबिम्ब या प्रतिच्छवि है जो बाह्य वस्तुओं को देखने से दर्शक के मन में उत्पन्न होती है। इन्हीं मानसिक चित्रों या बिम्बों द्वारा संवेगों की अभिव्यंजना होती है। संवेगों का अस्तित्व तब तक संभव नहीं जब तक अभिव्यक्ति न हो और बिम्ब का अस्तित्व संवेग की अभिव्यंजना में ही संभव है। सहज ज्ञान द्वारा वस्तुओं के बिम्बों या भावों का निर्माण होता है और बौद्धिक ज्ञान द्वारा सामान्य विचारों का बोध होता है इस कारण सहज ज्ञान का सम्बन्ध कला के साथ है और बौद्धिक ज्ञन का सम्ब्न्ध विज्ञान तथा दर्शन से है। सामान्य व्यक्ति और कलाकार की सहजानुभूति अर्थात् आन्तरिक अभिव्यंजना में अन्तर होता है। सामान्य व्यक्ति की अपेक्षा कालाकार की सहजानुभूति व्यापक होती है। कलाकार की अभिव्यक्ति में उसके स्वयं प्रकाश ज्ञान और कल्पना का सुन्दर संयोग होता है।

सहज ज्ञान यांत्रिक और निष्क्रिय न होकर एक ऐसा ज्ञान है जो हृदय में सीधा उतर आता है। यह प्रभाव की सक्रिय अभिव्यंजना है। किसी भी कलाकार या चित्रकार द्वारा किसी वस्तु का झलक भर देख लेना

सहज ज्ञान नहीं है। यह तब ही सहज ज्ञान होगा जब उसका बिम्बों के माध्यम से पूर्ण मानसी प्रत्यक्षीकरण होकर अन्तर्मन में अभिव्यंजित हो जाएगा।

सहजानुभूति और बौद्धिक ज्ञान में बेनेदेतो क्रोचे के अनुसार प्र्याप्त अन्तर है। सहजानुभूति स्वयं प्रकाशित है और बौद्धिक ज्ञान आहरित है। सहजानुभूति और प्रत्यक्षबोध में भी बेनेदेतो क्रोचे के अनुसार काफी अन्तर है क्योंकि सहजानुभूति में यथार्थ और अयथार्थ में कोई अन्तर नहीं होता जबकि प्रत्यक्ष-बोध में होता है। उनके अनुसार तो सहजानुभूति ऐन्द्रिय संवेदनाओं, स्मृतियों और संस्कारों से भिन्न है। उन्होंने अन्ततः माना कि अभिव्यंजना सहजानुभूति का एक अंग है। सहजानुभूति की क्रिया उसी अंश तक सहजानुभूति है जहाँ तक वह उसे अभिव्यक्त करती है। सहजानुभूति अभिव्यंजना का कोई न कोई रूप ढँढ लेती है। वह चित्र, शब्द, संगीत या अन्य किसी भी रूप में हो सकता है।

मनुष्य को इन्द्रिय जनित अर्थात् संवेदन होता है जो मस्तिष्क में अरूप रहता है। प्रत्यक्ष अनुभूति से हमारी निष्क्रिय आत्मा पर बाह्य वस्तुओं का प्रभाव पड़ता है। बेनेदेतो क्रोचे ने प्रत्यक्ष अनुभूति और संवेदना को वस्तु कहा है, जिसे मानव की आत्मा महसूस तो करती है परंतु उत्पन्न नहीं करती। जो प्रत्यक्ष अनुभूति या संवेदना या वस्तु मानस में अरूप की स्थिति में रहती है वह आत्मा की क्रिया-अर्थात् कल्पना के साथ एकाकार होकर रूप या अभिव्यंजना के लिए आवश्यक आधार के रूप में संवेदना रूपी वस्तु को तथा आत्मिक क्रिया रूपी कल्पना को जन्म देती है। बेनेदेतो क्रोचे की दृष्टि में यही कल्पना युक्त स्वयं प्रकाश्य ज्ञान एक अलौकिक शक्ति है जो क्षण भर में किसी दृश्य या भाव को अपनाकर उसे साकार और मूर्त रूप प्रदान करती है।

13.6.2 सहजानुभूति और कला

दार्शनिक बेनेदेतो क्रोचे ने अपनी पुस्तक 'सौन्दर्य सिद्धान्त' में सहजानुभूति को कला के रूप में स्वीकार किया है। सहजानुभूति एक ऐसी सुन्दर आंतरिक अभिव्यंजना है जो कलाकार को आनन्द मग्न कर देने में सफल होती है। अभिव्यंजना की सफलता उसके सुन्दर रूप में अभिव्यक्त होने पर ही है।

प्राकृतिक सौन्दर्य को बेनेदेतो क्रोचे ने सौन्दर्य का पुनर्निमाण करने वाली प्रेरणा मात्र माना है। बेनेदेतो क्रोचे ने कला-कर्म को सदैव आन्तरिक माना है। जो कुछ बाह्य है वह काव्य नहीं है। संवेदनाओं को अभिव्यंजना का रूप देते ही कला-कार्य समाप्त हो जाता है। कवि या कलाकार मानस से शब्द प्राप्त कर किसी रूप या प्रकृति को निश्चित कर लेते हैं।

13.6.3 सहजानुभूति और कल्पना

बेनेदेतो क्रोचे ने कलाकार की कल्पना को उसकी आत्मा की सुन्दर दृष्टि माना है। आत्मा की दृष्टि जिस प्रकार की होगी उसी प्रकार का रूप वह बाह्य वस्तु को प्रदान करेगी। यही कारण है कि प्रत्येक व्यक्ति

या प्रत्येक कलाकार की निजी विशेषता होती है। बेनेदेतो क्रोचे ने आन्तरिक अभिव्यंजना को महत्व देते हुए बाह्य अभिव्यंजना को इतना महत्व नहीं दिया हैं। उनके अनुसार सहजानुभूति व्यक्तिनिष्ठ होती है जो व्यक्ति में निहित कल्पना के कारण कला की उत्पादक बन जाती है। उन्होंने कल्पना को रूपात्मक निर्माणात्मक, वैशिष्ट्यपूर्ण माना है। आत्मा कल्पना के कारण ही सहज ज्ञान को निर्माण, रूप विधान और अभिव्यंजना के माध्यम से ग्रहण करती है।

13.6.4 कला की अखण्डता

बेनेदेतो क्रोचे ने कला को स्वयं में पूर्ण और उसके सौन्दर्य को अखण्ड माना है। उनके अनुसार सौन्दर्य की मात्रा और कला का वर्गीकरण नहीं हो सकता। उनका मानना है कि कलाकृति को हम खण्डों में; कविता को दृश्यों, उपाख्यान, उपमाओं और वाक्यों में; एक चित्र को अलग-अलग आकृतियों और वस्तुओं, पृष्ठभूमि, पर भूमि आदि में विभक्त करते है- यह क्रिया एकता का विरोध करती हुई प्रतीत होती है। इस प्रकार का वर्गीकरण कृति को उसी प्रकार नष्ट कर देते हैं, जिस प्रकार जीव को हृदय, मस्तिष्क, धमनियों मांसपेशियों में बाँट देना जीवित प्राणी को शव में बदल देते है। उनका मानना है कि कला विभिन्न श्रेणियों और कोटियों में निर्धारित नहीं की जा सकती। जैसे सौन्दर्य का एक अखण्ड प्रभाव है ठीक उसी प्रकार कला सौन्दर्य भी उसकी अखण्डता में रहता है।

13.6.5 विषय और शैली में अभिन्नता

बेनेदेतो क्रोचे अनुभूति और अभिव्यंक्ति को एक ही मानते हैं। इसीलिए कला को विषय-वस्तु और उसकी शैली से अभिन्न घोषित करते हैं। उनके अनुसार कलाकार अपनी सहजानुभूति को अभिव्यंजना का रूप देता है तो उसमें कुछ नया नहीं जोड़ता। शैली के द्वारा वह विषय-वस्तु को प्रस्तुत नहीं करता अपितु विषय ही शैली के रूप में प्रकट होता है।

13.6.6 कलाकार के गुण

क्रोचे ने कला सृजन की प्रक्रिया को विश्लेषित करते हुए कलाकार में चार गुणों का होना आवश्यक माना है। वे हैं- सजग इच्छाशक्ति, कला सृजन के विभिन्न साधनों के उपयोग का ज्ञान व अभ्यास, चिंतन और कल्पना शक्ति। सहज सजग इच्छा शक्ति ही कलाकार को सृजन के लिए प्रेरित करती रहती है। यदि कलाकार को कला के माध्यम का ज्ञान नही है अथवा उसमें अभ्यास की कमी है तब भी कला की सृष्टि बाधित होगी। कलाकार में चिंतन की क्षमता आपेक्षित है। निरंतर चिंतन अभिव्यक्ति के अविरल प्रवाह को जन्म देता है, जिससे कलाकार आनन्द की अनुभूति करता है। अन्तिम क्षमता कल्पना शक्ति है, जिसके माध्यम से कलाकार कलात्मक बिम्बों का निर्माण कर सकता है।

13.6.7 सामाजिक के संबंध में विचार

अभिव्यंजना को हृदयंगम करने हेतु सामाजिक का सचेत होना भी आवश्यक है। बेनेदेतो क्रोचे के अनुसार सामाजिक के लिए भी कुछ क्षमताएँ अपेक्षित है। सामाजिक में तादात्म्यीकरण की क्षमता होनी चाहिए जिससे वह कलाकार द्वारा अनुभूति बिम्बों को पुनः अनुभूत कर सके। इसके लिए उसका तटस्थ होना अनिवार्य है। शीघ्रता, आलस्य, उत्तेजना, और बौद्धिक दुराग्रह या व्यक्तिगत अवधारणाओं के रहते वह कला का सच्चा अनुभव नहीं कर सकता। इसके लिए उसे इन सबसे मुक्त होकर कला का रसास्वादन करना चाहिए। सामाजिक में कला-संबंधी रुचि का होना भी अनिवार्य है। बेनेदेतो क्रोचे ने कला- सृजन और कला-आस्वादन के कोई स्पष्ट अन्तर नहीं माना। जिस आनन्द की स्थिति में कलाकार कला-सृजन के द्वारा पहुँचता है उसी स्थिति में सामाजिक कला अस्वादन द्वारा पहुँचता है। इतना अवश्य है कि कलाकार की क्षमताएँ अधिक होती हैं जिससे कि वह नेतृत्व करता है और जबकि सामाजिक कलाकार का अनुकरण करता है। क्रोचे ने कलाकार की क्षमता और आलोचक की क्षमता को अभिन्न माना है। उनका स्पष्ट मानना है कि आलोचक को कलाकार के स्तर तक उठना चाहिए।

13.6.8 सामान्य अनुभूति और कलाजन्य अनुभूति

बेनेदेतो क्रोचे ने सामान्य अनुभूति और कलाजन्य अनुभूति में बहुत बड़ा अन्तर माना है। सामान्य अनुभूति सुख और दुख से जुड़ी है जिसका आधार आर्थिक और व्यावहारिक है। जबकि कला सहजानुभूति से संबद्ध है। सामान्य अनुभूति का क्षेत्र कलाजन्य अनुभूति से पृथक् होता है लेकिन बेनेदेतो क्रोचे ने सामान्य आनन्द और कलाजन्य आनन्द में केवल मात्रा का अन्तर माना है गुण का नहीं। उन्होंने स्पष्ट किया कि नाटक देखते समय जो हम हँसते या रोते हैं या आनन्दानुभव करते हैं वह हमारे सामान्य सुख-दुःख से हलका होता है जबकि सामान्य जीवन का सुख-दुःख वास्तविक और गम्भीर होता है। क्रोचे की विचार धारा को हम संक्षेप में इस प्रकार रख सकते हैं-

1. सौन्दर्य सहज ज्ञान की अभिव्यक्ति है।
2. अभिव्यंजना सहजानुभूति का एक अभिन्न अंग है।
3. कला आन्तरिक अभिव्यंजना है, जो सहजानुभूति के रूप में पूर्ण होती है।
4. सहजानुभूति, अभिव्यंजना और कला तीनों पर्यायावाची हैं।
5. कला में विषय और शैली में अभिन्नता है।
6. कला-सृजन की प्रक्रिया और कला-आस्वादन की प्रक्रिया एक ही है।
7. कला अखण्ड है। इसका तात्विक या आंगिक विश्लेषण करना कला की हत्या करना है।
8. सामान्य अनुभूति और कला जन्य अनुभूति में मात्रा का अन्तर है।

9. सहज ज्ञान का सम्बन्ध कला के साथ है और बौद्धिक ज्ञान का संबंध विज्ञान तथा दर्शन से हैं।

13.6.9 अभिव्यंजनावादन की विशेषताएँ

श्री सत्यदेव मिश्र ने अभिव्यंजनावाद की विशेषताओं को निम्नवत् अभिव्यक्ति दी है-

1. अभिव्यंजनावाद कला, कला के लिए सिद्धान्त का परिपोषक है। कलाकार कला की अभिव्यक्ति के लिए विवश है क्योंकि यह अभिव्यंजना सहजानुभूति का स्वाभाविक उन्मेष है।

2. बेनेदेतो क्रोचे ने सहजानुभूति को ही अभिव्यंजना माना है। उन्होंने अनुभूति और अभिव्यक्ति में उन्होंने कोई भेद नही माना है।

3. उन्होंने विषय-वस्तु और शैली में कोई भेद नहीं मानते हुए स्पष्ट स्वीकार किया कि अभिव्यक्त किया हुआ विषय अनुभूत किये गये विषय का ही व्यक्त रूप है।

4. बेनेदेतो क्रोचे की स्पष्ट मान्यता है कि सौन्दर्य अखण्ड है अतः उसे श्रेणी में विभक्त नहीं किया जा सकता।

5. बेनेदेतो क्रोचे समग्रवादी हैं। वे विषय-वस्तु, शैली, पद या भाव- विचार, अलंकार आदि के आधार पर टुकड़ो-टुकड़ो में की जाने वाली कलाकृति की मीमांसा को कलाकृति की हत्या ही मानते हैं। उनका स्पष्ट मानना है कि किसी भी कलाकृति का मूल्यांकन उसके समग्र प्रभाव के रूप में ही किया जाना चाहिए।

6. बेनेदेतो क्रोचे स्पष्ट मानते हैं कि बाह्य अभिव्यंजना के समय कलाकार जीवन तथा जगत के नैतिक बन्धनों से बँध जाता है। उसे अपनी संवेदनाओं का चयन करने के लिए बाधित होना पड़ता है। बाह्य कलाकृति उनकी दृष्टि में विशुद्ध कला-प्रक्रिया नहीं है क्योंकि उसे यहाँ नीति तथा सदाचार के नियमों का पालन करना पड़ता है। पूर्ण व्यक्तित्व के संदर्भ में कवि को सामाजिकता की उपेक्षा नहीं करनी होती।

13.6.10 अभिव्यंजनावाद की सीमाएँ

कतिपय विद्वान, बेनेदेतो क्रोचे के सहज ज्ञान को त्रुटिपूर्ण मानते हैं-

1. बेनेदेतो क्रोचे ने सहजानुभूति को धारणाओं और विचारों से मुक्त माना है। यहीं नहीं उन्होंने सहज ज्ञान को सभी बौद्धिक ज्ञान से मुक्त माना है। मनोवैज्ञानिकों के अनुसार ऐसी सहजानुभूति की कल्पना भी नहीं की जा सकती।

2. क्रोचे के अनुसार सहजानुभूति नितान्त आन्तरिक है जो स्थान, काल तथा धारणा से परे है जबकि मनोवैज्ञानिकों का मानना है कि बिना किसी धारणा के रूप की कल्पना मानव मन के लिए असंभव है।

3. क्रोचे बाह्य अभिव्यंजना को आवश्यक मानकर कलाकार को एक ऐसी स्वच्छन्दता दे देते हैं जो अराजकता और अव्यवस्था में परिणत हो सकती है।

4. क्रोचे ने माना कि कला सहजानुभूति है और सहजानुभूति वैयक्तिक और अभूतपूर्व होती है। वैयक्तिक अनुभूति का पुनर्भाव नहीं होता लेकिन आपत्ति यह है कि यदि अनुभूति का पुनर्भाव नहीं होता तो सहृदय उसका आस्वादन कैसे करेगा?

5. क्रोचे कहते हैं कि कला का अस्तित्व तभी तक रहता है जब तक कि कलाकार कलम या कूँची नहीं पकड़ता अर्थात् कला तब तक कला है जब तक कि वह मानस प्रक्रिया में रत है। मानस क्षेत्र से निकलकर बाह्य अभिव्यंजना में प्रवृत्त होते ही कला पीछे छूट जाएगी। सामान्य जन उनकी इस कला सम्बन्धी धारणा को हृदयंगम नहीं कर पाते।

6. क्रोचे विषय-वस्तु के चुनाव को भी आवश्यक नहीं मानते। उनकी दृष्टि में कोई भी विषय कला का विषय बनता है पर शर्त है कि उसकी अभिव्यंजना सफल व स्पष्ट हो। इस दृष्टि से तो कलाकार की कोई भी सनक, विकृति, कुरूपता कला के विषय बन जाएंगे।

7. क्रोचे ने कलाकार के मन में अरूप, अस्पष्ट, अर्थहीन प्रभावों की आन्तरिक अभिव्यक्ति को कला कहा है। वस्तुतः कला जीवन से सम्बद्ध है। कलाकार के लिए आवश्यक है कि उसे अभिव्यंजना समाजोपयोगी बनानी पडेगी। यह आवश्यक है कि कलाकार के जीवानुभव समग्र मानव जाति के अनुभव हों क्योंकि कला वस्तुतः जीवन की अभिव्यंजना है, कलाकार की व्यैक्तिक अभिव्यंजना नहीं।

8. पाश्चात्य समालोचक जेम्स के अनुसार क्रोचे का सिद्धान्त केवल उसकी ही दिमाग की उपज है, जिसका कहीं अस्तित्व संभव नहीं।

13.6.11 अभिव्यंजनावाद और वक्रोक्तिवाद में साम्य और वैषम्य

बेनेदेतो क्रोचे ने सहज ज्ञान को संवेदना तथा प्रभाव से भिन्न माना है। उनके अनुसार संवेदना नितान्त यांत्रिक और निरपेक्ष है जिसमें अन्तर्मन का कोई प्रयोग नहीं रहता। उसके विपरीत सहज ज्ञान में अन्तर्मन सक्रिय होकर संवेदनाओं से एकाकार हो जाता है। उन्होंने स्पष्ट करते हुए लिखा कि यदि कोई चित्रकार किसी वस्तु की केवल एक झलक मात्र पाता है तो वह सहज ज्ञान नहीं है लेकिन जब वह उसका अन्तर्मन में बिम्ब के माध्यम से प्रत्यक्षीकरण करेगा, उसकी अनुभूति करेगा तो वह सहज ज्ञान है। इस आन्तरिक अभिवयंजना को ही उन्होंने सहजानुभूति और कला माना है। यह मन के भीतर ही

घटित होती है। उन्होंने माना कि मानस काव्य ही काव्य है। कागज पर लिखा काव्य तो अतिरिक्त क्रिया है। आत्माभिव्यंजना के क्षणों में ही कलाकार की कलाकार के रूप में स्थिति है। बाह्य अभिव्यक्ति तो स्मृति की सहायता से दूसरों तक अपनी अनुभूति को पहुँचाने का साधन मात्र है। क्रोचे ने स्पष्ट कहा है कि बाह्य अभिव्यक्ति या शब्दों की उपयोगिता केवल व्यावहारिक है।

क्रोचे और कुंतक दोनों ही आचार्यों के दृष्टिकोण और सिद्धान्त में अन्तर है, यदि कुछ समानता मिलती भी है तो केवल इसी कारण काव्य-रचना के कुछ सिद्धान्त शाश्वत व सार्वभौमिक होते हैं। कतिपय समानता निम्नवत् हैं-

1. दोनों ने ही काव्य के लिए कल्पना को एक अनिवार्य तत्व के रूप में देखा है। क्रोचे ने सहजानुभूति को कल्पनाजन्य क्रिया माना है। क्योंकि कल्पना ही सहजानुभूति को बिम्बों के माध्यम से मूर्त नहीं करता लेकिन अप्रत्यक्ष रूप से उसे शक्ति की ओर संकेत करता है जिससे उक्ति-वैचित्र्य और अर्थ में चमत्कार उत्पन्न होता है।

2. दोनों ने ही अभिव्यंजना के सौन्दर्य को अखण्ड रूप में देखा है क्योंकि उनके अनुसार सफल अभिव्यंजना का नाम सौन्दर्य है। इसलिए कुन्तक ने रीतियों के उत्तम, मध्यम या अधम भेद नहीं माने- ''न च रीतीनाम् उत्तमाधम-मध्यम भेदेन त्रैविध्यम् व्यवस्थापयितुम् नाट्यम।'' इसी प्रकार क्रोचे ने भी अभिव्यक्ति में सौन्दर्य की न्यूनाधिकता को स्वीकार करना अभिव्यक्ति को ही असफल बनाना माना है।

3. दोनों ने ही अभिव्यंजना को काव्य का प्राण तत्व माना है। दोनों के ही अनुसार वस्तु का इतना महत्व है जितना अभिव्यंजना का है, क्योंकि दोनों ने ही सौन्दर्य का निवास वस्तु या भाव में न मानकर उक्ति में माना है।

4. दोनों ही कलावादी आचार्य हैं।

दोनों के ही सिद्धान्त में असमानताएँ निम्नवत् हैं-

1. अभिव्यंजना को ही काव्य स्वीकार करने वाले दोनों आचार्यों के अर्थ में भिन्नता है। क्रोचे द्वारा प्रयुक्त अभिव्यंजना का वह अर्थ नही जो कुन्तक का है। कुन्तक ने आलंकारिक उक्ति, वैधग्यपूर्ण शैली व कलात्मक अभिव्यक्ति पर बल देते हुए चमत्कार पूर्ण उक्ति को काव्य माना। इसके विपरीत दार्शनिक बेनेदेतो क्रोचे ने सहजानुभूति को अभिव्यंजना माना। उनके लिए अनुभूत वस्तु से अलग शैली का कोई अस्तित्व नहीं है। मानस-काव्य को ही काव्य मानते हुए शब्द-बद्ध काव्य को उन्होंने महत्व नहीं दिया। इस दृष्टि से जहाँ कुन्तक अभिव्यंजना को एक बाह्य क्रिया मानते हैं, वहीं बेनेदेतो क्रोचे अभिव्यंजना को आन्तरिक क्रिया स्वीकार करते हैं।

2. कुन्तक के सिद्धान्त में अलंकारों के लिए अवकाश है लेकिन अभिव्यंजनावाद में अलंकार की सत्ता ही अमान्य है। सहज अभिव्यक्ति के रूप में अलंकार आ जाये तो अलग बात है।

3. वक्रोक्ति का आधार कवि-कौशल है। अतः उसका रस से घनिष्ठ और अनिवार्य सम्बन्ध नहीं है, लेकिन अभिव्यंजना सहजानुभूति पर आश्रित होने के कारण रसान्वित होती है।

4. वक्रोक्ति का सम्बंध बुद्धि से है। 'वैदग्ध्यभंगी भणिति' में 'भंगी' शब्द चमत्कार का अर्थ देता है और 'चमत्कार' बुद्धि से ही उत्पन्न किया जा सकता है जबकि अभिव्यंजना कल्पना प्रेरित है।

5. वक्रोक्ति वाद कला के मूर्त रूपों पर आधारित है जबकि अभिव्यंजनावाद में सूक्ष्म आध्यात्मिक क्रिया ही सब कुछ है।

6. वक्रोक्ति का सम्बंध केवल काव्य से है, अन्य ललित कलाओं से नहीं, जबकि अभिव्यंजना सभी कलाओं में अपेक्षित है। इस दृष्टि से वक्रोक्ति का क्षेत्र अभिव्यंजना से संकुचित है।

7. कुन्तक काव्य में क्रोचे की अपेक्षा वस्तु तत्व को अधिक स्वीकृति देते हैं। जबकि क्रोचे वस्तु को अरूप संवेदन जाल मानते हैं, जिसका अभिव्यंजना के बिना कोई अस्तित्व नहीं है।

8. क्रोचे ने विषय और शैली का भेद नहीं माना है, जैसे फिल्टर में पानी छानने पर जल थोड़े से परिवर्तन के साथ पुनः प्रकट हो जाता है, ठीक उसी प्रकार अभिव्यक्त विषय (विषय शैली) अनुभूत विषय का व्यक्त रूप है। इसके विपरीत कुन्तक की दृष्टि में विषय और शैली में अन्तर हो सकता है। उन्होंने शैली के भेदों में वर्ण-विन्यास वक्रता, पद-परार्ध, वक्रता, प्रबन्ध वक्रता आदि अनेक भेद माने हैं। कुन्तक ने उक्ति और अभिव्यंजना को अखण्ड माना जबकिं कुन्तक की बहिर्मुखी दृष्टि उक्त को खण्ड-खण्ड रूप में देखती है।

9. क्रोचे ने काव्य का लक्ष्य स्वान्तः सुखाय माना है जबकि कुन्तक सहृदय के मन को प्रसन्नता देने का भी लक्ष्य मानते हुए इसे 'परजन हिताय' भी बना देते है।

10. क्रोचे ने सहजानुभूति को काव्य की आत्मा माना जबकि कुन्तक ने कवि-व्यापार को। यहाँ क्रोचे सहजानुभूति के रूप में केवल भावन-व्यापार में ही काव्य की आत्मा को देख रहे हैं, रचना-प्रक्रिया को नहीं। वहीं कुन्तक वक्रता को कवि की अन्तः प्रेरणा मानते हुए भी रचना-कौशल के महत्व को भी स्वीकार करते हैं।

11. कुन्तक की दृष्टि में चमत्कार पूर्ण, चमत्कार हीन उक्ति, वार्ता और वक्रोक्ति में भेद है। वही क्रोचे की दृष्टि में चमत्कार पूर्ण, चमत्कार हीन, वक्र और ऋजु उक्ति में कोई भेद नहीं है।

12. क्रोचे उस आत्मिक सौन्दर्य को महत्व देते हैं जो उसे सहजानुभूति के क्षण में प्राप्त था न कि उस बाह्य प्रयास को जिसे कुन्तक महत्व देते हैं और जिसे वे अभ्यास द्वारा प्राप्त करने की चेष्टा करते हैं।

अन्ततः हम कह सकते हैं कि कुन्तक और क्रोचे की मान्यताओं में प्र्याप्त अन्तर है। कुंतक रचना-कौशल पर बल देते हैं जबकि क्रोचे इसके प्रति उदासीन हैं। क्रोचे का तो स्पष्ट मानना है कि आन्तरिक अभिव्यंजना बाह्य अभिव्यंजना को स्वतः ही सुन्दर बना देती है। इसके लिए शाब्दिक अलंकरणों की कोई खास आवश्यकता नही है।

क्रोचे की विचारधारा पर भले ही कितने आक्षेप लगे हो, अभिव्यंजनावाद साहित्य के क्षेत्र में एक सशक्त और महत्वपूर्ण वाद है। अभिव्यंजना शब्द के अन्दर केवल अभिव्यक्ति ही नहीं अनुभूति पक्ष भी समाहित है। भारतीय समालोचकों में बाबू गुलाबराय, डा0 सुधांशु और डा0 नगेन्द्र अभिव्यंजनावाद से सर्वाधिक प्रभावित हैं। क्रोचे मूलतः दार्शनिक थे, अतः उनका अभिव्यंजनावाद दर्शन के क्षेत्र में एक अनूठी कृति है।

बोध प्रश्न -

(2) नीचे दिए गए कथनों में से कुछ सही हैं, कुछ गलत। उपर्युक्त चिह्न लगाकर स्पष्ट कीजिए।

1. सम्पन्न परिवार में जन्म लेने के कारण उनकी स्थिति अच्छी थी।
2. क्रोचे मार्क्सवाद के कट्टर आलोचक थे।
3. क्रोचे का कला संबन्धी मूलग्रंथ इस्टिटिका 1905 में प्रकाशित हुआ।
4. 'ला क्रितीका' पत्रिका 1902 में निकाली गई।
5. क्रोचे अनुभूति और अभिव्यक्ति को भिन्न-भिन्न मानते हैं।

13.7 बेनेदेतो क्रोचे का महत्व और प्रासंगिकता

बेनेदेतो क्रोचे यूरोप के आधुनिक युग के एक ऐसे मूर्धन्य कोटि के विचारक थे जिनके सिद्धान्तों ने यूरोपीय साहित्य-जगत में एक अद्भुत वैचारिक क्रान्ति उत्पन्न कर दी थी। उन्हें अभिव्यंजनावाद का प्रवर्तक माना जाता है। इटली के जन मानस को उन्होंने अपने विचारों से इतने गहरे रूप से प्रभावित किया कि 1900 ई0 से 1950 तक की इटली को क्रोचे की इटली कहना ही सही प्रतीत होता है।

क्रोचे मूल रूप से काव्यशास्त्रीय विचारक न होकर आत्मवादी दार्शनिक थे। आरम्भ में भक्तिवाद से प्रभावित क्रोचे आगे चलकर मार्क्सवाद के कट्टर विरोधी बन गये थे। आधुनिक युग के भौतिकवाद के विरुद्ध क्रोचे ने अपने ही ढंग से आत्मा की अन्तः सत्ता की प्रतिष्ठा की थी। काव्यशास्त्र विषय न होने

पर भी उन्होंने आत्मा की एक विशिष्ट क्रिया के रूप में सौन्दर्य सिद्धान्त की विवेचना की थी। उनके 'सौन्दर्य सिद्धान्त के प्रभाव ने कला और साहित्य के सैद्धान्तिक तथा व्यावहारिक दोनों क्षेत्रों में इतना व्यापक रूप धारण कर लिया कि उनके दर्शन की अपेक्षा सौन्दर्य शास्त्र का ही प्रचार और प्रसार अधिक हुआ। उनके इस सौन्दर्य-सिद्धान्त ने ही यूरोप में अभिव्यंजनावाद नामक एक सर्वथा नवीन साहित्यिक-सम्प्रदाय को जन्म दिया था, जो मध्ययुगीन कलावाद का ही एक अभिनव रूप था। अभिव्यंजना को ही सर्वेसर्वा मानने वाले क्रोचे मानते हैं कि अभिव्यंजना ही सौन्दर्य है।

क्रोचे के पूर्व भी दार्शनिक सौन्दर्यानुभूति के संदर्भ में वस्तु तथा चेतना के सापेक्ष महत्व पर विचार करते रहे। क्रोचे ने कला के संदर्भ में बाह्य जगत की सत्ता तथा उपयोगिता, दोनों को ठुकराया। क्रोचे के काव्य दर्शन में सूक्ष्म उद्भावनाएँ है। विषय-निरूपण गंभीर होते हुए भी विशद् है। अतिवादिता से संतुलन अनेक स्थानों पर बाधित होने पर भी बीसवीं शताब्दी के कला विवेचकों और सौन्दर्य शास्त्रियों में वे निःसन्देह स्थायी महत्व के अधिकारी हैं। मूलतः अभिव्यंजनावाद कला की रचना प्रक्रिया का सिद्धान्त है।

क्रोचे प्रासंगिक इसलिए भी हैं उनके प्रभाव के कारण कला और साहित्य को दार्शनिक, बौद्धिकता, नैतिकता, एवं उपयोगिता के नियंत्रण से मुक्ति मिली तथा साथ ही शैली के बाह्य एवं आरोपित चमत्कारिक तत्वों की अपेक्षा अनुकृति की सहज अभिव्यक्ति को बल मिला। अतः कला का लक्ष्य केवल कला या सौन्दर्य मानने वालों की दृष्टि से क्रोचे का महत्व अत्यधिक है।

बोध प्रश्न 3 -

केवल पाँच-छह पंक्तियों में उत्तर दीजिए।

1. क्रोचे की तद्युगीन परिस्थितियाँ क्या थीं?

.....

.....

.....

.....

.....

.....

2. विषय और शैली में अभिन्नता से कवि का क्या आशय है?

.....

.....

.....

.....

.....

.....

(4) रिक्त स्थानों की पूर्ति कीजिए

1. क्रोचे ने .....को ही अभिव्यंजना माना है।
2. क्रोचे ने .....को संवेदना तथा प्रभाव से भिन्न माना है।
3. सम्पन्न परिवार में जन्म लेने के कारण उनकी.....अच्छी थी।
4. क्रोचे ने काव्य का लक्ष्य .....माना है।
5. भारतीय समालोचकों में .....और .....अभिव्यंजनावाद में सर्वाधिक प्रभावित है।

13.8 सारांश

प्रस्तुत इकाई के उपरांत आप जान चुके हैं कि मूलतः दार्शनिक और सौन्दर्य शास्त्री रहे क्रोचे के पीछे एक ओर कलावादी, व्यक्तिवादी दृष्टि थी तो दूसरी ओर इससे कुछ कम विस्तृत किंतु यथेष्ट प्रभावशाली अनुभववादी तथा भौतिकवादी दृष्टि। अध्ययन करते हुए उन्होंने अनुभव किया कि कला की सही समझ के लिए मात्र तथ्यों की जानकारी एकत्र करना व्यर्थ है। कलावादी सिद्धान्त के अनुसार कला के मूल्यांकन के लिए सामाजिक, नैतिक, आर्थिक आदि वस्तुपरक कसौटियों का उपयोग अनावश्यक ही नहीं, त्याज्य है। आपने सहजानुभूति के लिए भी कलाकार की चेतना, उसके मानस को ही अंतिम सत्य माना, बाह्य जगत अथवा उसके उपकरणों को नहीं।

13.9 शब्दावली

1. अविरल- निरन्तर
2. सहजानुभूति- मानसिक वित्रों या बिंबों द्वारा संवेगों की अभिव्यंजना ही सहजानुभूति है।
3. आहरित- लिया गया
4. प्रतिपादक - कर्ता, बनाने वाला, प्रस्तुत करने वाला
5. व्यैक्तिक - निजी, अपना, प्राइवेट
6. अनुकृति - नकल

7. वैषम्य - अन्तर

13.10 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर

बोध प्रश्न (2) का उत्तर

1. (√)
2. (√)
3. (×)
4. (√)
5. (×)

बोध प्रश्न (4) का उत्तर

1. सहजानुभूति
2. सहज ज्ञान
3. आर्थिक स्थिति
4. स्वान्तः सुखाय
5. बाबू गुलाबराय, डॉ0 सुधांशु, डा नगेन्द्र

13.11 उपयोगी पाठ्य सामग्री

1. पश्चात्य काव्यानुशीलन, डॉ0 मृदुल जोशी, प्र0सं0 2010, प्र0 सत्यम् पब्लिशिंग हाउस, नई दिल्ली

2. पाश्चात्य साहित्य चिंतन, निर्मला जैन/ कुसुम बाँठिया, सं0 2000, प्र0 राधाकृष्ण प्रकाशन प्राइवेट लि0 जी0-17, जगतपुरी, दिल्ली

3. पाश्चात्य काव्यशास्त्र, डा0 विजयपाल सिंह, प्र0सं0-1999, प्र0- जयभारती प्रकाशन, इलाहाबाद

4. पाश्चात्य काव्यशास्त्र, डॉ भगीरथ मिश्र, सं0 1999 प्र0 विश्वविद्यालय प्रकाशन, चौक, वाराणसी।

13.12 निबंधात्मक प्रश्न

1. बेनेदेतो क्रोचे का जीवन एवं साहित्यिक परिचय देते हुए उसके प्रमुख साहित्य सिद्धान्तों का समीक्षात्मक विवरण दीजिए।

2. 'अभिव्यंजनावाद' से आप क्या समझते है ? सविस्तार विवेचना कीजिए तथा अभिव्यंजनावाद और वक्रोक्ति सिद्धान्त में साम्य एवं वैषम्य स्पष्ट कीजिए।

इकाई 14 टी0एस0 इलियट : परिचय एवं सिद्धांत

इकाई की रूपरेखा

14.1 प्रस्तावना
14.2 उद्देश्य
14.3 इलियट तत्कालीन परिस्थितियाँ और साहित्यिक परिवेश
14.4 टी0एस0 इलियट: जीवन परिचय और महत्वपूर्ण कृतियाँ
14.5 टी0एस0 इलियट के सिद्धान्त की अन्तर्वस्तु
14.5.1 क्लासिकवाद: अर्थ एवं अभिप्राय
14.5.2 निर्व्यैक्तिकता का सिद्धान्त
14.5.3 कविता के तीन स्वर
14.5.4 वस्तुनिष्ठ समीकरण का सिद्धान्त
14.6 काव्यभाषा सम्बन्धी विचार
14.7 टी0एस0 इलियट का महत्व और प्रासंगिकता
14.8 सारांश
14.9 शब्दावली
14.10 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर
14.11 उपयोगी पाठ्य सामग्री
14.12 निबंधात्मक प्रश्न

14.1 प्रस्तावना

इस के पूर्व आपने पाश्चात्य काव्यशास्त्र के विषय में विस्तार से अध्ययन कर लिया है।

प्रस्तुत इकाई में आप आधुनिक यूरोप (पाश्चात्य) के सर्वाधिक चर्चित कवि, विचारक एवं साहित्यशास्त्री टी0एस0 इलियट के व्यक्तित्व एवं कृत्तित्व के विषय में विस्तार से अध्ययन करेंगे।

प्रस्तुत इकाई के अध्ययन के पश्चात आप आधुनिक पश्चिम के सामाजिक , सांस्कृतिक एवं साहित्यिक परिवेश के अध्ययन के साथ-साथ महान विचारक इलियट के साहित्यिक अवदान एवं प्रासांगिकता को समझ सकेंगे।

14.2 उद्देश्य

इस इकाई का अध्ययन करने के बाद आप-

1. पाश्चात्य विचारक टी0एस0इलियट के जीवन परिचय तथा तद्युगीन परिस्थितियों से अवगत हो सकेंगे।
2. वर्तमान पाश्चात्य साहित्य के विकास में टी0एस0इलियट की सही परख और पहचान कर सकेगे।
3. टी0एस0इलियट की विषयवस्तु तथा पृष्ठभूमि को समझ सकेंगे।
4. वर्तमान परिवेश में इलियट की महत्ता और प्रासंगिकता को समझ सकेंगे।

14.3 इलियट: तत्कालीन परिस्थितियाँ और साहित्यिक परिवेश

इलियट की गणना बीसवीं शताब्दी के सबसे प्रभावशाली और समर्थ समीक्षकों में की जाती है। सन् 1915 से आपने लेखन प्रारम्भ करने वाले इलियट के समय का अंग्रेजी काव्य ह्रासोन्मुख और आलोचना दिशाहीन थी। 19वीं शताब्दी के आरम्भ में रोमान्टिक कवियों (वर्ड्सवर्थ कॉलरिज तथा शैली आदि) ने जिस आलोचना का सूत्रपात किया था उसमें कवि की वैयक्तिकता, भावना और कल्पना का प्राधान्य था। इसके बाद वैयक्तिकता के इस अतिरेक को अवैयक्तिकता से संतुलित करने का प्रयास मैथ्यू आर्नल्ड ने किया लेकिन साहित्य की अपेक्षा संस्कृति और काव्य की अपेक्षा धर्म की ओर उन्मुख होने के कारण आपेक्षित सफलता उन्हें नहीं मिली। इसी दौरान 19वीं शताब्दी के अंतिम चरण में वाल्टर पेटर (1809-93) और आस्कर वाइल्ड (1856-1900) द्वारा प्रवर्तित कलावाद (कला, कला के लिए) अपनी अतिवादी भंगिमा के साथ साहित्य में अवतरित हुआ। इन्हीं में से सेन्ट्सबरी की आलोचना ऐतिहासिक और जीवनी मूलक थी अर्थात् आलोचना की इन पद्धतियों में कवि की प्रधानता और कृति की गौणता थी।

इन सभी की प्रतिक्रिया स्वरूप इलियट ने कहा कि सच्ची आलोचना तथा परिशंसा का लक्ष्य कवि नहीं बल्कि काव्य है। इसी एक कथ्य के माध्यम से इन्होंने पूरी एक शताब्दी की व्यक्तिवादी आलोचना को चुनौती ही नहीं दी वरन् उसे एक नया मोड़ भी दिया। अपने लेख 'ट्रेडिशन एण्ड दि इन्डीविजुअल टेलैन्ट' के द्वारा इन्होंने रोमान्टिक सम्प्रदाय की व्यक्तिवादिता के बदले परम्परा का महत्व स्थापित किया और परम्परा के अन्तर्गत ही वैयक्तिक प्रज्ञा की सार्थकता प्रदर्शित की।

इससे इतर साहित्यिक परिवेश की बात की जाए तो इलियट की सृजनशीलता, आलोचना, कर्त्तव्य की दृष्टि से ही नहीं अपितु कीर्ति की दृष्टि से भी परस्पर सहायक और पूरक है। सन् 1915 में उनके लंदन पहुँचने पर इन्हें दो समर्थ साहित्यिकारों के निकट संपर्क में आने का मौका मिला। टी0ई0ह्यूम और

एजरा पाउन्ड, दोनों बिम्बवादी आन्दोलन के प्रतिभाशाली तथा प्रभावशाली नेता थे। इन दोनों के सम्पर्क में आते ही न केवल इलियट के चिंतन को एक नई दिशा मिली अपितु उन्हें अपार यश भी प्राप्त हुआ।

'दि वेस्टलैण्ड' के प्रकाशित होने से पूर्व इलियट की कुछ कविताएँ और समीक्षाएँ भी आयीं लेकिन पाठकों को अपनी और आकृष्ट न कर सकीं। 1920 ई0 में इलियट की प्रथम आलोचनात्मक कृति 'दि सैक्रेड वुड' में संग्रहीत लेख 'ट्रेडिशन एण्ड दि इन्डिविजुअल टेलेन्ट' का प्रकाशन न केवल इलियट के लिए अपितु अंग्रेजी साहित्य के लिए भी महत्वपूर्ण घटना साबित हुआ। साहित्य जगत में इस कृति के माध्यम से इलियट ने अभूतपूर्व प्रतिष्ठा पाई।

14.4 टी0एस0इलियट: जीवन परिचय और महत्वपूर्ण कृतियाँ

पाश्चात्य साहित्य जगत में युगान्तकारी और नवीनधारा का आगाज करने वाले विख्यात कवि, नाटककार तथा आंग्ल-अमरीकी नयी आलोचना के जनक टी0एस0इलियट का जन्म 26 सितंबर, 1888 में सेंटलुई(अमरीका) के प्रतिष्ठित परिवार में हुआ था। इनके पितामाह रेवरेण्ड ग्रीनलीफ इलियट वाशिंगटन यूनिवर्सिटी के संस्थापक तथा 1872 ई0 में उसके चांसलर थे। इनके पिता हेनरी वेयर इलियट एक व्यापारी तथा माँ कवयित्री थीं।

उनकी प्रारम्भिक शिक्षा सेण्टलुई में और उच्च शिक्षा हारवर्ड में हुई। सन् 1909 में बी0ए0 किया तथा एक दो वर्ष फ्रान्स में रहने के बाद सन् 1911 में हारवर्ड वापस लौटकर भारतीय दर्शन का अध्ययन करने लगे। ये हार्वर्ड विश्वविद्यालय में प्रो0 इर्विंग बेबिट के शिष्य थे। इनके शिक्षकों में आयरविंग वैकिवट जैसे मानवतावादी आलोचक तथा जार्ज सांतायना जैसे सौन्दर्यशास्त्री भी थे। इलियट पर इन दोनों शिक्षकों का प्रभाव पड़ा। उनके अध्ययन के विषय पूर्व का दर्शन और संस्कृत थे। इनके संस्कृत शिक्षक हारवर्ड के सुप्रसिद्ध विद्वान 'चार्ल्स लैनमैन' थे।

इलियट समकालीन अंग्रेजी कवियों में सर्वाधिक चर्चित व्यक्ति रहे। हावर्ड के अतिरिक्त इनकी शिक्षा सॉबोन(फ्रांस), फिलिप्स(जर्मनी) तथा ऑक्सफोर्ड(इंग्लैण्ड) विश्वविद्यालयों में भी कुछ समय सम्पन्न हुई।

अपना कार्य-जीवन लड़कों के स्कूल में अध्यापन से शुरू करने वाले इलियट ने 'लायड्स बैंक' में कई वर्ष क्लर्की की और अन्ततः सन् 1917 से पूर्णरूप से लेखन-संपादन और प्रकाशन पर निर्भर रहना शुरू कर दिया। सन् 1913 में इंग्लैण्ड में बसने के बाद इन्होंने ब्रिटिश साहित्यिक पत्रिका 'ईगोइस्ट' के सहकारी संपादन का भार संभालते हुए सन् 1922 में त्रैमासिक समीक्षा-पत्रिका 'क्राइटेरियन' की

स्थापना की तथा 1925 में वे 'फेवर एंड फेवर' नामक प्रकाशन संस्थान से जुड़े और अन्ततः उसके निदेशक नियुक्त हुए।

ब्रिटिश नागरिकता (सन् 1927 में) ग्रहण करने के बाद सन् 1948 में इनको साहित्य का नोबेल पुरस्कार और ब्रिटिश 'ऑर्डर ऑफ मेरिट' (ओ0एम0) की उपाधि भी मिली। इलियट दो बार अमरीकी विश्वविद्यालयों में विज़िटिंग प्रोफेसर के रूप में भी आमंत्रित किये गये। आपने सन् 1928 में एंग्लिकन चर्च में दीक्षा ली जिसका इलियट जीवन और चिंतन में विशेष महत्व समझा जाता है।

21वीं सदी के कविता-आन्दोलन को गति और प्रौढ़ता प्रदान करने वाले कवि और आलोचक रहे इलियट की प्रमुख रचनाएँ- 'द लव साँग ऑफ एल्फर्ड प्रूफ्रॉक(1915), 'द वेस्ट लैंड(1922) और 'फोर क्वार्टेट्रस'(1943) और नाटकों में 'मर्डर' इन द कैथिड्रल'(1935), 'द फेमिली रीयूनियन' (1939) और 'द कॉकटेल पार्टी', (1950) विशेष लोकप्रिय हुई। उनकी समालोचना में 'द सेक्रेड वुड' (1920), होमेज टु जॉन ड्राइडन 'एलिजाबेथेन एसेज'(1932), 'द यूज़ ऑफ पोएट्री एंड द यूज ऑफ क्रिटिसिज्म'(1933), 'सेलेक्टेड एसेज़'(1934) और 'एसेज एन्शेट एंड मार्डन'(1936) विशेष प्रसिद्ध हुई।

काव्य, नाटक, समाजशास्त्र, धर्मशास्त्र पर अपनी लेखनी चलाने वाले इलियट अपने बहुमुखी साहित्य-सृजन तथा मौलिक विचारों के कारण अंग्रेजी-साहित्य के बीसवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध के एक महान् साहित्यकार माने जाते हैं।

बोध प्रश्न 1- नीचे दिए गए कथनों में से कुछ सही है, कुछ गलत। उपर्युक्त चिह्न लगाकर स्पष्ट कीजिए-

1) टी0एस0इलियट का जन्म 26 सितम्बर, 1888 में सेंटालुई (अमरीका) के प्रतिष्ठित परिवार में हुआ। ( )

2) टी0एस0इलियट के पिता रेव0ग्रीनलीफ इलियट थे। ( )

3) इलियट की प्रारम्भिक शिक्षा सेण्टलुई में और उच्च शिक्षा हारवर्ड मे हुई। ( )

4) इलियट को साहित्य नोबेल पुरस्कार 1948 में मिला। ( )

5) इलियट के संस्कृत गुरु का नाम प्रो0 इर्विंग बेविट था। ( )

बोध प्रश्न 2- दो तीन पंक्तियों में उत्तर दीजिए-

1. इलियट के प्रमुख नाटकों के नाम बताइए?

.....

.....

.....

2. इलियट ने अनेक समालोचना प्रस्तुत की। उनकी विशेष प्रसिद्ध समालोचनाओं के नाम बताइए?

.....

.....

.....

14.5 टी0एस0 इलियट के काव्य-सिद्धान्त की अन्तर्वस्तु

साहित्य और दर्शन के गहन अध्येता, कवि और सुप्रसिद्ध समीक्षक टी0एस0इलियट बीसवीं शताब्दी के सबसे प्रभावशाली और समर्थ समीक्षकों में गिने जाते हैं। इलियट अपना आदर्श साहित्य-चिन्तक अरस्तू को मानते थे। इन्होंने साहित्य की प्राचीन मान्यताओं की पुनः स्थापना की। इन पर बिम्बवाद, प्रतीकवाद, कलावाद और अभिव्यंजनावाद का प्रभाव होने के बाद भी साहित्य में इनके विचार बड़े सन्तुलित थे। बिम्बवादी आन्दोलन में तो एजरा पाउण्ड और टी0एस0इलियट का महत्वपूर्ण योगदान रहा। इन्होंने व्यक्तिगत दृष्टिकोण के स्थान पर वस्तुवादी दृष्टिकोण को महत्व प्रदान किया। इनके काव्य-सिद्धान्त को कुछ इस प्रकार से समझा जा सकता है-

14.5.1 क्लासिकवाद

अर्थ एवं अभिप्राय- स्वयं को क्लासिकवादी कहने वाले इलियट क्लासिक का अर्थ परिपक्वता या प्रौढ़ता मानते हैं। उनका निश्चित मानना था कि क्लासिक साहित्य की सृष्टि तभी हो सकती है जब सभ्यता, भाषा और साहित्य प्रौढ़ हो और स्वयं कृतिकार का मस्तिष्क भी प्रौढ़ हो। मस्तिष्क की प्रौढ़ता के लिए इलियट ऐतिहासिक ज्ञान और इतिहास-बोध को जरूरी मानते थे। उनका मानना था कि कवि और साहित्यकार को अपने देश और जाति के इतिहास के साथ-साथ अन्य सभ्य जातियों का भी ज्ञान होना चाहिए। इलियट चरित्र की प्रौढ़ता को भी आवश्यक मानते हैं, क्योंकि उसके बिना आदर्श चरित्र का निर्माण नहीं हो सकता।

इसके साथ-साथ इलियट उत्कृष्ट रचना के लिए भाषा की प्रौढ़ता को भी आवश्यक मानते हैं। भाषा प्रौढ़ हो इसके लिए वे पूर्ववर्ती महान् कवियों और साहित्यकारों की भाषा के अध्ययन को अपेक्षित एवं महत्वपूर्ण मानते हैं। इलियट कहते है कि महान् कवि क्लासिक हो, यह आवश्यक नहीं। जहाँ महान् कवि केवल एक विधा में चरम उत्कर्ष तक पहुँचता है और सदा के लिए उसकी सम्भावना को समाप्त कर देता है वहीं क्लासिक कवि वह है जो विधा को ही नहीं, भाषा को भी पराकाष्ठा तक पहुँचाकर उसके आगे के विकास की सम्भावना को समाप्त कर देता है। अतः क्लासिक कवि के लिए मस्तिष्क

की प्रौढ़ता, शील की प्रौढ़ता, भाषा-शैली की प्रौढ़ता और दृष्टिकोण की सार्वभौमता अनिवार्य तत्व है। उसमें संकीर्णता और सीमित धार्मिक चेतना नहीं होनी चाहिए। इलियट का क्लासिकवाद और तटस्थता का मत पूर्व के स्वच्छन्दतावाद और व्यक्तिवाद के विरोध में था।

दूसरे चरण में इलियट के परम्परा और इतिहास-बोध की बात की जाए तो वह परम्परा के अन्धानुकरण को नहीं वरन् उसके बोध को जरूरी मानते हैं। ऐतिहासिक बोध से उनका आशय अतीत को वर्तमान में देखना है क्योंकि इतिहास, वर्तमान के परिप्रेक्ष्य में ही साहित्य के लिए प्रासंगिक होता है और जो आधुनिक दृष्टि में प्रौढ़ता प्रदान करता है। इलियट का परम्परा ज्ञान से आशय रूढ़ि-पालन से नहीं था क्योंकि उसके ज्ञान से उसके प्रति विंद्रोह भी पैदा हो सकता है। लेकिन यह स्वीकार्य करना चाहिए या उसके प्रति विद्रोह हो- यह तभी निश्चित हो सकता है, जब उसका सही ज्ञान हो। परम्परा का यही सही ज्ञान एक साहित्यकार को यह ज्ञान देता है कि उसे क्या करना है तथा कृति का परम्परा के बीच मूल्य क्या है? अतः स्पष्ट हो जाता है कि इलियट का मौलिक दृष्टिकोण अतीत को वर्तमान में देखना है।

14.5.2 निर्व्यैक्तिकता का सिद्धान्त

इलियट का प्रसिद्ध लेख 'परंपरा और व्यक्ति-प्रज्ञा' इलियट की समस्त आलोचना का आधार है। इनका यह सिद्धान्त कला या कविता में निर्वैयक्तिकता बहुत प्रसिद्ध हुआ। एज़रा पाउण्ड से प्रभावित इलियट का मानना था कि कवि को वैज्ञानिक की भाँति निर्वैयक्तिक होना चाहिए। परम्परा का अनुसरण आवश्यक मानते हुए भी आप वैयक्तिकता के विरोधी हैं। उनका मानना है कि परम्परा के ज्ञान से आत्मनिष्ठता नियन्त्रित होती है। व्यक्तित्व के सिद्धान्त को न मानने वाले इलियट का मत है कि कवि अपने व्यक्तित्व का अध्ययन नहीं करता है, वह तो किसी वस्तु की अभिव्यक्ति का विशिष्ट माध्यम मात्र है। ऐसे में उसका कर्त्तव्य बनता है कि वह ईमानदारी के साथ अपने निजत्व से पलायन करके जिसका निरूपण कर रहा हो, उससे पूर्णरूप से एकनिष्ठ हो। वह कहते हैं कि वास्तव में कवि कविता नहीं लिखता, कविता तो स्वयं कवि के माध्यम से प्रकट होती है। समय के चलते उनके इन विचारों में परिवर्तन भी हुआ और उन्होंने निर्वैयक्तिकता के दो रूप स्वीकार किये- प्रथम वह जो कुशल शिल्पी मात्र के लिए सहज या प्राकृतिक होती है तथा दूसरी जो प्रौढ़ कलाकार द्वारा अधिकांश रूप में उपलब्ध की जाती है। अर्थात् उनका आशय है कि कवि के यद्यपि निजी भाव होते हैं, पर वे इस प्रकार अभिव्यक्त होते हैं कि सर्वसाधारण के भाव बन जाते हैं। यही कवि का व्यक्तिगत से पलायन, निर्वैयक्तिकता है।

14.5.3 कविता के तीन स्वर

कविता के तीन स्वर बताने वाले इलियट का कहना है कि प्रथम कविता वह है जिसमें कवि अन्य से नहीं स्वयं से बात करता है, द्वितीय वह जिसमें वह श्रोताओं से बात करता है और तृतीय वह जिसमें

कवि स्वयं वक्ता न होकर पात्रों के माध्यम से श्रोताओं से बात करता है। इन्हें हम इस रूप में भी कह सकते है- 1. प्रगीत-काव्य, 2 प्रबन्ध काव्य तथा 3 नाटक।

इलियट का इस सम्बन्ध में विचार था कि कविता का अनुवाद नहीं किया जा सकता। वह (कविता) भाव-प्रधान होती है। प्रत्येक राष्ट्र और जाति की अनुभूति शक्ति की अपनी निजी विशिष्टता होती है। अगर उसके प्रथम प्रकार के स्वर को देखें तो कवि का लक्ष्य सम्प्रेषण अर्थात् दूसरों तक अपने भाव पहुँचाना नहीं होता। वह तो एक प्रकार से भार से व्यथित रहता है और अपनी बात कह उससे छुटकारा पाता है। इस प्रकार की कविता आन्तरिक वस्तु अपना रूप स्वयं निर्मित करने में प्रवृत्त होती है तथा वस्तु और रूप साथ-साथ विकसित होते चलते हैं। इस प्रकार की कविता के सम्बन्ध में इलियट कहते भी है कि कविता स्वयं अवतरित हो जाती है, लिखी नहीं जाती। ऐसी स्थिति में कवि केवल माध्यम होता है। हिन्दी साहित्य की 'नई कविता' इसी का प्रमाण है।

दूसरे स्वर में कविता किसी सजग सामाजिक उद्देश्य, मनोरंजन या उपदेश के लिए के लिए लिखी जाती है। ऐसी कविताओं में कुछ अंश तक 'रूप' पूर्वनिर्धारित होता है। महाकाव्य में भी यही स्वर प्रधान होता है। उपर्युक्त विवरण से स्पष्ट हो जाता है कि दूसरे और तीसरे स्वरों की कृतियों को इलियट कवि की अचेतावस्था में उद्भूत नहीं मानते। इसमें वह पूर्ण सजग होकर अपने व्यक्तित्व से कृति का निर्माण करता है। वह व्यक्तित्व से पलायन नहीं करता वरन् व्यक्तित्व से निर्माण करता है। इस सम्बन्ध में इलियट ने कहा भी है कि ''यदि कवि ने निज से कभी कुछ नहीं कहा, तो उसकी कृति कविता नहीं होगी, शानदार वक्त्व भले ही हो किन्तु यदि कवि ने नितान्त अपने लिए कविता लिखी है, तो वह एक व्यक्तिगत और अपरिचित भाषा में होगी; जो कविता केवल कवि के लिए होगी वह कविता नहीं हो सकती।'' अतः स्पष्ट हो जाता है कि सामान्यतः कविता में उपरोक्त सभी प्रकार के तत्व विद्यमान रहते हैं।

14.5.4 वस्तुनिष्ठ समीकरण का सिद्धान्त

जब भी कोई कवि या साहित्यकार काव्य रचना में प्रवृत्त होता है तो उसके मूल में प्रेरक भाव कोई एक ही रहता है परन्तु बाद में अनेक भाव, संवेदन तथा विचार परस्पर मिलने लगते हैं और रचना के समापन तक न जाने कितने भावों, संवेदनों तथा विचारों का मिलन उसमें हो चुका होता है। कहने की आवश्यकता नहीं कि इन अमूर्त भावों का प्रत्यक्षीकरण नही हो सकता और भावक को अप्रत्यक्ष की अनुभूति नहीं हो सकती। ऐसे में प्रश्न उठता है कि इन्हें अनुभूति के योग्य कैसे बनाया जाए अर्थात् कवि के मन से श्रोता के मन तक संप्रेषण कैसे हो? इसी के समाधान हेतु इलियट ने मूर्त-विधान का सिद्धान्त प्रस्तुत किया है कि अमूर्त का संप्रेषण नही हो सकता, यह सिद्ध है। ऐसे स्थिति में एक ही मार्ग है कि

किसी मूर्त वस्तु की सहायता से अमूर्त को संप्रेषित किया जाए। इलियट का इस सम्बन्ध में कथन है, 'कला में भाव प्रदर्शन का एक ही मार्ग है, और वह यह है कि उसके लिए वस्तुनिष्ठ समीकरण को प्रस्तुत किया जाये। दूसरे शब्दों में ऐसी वस्तु संघटना, स्थिति, घटना-श्रृंखला प्रस्तुत की जाय जो उस नाटकीय भाव का सूत्र हो; ताकि ये बाह्य वस्तुएँ जिनका पर्यवसान मूर्त मानस-अनुभव में हो। जब प्रस्तुत की जायें तो तुरन्त भावोद्रेक हो जाये'। चाहें तो हम इलियट के इस वस्तुनिष्ठ समीकरण को विभाव-विधान भी कह सकते हैं अर्थात् कलात्मक दृष्टि से यह अनिवार्य है कि भाव की अभिव्यक्ति के लिए जैसा मूर्त-विधान अपेक्षित है वह वैसा ही हो, उसमें कोई कमी या त्रुटि न हो। यदि ऐसा हुआ तो भाव की सम्यक् अभिव्यक्ति नहीं हो पाएगी और अनुपातत रचना सदोष हो जाएगी। अन्ततः वस्तुनिष्ठता का सिद्धान्त पाश्चात्य साहित्य को इलियट की एक महत्वपूर्ण आलोचनात्मक देन है।

बोध प्रश्न 2 -

1. टी0एस0 इलिएट की कविता का क्या उद्देश्य था?

.....

.....

.....

2. बीसवीं शताब्दी के वह तीन समीक्षक कौन है जिन्होंने यूरोपीय समीक्षा को गहरे रूप में प्रभावित किया?

.....

.....

.....

.....

14.6 काव्य भाषा सम्बन्धी विचार

कोई भी रचना हो वह अपने आप में किसी न किसी भाव को समाहित किए रहती है। कविता भाव-प्रधान होती है। किसी भी राष्ट्र और जाति की अनुभूति-शक्ति की अपनी निजी विशिष्टता होती है जिसकी अभिव्यक्ति भाषा के माध्यम से होती है। अनुवाद में उसका प्रभाव स्पष्ट हो जाता है। इलियट भी यही कहते हैं कि कविता अनूदित नहीं हो सकती। ह्यूम ने कहा था कि युग के साथ-साथ कवि की अनुभूति में भी परिवर्तन होता रहता है। अतः परम्पराबद्ध भाषा कवि के नये दृष्टिकोण और अनुभूति को व्यक्त नहीं कर पाती। इसलिए कवि परम्परागत भाषा को छोड़कर नयी भाषा का निर्माण करता है।

कवि की अभिव्यक्ति का माध्यम भाषा ही है। इसी के माध्यम से वह समाज को नवीन संवेदन-शक्ति और भावानुभूतियाँ प्रदान करता है। इन नवीन संवेदनाओं को व्यक्त करने के लिए वह परम्परागत भाषा से संघर्ष करता है और उसे अपनी अभिव्यक्ति के अनुकूल बनाता है, उसे शक्ति प्रदान करता है तथा शब्दों को नये अर्थ और मुहावरे देता है। कवि की भाषा युग की भाषा के इतनी निकट होनी चाहिए कि श्रोता या पाठक उसे सुनकर या पढ़कर कह उठें कि मैं भी इसी प्रकार से अपनी बात कह सकता। वे मानते थे कि आधुनिक युग की कविता गाने के लिए नहीं बोलने के लिए लिखी जाती है, अतः उसका सम्बन्ध बोलचाल की भाषा से होना चाहिए।

इन सभी विषयों के साथ इलियट ने समीक्षा के सम्बन्ध में भी बहुत कुछ लिखा है। इलियट के अनुसार निष्पक्ष समीक्षा दार्शनिक विवेचक या निष्पक्ष समीक्षक ही कर सकता है, कवि नहीं। कवि तो केवल अपनी कविता के सम्बन्ध में कुछ विचार कर सकता है जिसका केवल सीमित मूल्य होता है। आलोचक में सूक्ष्म व प्रचुर संवेदन शक्ति होनी चाहिए। वह मर्मज्ञ, स्वतन्त्रचेता और पूर्वाग्रह से मुक्त होना चाहिए। समीक्षा का मूलभूत कार्य है रचना की व्याख्या कर उसका बोध कराना तथा उसका आनन्द पाठकों को दिलाना। ऐसा करने से वह लोक की साहित्यिक अभिरूचि बढ़ाता है।

समीक्षा और समीक्षक के साथ इलियट ने धार्मिक साहित्य के सम्बन्ध में भी अपने विचार प्रस्तुत किए। उनका मत है कि धार्मिक साहित्य में काव्यत्व हो सकता है; पर उसे काव्य के लिए पढ़ा नहीं जाता। जो कृति धर्म को काव्य के माध्यम से प्रकट करती है वह उत्कृष्ट नहीं होती, वह प्रचार काव्य है। परन्तु यदि किसी काव्य में बिना प्रयास धार्मिक प्रबुद्धता परिव्याप्त हो, तो वह उत्कृष्ट काव्य हो सकता है। यदि किसी काव्य में नैतिक, धार्मिक और सामाजिक प्रबुद्धता स्वतः स्फुरित हो तो वह सर्वोत्तम काव्य है। जो साहित्य हमें जीने की कला सिखाये, वह महान् साहित्य है।

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि इलियट बीसवीं शताब्दी के समर्थ समीक्षक थे। उन्होंने उत्कृष्ट और महान् साहित्य को कसौटी भी प्रदान की तथा उसके सृजन की प्रेरणा भी।

14.7 टी0एस0 इलियट का महत्व और प्रासंगिकता

इलियट की गणना बीसवीं शताब्दी के सबसे प्रभावशाली और समर्थ समीक्षकों में की जाती है। वे आधुनिक युग के न केवल सर्वश्रेष्ठ कवि हैं बल्कि आलोचनात्मक चित्तवृत्ति के समर्थ व्याख्याता भी हैं। साहित्य के सम्बन्ध में उनके विचार बड़े सन्तुलित हैं। उन्होंने व्यक्तिवादी दृष्टिकोण के स्थान पर वस्तुवादी दृष्टिकोण को महत्व प्रदान किया।

अपने समय की साहित्याभिरुचि पर इलियट का प्रभाव अप्रतिम है। आपने अंग्रेजी कविता के इतिहास में दरबारी कविता के प्रति रूचि का तिरस्कार किया और परम्परा के महत्वपूर्ण रचनाकारों और युगों का पुनर्मूल्यांकन किया। रोमांटिसिज्म के विरुद्ध अपनी तीव्र प्रतिक्रिया के लिए वे हमेशा याद किये जायेंगं। मिल्टन और उनकी परंपरा की आलोचना करते हुए उन्होंने दांते को, जेकोबियन नाटककारों को, मेटाफिजिकल कवियों को, ड्राइडन और फ्रांसीसी प्रतीकवादियों को साहित्य की वास्तविक 'महान परंपरा' करार देते हुए ऊँचे उठाया। काव्याभिरुचि में परिवर्तन की दृष्टि से उनका यह योगदान उल्लेखनीय माना जाता है। इसमें आश्चर्य नहीं है कि उनके आक्षेपों और वाद-विवादों के केंद्र में रहने के बावजूद बीसवीं शताब्दी के सर्वाधिक महत्वपूर्ण आलोचक और 'कवि समीक्षा' के जनक के रूप में इलियट का स्थान पश्चिमी आलोचना में आज भी सुरक्षित है और भविष्य में भी सुरक्षित रहेगा।

बोध प्रश्न 3 - रिक्त स्थानों की पूर्ति कीजिए-

1) इलियट के अध्ययन विषय..... थे।
2) इलियट की 'द लव साँग ऑफ एल्फर्ड प्रूफाँक .....में प्रकाशित हुई।
3) ब्रिटिश 'ऑर्डर ऑफ मेरिट' (ओ0एम0) की उपाधि इलियट को सन्..... में मिली।
4) इलियट ने व्यक्तिवादी दृष्टिकोण की अपेक्षा..... दृष्टिकोण को महत्व प्रदान किया।
5) क्लासिक का अर्थ इलियट..... मानते हैं।

14.8 सारांश

इस पूरे विवेचन के बाद यह तो स्पष्ट हो जाता है कि बीसवीं शताब्दी में इलियट पाश्चात्य सभ्यता की एक विशिष्ट देन है। इलियट ने सन् 1915 से अपना लेखन कार्य प्रारम्भ किया तथा ह्रासोन्मुख अंग्रेजी साहित्यालोचना को एक नई दिशा प्ररदान की। 20 वीं शती की कविता आन्दोलन को गति और प्रौढ़ता प्रदान करने वाले कवि और आलोचक रहे इलियट अंग्रेजी साहित्य के एक महान आलोचक के रूप में सदैव स्मरणीय रहेंगे।

14.9 शब्दावली

1. ह्रासोन्मुख- गिरती हुई।
2. क्लासिकवाद- परिपक्वता या प्रौढ़ता
3. सम्प्रेषण- दूसरे तक पहुँचाना
4. रोमांटिसिज्म- स्वच्छन्दतावाद

14.10 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर

क. बोध प्रश्न 1 का उत्तर

1. (√)
2. (×)
3. (√)
4. (√)
5. (×)

ख. बोध प्रश्न 3 का उत्तर

1. पौरास्त्य दर्शन और संस्कृत
2. सन् 1915
3. सन् 1948
4. वस्तुवादी
5. परिपक्वता या प्रौढ़ता

14.11 उपयोगी पाठ्य सामग्री

1. पाश्चात्य काव्यशास्त्र, डॉ0 भगीरथ मिश्र-सं0 1999, प्र0 विश्व विद्यालय प्रकाशन, चौक, वाराणसी, 221001
2. पाश्चात्य साहित्य-चिंतन, निर्मला जैन, कुसुम बाँठिया सं0-2000, प्र0 राधाकृष्ण प्रकाशन प्रा0लि0जी 17, जगतपुरी, दिल्ली-110057
3. भारतीय एवं पाश्चात्य काव्य-शास्त्र, डॉ0 देशराज सिंह भाटी, प्र01999, प्र0 अशोक प्रकाशन 2615, नई सड़क, नई दिल्ली-6
4. पाश्चात्य काव्यशास्त्र, डॉ0 विजयपाल सिंह, प्र0सं0-1999, प्र0 जय भारती प्रकाशन, इलाहाबाद
5. पाश्चात्य काव्यशास्त्र, देवेन्द्रनाथ शर्मा, प्र0स0 1984, प्र0 नेशनल पब्लिशिंग हाउस, 23 नयी दिल्ली-110002

14.12 निबंधात्मक प्रश्न

3. इलियट का जीवन एवं साहित्यिक परिचय देते हुए उसके प्रमुख साहित्य सिद्धान्तों का समीक्षात्मक विवरण दीजिए।

4. निर्व्यैक्तिकता से आप क्या समझते है ? सविस्तार विवेचना कीजिए तथा इलियट के प्रमुख साहित्य सिद्धान्तों का परिचय देते हुए साहित्य के परिप्रेक्ष्य में उसके महत्व को प्रतिपादित कीजिए।

इकाई : 15 उत्तर-आधुनिकता आलोचना

इकाई की रूपरेखा

- 15 .0 उद्देश्य
- 15 .1 प्रस्तावना
- 15 .2 उत्तर-आधुनिकता का परिचय
- 15 .3 उत्तर-आधुनिकता
- 15 .4 भारतीय साहित्य में उत्तर-आधुनिकता
- 15 .5 सारांश
- 15 .6 बोध प्रश्नों / अभ्यासों के उत्तर
- 15 -7 सन्दर्भ पुस्तकें

15.0 उद्देश्य

इस इकाई का उद्देश्य विद्यार्थियों को उत्तर आधुनिकता की वैचारिक पृष्ठभूमि, इसके दार्शनिक व सांस्कृतिक आधार और आधुनिकता से इसके मतभेद को स्पष्ट रूप से समझाना है। साथ ही, वे ल्योतार, बौद्रिआ, जेमसन, मलय राय चौधरी, विजेन्द्र और सुधीश पचौरी जैसे विचारकों के माध्यम से उत्तर आधुनिक सोच की प्रमुख अवधारणाएँ पहचान सकें। विद्यार्थी मीडिया, बाजार, उपभोक्तावाद, हाशिये की अस्मिताओं और भाषा विचार के नए संबंधों को भारतीय संदर्भ, विशेषकर हिन्दी साहित्य और समकालीन समाज, के भीतर आलोचनात्मक दृष्टि से देखना सीखें—यही इस इकाई की केन्द्रीय साध्य दिशा है।

15 .1 प्रस्तावना

'उत्तर-आधुनिकतावाद' के लिए अंग्रेजी में 'पोस्टमाडर्निज्म' (Postmodernism) शब्द का प्रयोग होता है। यह शब्द अपनी अवधारणा को लेकर इतना विवादास्पद हो चुका है कि इसके स्वरूप के बारे में निश्चित विचार प्रस्तुत कर पाना कठिन है। यूरोप के विकसित साम्राज्यवादी देशों की नीतियों के प्रवक्ता, बुद्धिजीवी इसका जो अर्थ देते हैं तीसरी दुनिया अथवा उपनिवेश के दंश झेल चुके पिछड़े व विकासशील देशों की जनता के हमदर्द बुद्धिजीवी इसका भिन्न अर्थ करते हैं। एक की निगाह में उत्तर आधुनिकता, आधुनिकता का अगला चरण है तो दूसरे की निगाह में आधुनिकता से मुक्ति। बांग्ला में

भूखीपीढ़ी आंदोलन के प्रवर्तक मलय राय चौधरी के अनुसार इस अवधारणा का जन्म यूरोप या अमेरिका में नहीं, बल्कि तीसरी दुनिया के गरीब देश निकारागुआ में हुआ, जहां के स्पैनिश कवि फेदेरिको दे वेनिस (ओनिस-1934) ने अपने कविता संग्रह 'आंतोलेजिया द ला पोयेजिया एस्पेनोला ए हिमापानोमारिकाना' की भूमिका में सर्वप्रथम 'पोस्टमाडर्न' कविता की व्याख्या की। वे उत्तर-आधुनिकता के ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य की चर्चा करते हुए लिखते हैं कि 1912 में अमरीका ने निकारागुआ में घुसकर फौजी अड्डे की स्थापना की और जनरल अनसतासियो सोमोजा नामक एक खलनायक को गद्दी पर बैठा दिया। सोमोजा के परिवार ने चालीस वर्षों तक शासन किया और निकारागुआ को खोखला बना दिया। सोमोजा के अत्याचार से भाग निकले बहुत सारे कवि व कलाकार लातिन अमरीकी देशों में जा बसे और उनके माध्यम से द वेनिस का पोस्टमाडर्न साहित्य चिंतन फैलता चला गया। उल्लेखनीय है कि सोमोजा शासन का खात्मा करने के लिए जनता ने अगुस्तो सीजर सानदिनों के नेतृत्व में गुरिल्ला युद्ध की शुरुआत की थी। जिस वर्ष गुमनाम हत्यारों ने सानदिनों की हत्या की उसी वर्ष दे वेनिस का कविता संग्रह प्रकाशित हुआ था। मलयराय चौधरी के अनुसार, "विकसित देशों के साहित्य दर्शन से मूलरूप से भिन्न पोस्टमाडर्न नजरिए के दक्षिण अमरीकी कवियों पर प्रभाव को लेकर डडलीफिट्स ने 1942 में प्रकाशित 'एथोलाजी आफ कंटेम्परेरी लैटिन अमेरिकन पोयट्री' में चर्चाएं की। फिर 1947 में पुर्तगाली कविताओं का संकलन प्रकाशित हुआ जिसका नाम था, "फार्मई एक्सप्रेसाओ नो दोमान्स ब्राजीलेइरो दो पिरियदो कालोनियल ए एपोका पोस्टमाडर्निस्ट।" मलयराय चौधरी का आरोप है कि, "जैसा कि साम्राज्यवाद के प्रारंभ से होता आया है, एशिया, अफ्रीका और लातिन अमरीका के देशों से हर सोच, विचार, वस्तु आदि लूटकर या बटोर कर साम्राज्यवादी उनके स्वामी बन बैठते हैं और अपनी बुद्धिजीवी गोष्ठियों व ज्ञान के बाजारों में उस स्वामित्व का सौदा करते हैं। पोस्टमाडर्न शब्द को लेकर भी ऐसा ही हुआ। अमरीकी फौज के बुद्धिजीवी निकारागुआ छोड़ते समय 'पोस्टमाडर्न' शब्द को अपने साथ लेते गए। दक्षिण अमरीका के विश्वविद्यालयों के अध्यापक तथा उनके बीच के आलोचक इस शब्द की अवधारणा हथियाकर यूरोप लेते गए। कोहिनूर के टुकड़े कर अंग्रेजों ने जिस तरह अपने मकसद की पूर्ति की थी, उसी तरह यूरोप के लेखक तथा दार्शनिकों ने पोस्टमाडर्न साहित्यिक चिंतन को तोड़-मरोड़ कर एक अजीब वैचारिक घेरे में ला खड़ा किया।"

15.2 उत्तर आधुनिकता का परिचय

उत्तर आधुनिकता आधुनिकता के बाद उभरी वह वैचारिक सांस्कृतिक प्रवृत्ति है जो एकल सत्य, प्रगति केन्द्रित इतिहास और महान आख्यानों को प्रश्नांकित करती है। यह बहुलता, विखण्डन, स्थानीयता, हाशिये की अस्मिताओं, उपभोक्तावादी संस्कृति और मीडिया प्रभावित यथार्थ को केन्द्रीय मानकर मूल्य सापेक्ष दृष्टि विकसित करती है। मलयराय चौधरी जोर देकर घोषित करते हैं कि 'पोस्टमाडर्निज्म' का अर्थ 'माडर्निज्म' के बाद का दौर नहीं, बल्कि माडर्निज्म से मुक्त अवस्था का दौर होना चाहिए। मलयराय चौधरी ने उत्तरआधुनिकता के लिए 'अधुनांतिक' शब्द का इस्तेमाल किया है। हिंदी के कई प्रगतिशील विचारकों की अवधारणा भी लगभग इसी तरह की है। विजेंद्र का मानना है कि स्थान और काल बदल जाने से शब्दों के अर्थ भी बदल जाते हैं। लातिन अमरीकी देशों में नए अग्रगामी सोच की सरकारों का आना वहां की उत्तर- आधुनिकता है। भारतीय संघर्षशील और लड़ाकू जनशक्ति का गहरा अहसास हमारे लिए उत्तर- आधुनिक सोच की पहली कड़ी है। उसी के बल पर हम पूंजीकेंद्रित व्यवस्था, साम्राज्यवाद, साम्प्रदायिकता और जात-विरादरी का प्रतिरोध कर एक नयी समतावादी तथा न्याय पर टिकी व्यवस्था का स्वप्न देख सकते हैं। उत्तर-आधुनिकता की दूसरी अवधारणा साम्राज्यवादी मुल्कों के प्रवक्ता बुद्धिजीवियों की है। इस खेमे के सिद्धांतकारों में ल्योतार (Jean Francois Lyotard), बौद्रिआ (Jean Baudrillard), और फेडरिक जेमसन (Fredric Jameson) प्रमुख हैं। ल्योतार की पुस्तक 'The Post Modern Condition: A Report on Knowledge (1979) से इसका आरंभ माना जाता है। आज के समय को ल्योतार उत्तर आधुनिक स्थितियां कहता है। ल्योतार का प्रसिद्ध कथन है कि उत्तर-आधुनिकतावाद महावृत्तांत (Grand Narration) के विरुद्ध है। अब महावृत्तांत का अंत हो चुका है। ईसाइयत, मार्क्सवाद और वैज्ञानिक प्रगति का मिथ महावृत्तांत है। ल्योतार के अनुसार मैक्रो और ग्लोबल की जगह माइक्रो और एथनिक विमर्श के केंद्र में आ रहे हैं। छोटे-छोटे अस्मिता समूहों का उदय (नारी विमर्श, दलित विमर्श आदि) वस्तुतः सकलतावादी विश्व व्यवस्था के खिलाफ उत्तर-आधुनिक आवाज का परिणाम है।

15.3 उत्तर-आधुनिकता

मीडिया उत्तर आधुनिकता के केंद्र में है; यह वास्तविकता को प्रत्यक्ष न दिखाकर छवियों, सिमुलेशन और बाज़ार प्रधान विमर्श के रूप में रचता है। बहुराष्ट्रीय पूँजी, विज्ञापन और 24×7 चैनलों के माध्यम से मीडिया खंडित, क्षणिक और प्रदर्शनमुखी यथार्थ गढ़कर उत्तर आधुनिक संवेदना को स्वरूप प्रदान करता है । फ्रेडरिक जेमसन (Fredric Jameson) ने अपनी पुस्तक 'Post Modernism: The Cultural Logic of Late Capitalism' में उत्तर-आधुनिकता को पूंजीवाद के विकास की खास

अवस्था कहा है, इसे वे उपभोक्ता पूंजीवाद या वृद्ध पूंजीवाद (Late Capitalism) भी कहते हैं। अंतरराष्ट्रीय मुद्रा कोष, तीसरी दुनिया की कर्जदारी, माध्यमों के नए ढंग की अंतःनिर्भरता, कम्प्यूटर, उपभोक्ता वस्तुओं का भूमंडलीय चयन आदि इस विश्व बाजार के लक्षण हैं। ल्योतार के अनुसार, "ज्ञान की अवस्था बदल जाती है जब समाज उत्तर-औद्योगिक युग में और संस्कृति उत्तर आधुनिक युग में प्रवेश करती है। यह बदलाव कम से कम 1950 के दशक के अंत से चालू है।" (Status of knowledge is altered as societies enter what is known as the post industrial age and culture enters what is known as post modern age. This transition has been underway since atleast the end of 1950). इस वर्ग के उत्तर-आधुनिकतावादियों के सिद्धांत हमारे सामने एक बिलकुल नए समाज के आगमन की सूचना देते हैं... यह नई सामाजिक व्यवस्था न तो पुराने पूंजीवाद को मानती है न सर्वत्र विद्यमान वर्ग संघर्ष को। इनके अनुसार औद्योगिक क्रांति और ज्ञानोदय के बाद का पूरा विश्व इतिहास बाजार की क्रीड़ा का इतिहास है। भूमंडलीकरण के इस दौर में बाजार ने अपने विरोध में खड़ी शक्तियों को विवशता की स्थिति में ला दिया है। सोवियत संघ का विघटन और चीन की व्यवस्था का उदारीकरण इसका प्रमाण है। आज जो चीज बिक्री के योग्य नहीं है मूल्यहीन है। कला, संस्कृति, खेल, ज्योतिष, भगवान, इतिहास, देशभक्ति, अपराध, फांसी तलाक आदि सब कुछ बिकाऊ है। बाजार ने उपभोक्ता संस्कृति को जन्म दिया है। आज की विश्व अर्थव्यवस्था उपभोग केंद्रित है। बाजार ज्यादा से ज्यादा उपभोग को बढ़ावा दे रहा है जिसका शिकार मध्यवर्ग हो रहां है। बड़ी कम्पनियां रोज नए-नए उत्पाद के रूप में नई इच्छाएं पैदा करती हैं। विज्ञापन को वे अपने सबसे महत्वपूर्ण अस्त्र के रूप में इस्तेमाल करती हैं। तकनीकी क्रांति ने मीडिया को मास मीडिया (Mass Media) में बदल दिया है। मास मीडिया यथार्थ को अतियथार्थ में तब्दील कर रहा है। इसने एक लोकप्रिय संस्कृति को जन्म दिया है। व्यक्ति, दर्शक और उपभोक्ता में परिवर्तन हो रहे हैं। मीडिया बाजार और राजनीति ने आपस में एक गठबंधन कायम कर लिया है। मीडिया द्वारा हत्या, बलात्कार जैसे जघन्य कृत्य भी Story बना कर बेचे जा रहे हैं। ऐसे में उसके पास मूल्यों की परवाह की कोई अनिवार्यता नहीं रह गयी है। इसने विश्रृंखलित व्यवस्था को जन्म दिया है और केंद्रीकृत व्यवस्था को तोड़ दिया है। उत्तर आधुनिकतावाद में विज्ञान की ज्ञगह अनुभव की वापसी है, योजना की जगह बाजार है, धर्म निरपेक्षता की जगह धार्मिक पहचान है, केंद्र की जगह जातिवादी, स्त्रीवादी जैसे उपकेंद्रों की वापसी है। आधुनिकता के जिन विचारों से उत्तर आधुनिकता का झगड़ा है उनमें सर्वप्रमुख तार्किकता, किसी तरह के भेद से ऊपर उठकर व में अनुभव की एकता, महावृत्तांतों की प्रमुखता, व्यक्ति की स्वायत्तता, सकलतावादी दृष्टिकोण, सार्वभौमिक सत्य की कल्पना और भाषा की पारदर्शिता। एक

व्यापक दृष्टिकोण से उत्तर- आधुनिकता के तीन केंद्रीय तत्त्व हैं, पहला समग्रतावादी सार्वभौमिक सत्यों का नकार दूसरा तर्कवाद का नकार और तीसरा आधुनिकतावाद की सक्षमता का नकार। ल्योतार ज्ञान के माध्यम से मानव मुक्ति जैसे आधुनिक वृत्तांतों को पूंजीवाद के विकास, अंतर्विषयी सीमाओं के टूटने और तकनीकी विकास के कारण बिखरते हुए देखते हैं। आज राज्य ही ज्ञान का एकमात्र नियंत्रक रह गया है। ज्ञान नैतिकता और मूल्य का विकास करने वाला न होकर बिक्री योग्य हो गया है। इस प्रकार उत्तर आधुनिकता सार्वभौमिक समग्रतावादी सत्यों पर प्रश्न चिह्न लगाती है। आधुनिकतावादी के लिए वैश्विक मूल्य सत्य एवं स्वयं प्रदर्शित हैं। ल्योतार का मानना है कि यह समग्रतावादी सत्य सामाजिक-सांस्कृतिक- वैचारिक अंतरों को नष्ट करने की कोशिश है। इन विश्वासों में मार्क्सवाद की शोषण मुक्त व्यवस्था, लोकतंत्र का समता स्वतंत्रता-न्याय का आश्वासन, ज्ञान के द्वारा मानव मुक्ति की अवधारणा प्रमुख है। उत्तर-आधुनिकता तार्किकता पर भी प्रश्न चिह्न लगाती है। वह वस्तुतः हमारे आत्मबोध को ही संकट ग्रस्त करती है। अपने विकास तथा शिक्षा के क्रम में हमने जो मूल्य, जो संस्कार पाए थे, वे उत्तर-आधुनिकता के द्वारा सवाल के कटघरे में लाए गए हैं।

उत्तर-आधुनिकता के चिंतन में भाषा की पारदर्शिता के प्रश्न का केंद्रीय स्थान है। बौद्रिआ ने सास्यूर से प्रभाव ग्रहण करते हुए यह बताया कि उत्तर आधुनिकता ने संचार के नए साधनों, सूचना और मीडिया तकनीकी के द्वारा संकेतों को उसके संदर्भ से हटा दिया है। इसका परिणाम है कि वस्तुगत सत्य पर प्रश्न चिह्न लगा दिए गए हैं और प्रतीकात्मक यथार्थ ही हमारे जगत का निर्माण करने लगा है। इस प्रक्रिया में अंततः अर्थ की मृत्यु हो जाती है। उत्तर-आधुनिकता विचारधारा का अंत, आदि अनेक मृत्युओं की घोषणा करती है। विचारधारा के अंत की घोषणा डैनियल बेल (Daniel Bell) ने 1960 ई. में की। विचारधारा ही जीवन में संगति तथा संबद्धता लाने का प्रयास करती थी। विचारधारा के अंत ने विकेंद्रीयता तथा क्षेत्रीयता को प्रोत्साहन दिया है। लोग छोटे-छोटे अस्मिता समूहों में बंट रहे हैं। राष्ट्रवाद जैसे आधुनिकता के महान सिद्धांत झूठे ग्लोबल गांव के सामने कमजोर पड़ते जा रहे हैं। लेखक की मृत्यु, इतिहास का अंत, कला का अंत, आलोचक की मृत्यु, मनुष्य की मृत्यु देरिदा (J. Derrida) ने 'दी एंड ऑफ मैन' में लिखा है कि "मृत्युपर्व का जो क्रम ईश्वर की मृत्यु से शुरू हुआ था उसने अंततः मनुष्य की जान भी ले ली है।" उत्तर- आधुनिकता मनुष्य के केंद्रीय स्थान को नकारती है। चूंकि सामाजिक स्थिति तथा सांस्कृतिक वातावरण रोज बदल रहा है, यथार्थ अतियथार्थ हो रहा है मनुष्य की चेतना भी स्थिर तथा निश्चित नहीं हो सकती। इसी प्रकार रोलां बार्थ (Roland Barthes) ने 'लेखक की मृत्यु' की घोषणा 1968 में अपनी किताब 'The death of author' में की। बार्थ का कहना है कि "किसी पाठ को एक लेखक देना वस्तुतः पाठ के अर्थ की सीमाबंदी है। यह पाठ को एक

अंतिम अर्थ दे देता है। यह इस तरह लेखन का अंत है।" लेखक को केंद्र में रखने से पाठक वही अर्थ ग्रहण करता है जो लेखक संप्रेषित करना चाहता है।

15.4 भारत में उत्तर-आधुनिकता

भारतीय साहित्य में उत्तर आधुनिकता का आरम्भ एक निश्चित वर्ष से नहीं, बल्कि 1970 के दशक के उत्तरार्ध से मानी जाती है। हिन्दी उपन्यास में कई आलोचक कृष्ण बलदेव वैद के 1974 के उपन्यास 'विमल उर्फ जाएँ तो जाएँ कहाँ' में पहली बार उत्तर आधुनिक लक्षणों की स्पष्ट उपस्थिति मानते हैं। भारतीय अंग्रेज़ी साहित्य में सामान्यत: 1980 के बाद, विशेषकर सलमान रुश्दी के 'मिडनाइट्स चिल्ड्रन' (1981) से उत्तर आधुनिक चरण की शुरुआत मानी जाती है। भारत में इस प्रकार की उत्तर-आधुनिकता के सर्वाधिक मुखर प्रवक्ता सुधीश पचौरी हैं। वे देरिदा के बहाने उत्तर-आधुनिकता का विस्तृत विश्लेषण करते हैं और घोषित करते हैं कि "भारतीय समाज उत्तर-आधुनिक स्थितियों में दाखिल हो चुका है। हमारे अनुभव उत्तर आधुनिक बन रहे हैं।" यह अलग बात है कि शोषित- पीड़ित जनता के हमदर्द मलयराय चौधरी और विजेंद्र के अनुभव सुधीश पचौरी के उत्तर आधुनिक अनुभवों से भिन्न है।

विजेंद्र 'समकालीन' शब्द को 'उत्तर- आधुनिक' के समकक्ष रखते हुए राय देते हैं कि, "समकालीन होने के लिए ऐतिहासिक द्वंद्वात्मक भौतिकवाद, वर्गसंघर्ष और सर्वहारा की अजेय भूमिका को मानना पहली शर्त है, क्योंकि इसके बिना हम अपने समय के समाज की विकसित होती गति को नहीं पहचान पायेंगे। पर देरिदा उक्त तीनों बातों का बड़ी चतुराई से निषेध करते दिखते हैं। उनके लिए उक्त चीजें 'भाषा के संगणक' हैं। उनसे बाहर कुछ नहीं। बल्कि हम सभी उसी भाषा में कैद हैं। यह मान भी लिया जाए कि वह धुर दक्षिणपंथी नहीं है। पर उनमें राजनीतिक भटकाव तो बहुत है। यही वजह है कि हिंदी में प्रतिक्रियावादी-रूपवादी या पथभ्रष्ट मार्क्सवादी ही उन्हें पसंद करते हैं। वे देरिदा को मार्क्स का विकल्प बनाकर खड़ा करने की विफल कोशिश करते नजर आते हैं। विजेंद्र के शब्दों में "हिंदी में देरिदा के दर्शन की भद्दी पैरोडी देखना हो तो हम सुधीश पचौरी के 'विखंडनवादी और पुनर्पाठ' वाले लेखन को देख सकते हैं। ये वही लोग हैं जो देरिदा का बड़ी चालाकी से इस्तेमाल कर हमारी मार्क्सबादी समझ के एक भिन्न और विकृत समझ से विस्थापित करने की कोशिश करते हैं। विजेंद्र सवाल करते हैं कि "यह क्या जरूरी है कि जो अर्थ उत्तर-आधुनिकता का जिस तरह यूरोप और अमरीका के लोग करते हैं, ठीक उसी तरह हम भी उनका अर्थ वैसा ही करें ? वैसा ही सोचें? लेकिन इन सारी विवेचनाओं के बाद यह सवाल भी उभर कर आता है कि हम क्या सचमुच ऐसी परिस्थिति, ऐसे समय में पहुंच गए

हैं कि अब हमारे सामने कोई जवाब नहीं सिर्फ सवाल ही सवाल है।" डॉ. मैनेजर पांडेय कहते हैं कि "जिस देश की जनता का एक बड़ा हिस्सा अभी आदिम स्थितियों में जी रहा हो, दूसरा बड़ा हिस्सा मध्ययुगीनता से निकलकर आधुनिक बनने के लिए संघर्ष कर रहा हो, उस देश में उत्तर-आधुनिकतावाद मुट्ठी भर लोगों के लिए एक नया बौद्धिक फैशन भले ही हो; लेकिन व्यापक समाज के लिए वह व्यर्थ ही होगा।" बहरहाल, इस वर्ग के उत्तर- आधुनिकतावादियों ने हिंदी में मनोहर श्याम जोशी को उत्तर-आधुनिक उपन्यासकार घोषित कर दिया है। इस उत्तर-आधुनिक उपभोक्तावाद के संदर्भ में उदय प्रकाश की एक लघु कथा विचारणीय है-दीपावली की रात को कुछ लड़कों ने एक कुत्ते की पूंछ में पटाखों की एक लड़ी बांध दी और उसके एक छोर में आग लगा दी। कुत्ता भौंका, चिल्लाया, दौड़ा और अंततः गिर पड़ा। विनायक दत्तात्रेय, जो उस समय वहां उपस्थित थे, ने उसकी ओर हड्डी के टुकड़े फेंके। कुत्ता हड्डियां चबाता रहा और छूटते पटाखों के भय से चीखता भी रहा। विनायक इस अनोखे दृश्य पर हँसे। जब लोगों ने उनसे हँसी का कारण पूछा तो वे बोले, "देखो इस कुत्ते को। यह बिलकुल तीसरी दुनिया का उपभोक्तावादी मनुष्य लग रहा है। उत्तर- आधुनिक उपभोक्तावाद का दुर्दात दृष्टांत ।" हिन्दी के उत्तर आधुनिक लेखकों में निर्मल वर्मा (उपन्यास – 'आज का प्रश्न', 'एक चिथड़ा सुख'), कृष्ण बलदेव वैद ('उषा', 'दूसरी कहानी'), विनोद कुमार शुक्ल ('दीवार में एक खिड़की रहती थी'), मनोहर श्याम जोशी ('कुरु कुरु स्वाहा'), स्वयं प्रकाश और दलित विमर्श के तहत ओमप्रकाश वाल्मीकि ('जूठन') जैसे रचनाकारों की कृतियाँ विखंडित शिल्प, बहुस्तरीय भाषा, अंतपाठीयता, व्यंग्य और हाशिये की अस्मिताओं पर केन्द्रीकरण के कारण उत्तर आधुनिक प्रवृत्तियों की प्रतिनिधि मानी जाती हैं।

15.5 सारांश

उत्तर आधुनिकता वह वैचारिक सांस्कृतिक स्थिति है जिसमें आधुनिकता के समग्रतावादी सत्यों, प्रगति केन्द्रित इतिहास दृष्टि और महावृत्तांतों पर गहरा प्रश्न चिन्ह लगाया जाता है। इसमें बहुलता, विखंडन, स्थानीयता, हाशिये की अस्मिताएँ, अनुभव और भाषा की अनिश्चितता को विशेष महत्व दिया जाता है। पश्चिम में ल्योतार, बौद्रिआ, जेमसन तथा भारत/लातिन अमेरिका में मलय राय चौधरी, विजेन्द्र, सुधीश पचौरी आदि ने इसके विभिन्न रूपों की व्याख्या की है। हिन्दी साहित्य में उत्तर आधुनिक प्रवृत्तियाँ विशेष रूप से 1970 के उत्तरार्ध के बाद दिखाई देती हैं, जहाँ कथा साहित्य में बाजार, मीडिया, उपभोक्तावाद और हाशिये के जीवनानुभवों को नए शिल्प एवं संरचनाओं में प्रस्तुत किया गया।

15.6 बोध प्रश्न / अभ्यास

बहुविकल्पी प्रश्न

1. 'उत्तर आधुनिकतावाद' के लिए प्रायः कौन सा अंग्रेजी शब्द प्रयुक्त होता है?

(क) मॉडर्निज़्म

(ख) पोस्टमॉडर्निज़्म

(ग) रियलिज़्म

(घ) क्लासिसिज़्म

2. ल्योतार के अनुसार उत्तर आधुनिकता मुख्यतः किसके विरुद्ध है?

(क) महावृत्तांतों के

(ख) विज्ञान के

(ग) संस्कृति के

(घ) लोकतंत्र के

3. फ्रेडरिक जेमसन ने उत्तर आधुनिकता को किस से विशेष रूप से जोड़ा है?

(क) सामंतवाद

(ख) प्रारंभिक पूंजीवाद

(ग) देर या वृद्ध पूंजीवाद

(घ) समाजवाद

4. मलय राय चौधरी के अनुसार 'पोस्टमॉडर्निज़्म' का अर्थ क्या होना चाहिए?

(क) मॉडर्निज़्म का पूर्व चरण

(ख) मॉडर्निज़्म के बाद का युग मात्र

(ग) मॉडर्निज़्म से मुक्त अवस्था का दौर

(घ) परम्परा की पुनरावृत्ति

5. हिन्दी में उत्तर आधुनिक उपन्यास चर्चा के संदर्भ में किस आलोचक का नाम विशेष रूप से लिया जाता है?

(क) रामविलास शर्मा

(ख) नामवर सिंह

(ग) सुधीश पचौरी

(घ) नगेन्द्र

उत्तर

1. (ख) पोस्टमॉडर्निज़्म
2. (क) महावृत्तांतों के
3. (ग) देर या वृद्ध पूंजीवाद
4. (ग) मॉडर्निज़्म से मुक्त अवस्था का दौर
5. (ग) सुधीश पचौरी

निबंधात्मक प्रश्न

1- उत्तर आधुनिकता की अवधारणा को मलय राय चौधरी, विजेन्द्र तथा पश्चिमी विचारकों (ल्योतार, बौद्रिआ, फ्रेडरिक जेमसन) के संदर्भ में स्पष्ट कीजिए।

2- मीडिया, बाजार और उपभोक्तावाद के संदर्भ में उत्तर आधुनिकता के सिद्धांतों की व्याख्या कीजिए।

सन्दर्भ पुस्तकें –

1- हिंदी आलोचना की पारिभाषिक शब्दावली- अमर नाथ

2- भारतीय आलोचना के बीज शब्द -बच्चन सिंह

3- आलोचना के आगे – सुधीश पचौरी

4- संरचनावाद उत्तर-संरचनावाद – डॉ. गोपीचंद नारंग